

GOVERNMENT OF INDIA
DEPARTMENT OF ARCHAEOLOGY
CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY

CLASS 7601

CALL. No. 320.10934 Pan

D.G.A. 79.





जनतंत्रवाद

(रामायण और महाभारत कालीन)

“रामायण एवं महाभारताभ्यां वर्णित हिन्दू राज्यों में प्रजातंत्रवाद के तत्त्व” शीर्षक विषय ।

जिसे लखनऊ विश्वविद्यालय ने राजनीति विभाग की ओर से स्वीकृत करके लेखक को पी-एच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया ।

लेखक

डा० श्यामलाल पाण्डेय

एम. ए., पी-एच. डी.

320.10934

Pan

760

प्रकाशक

अवध पब्लिशिंग हाउस

लखनऊ

प्रकाशक
अवध पब्लिशिंग हाउस
पानवरीबा, लखनऊ

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY NEW DELHI.

Acc. No. 760/
Date 1.9.56
Call 320 ... 10.9.39/.....

Pan

212

11.4.1951

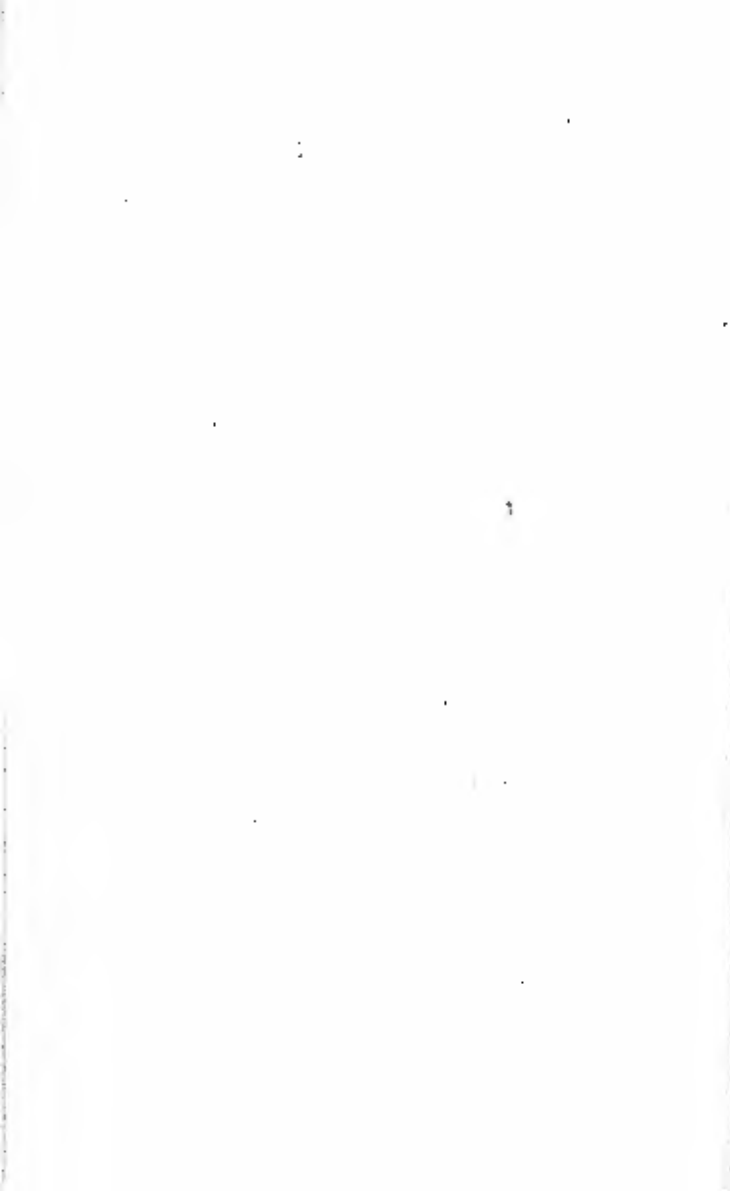
3214/Pan.

प्रकाशक
नव ज्योति प्रेस
पानवरीबा, लखनऊ

नवजात भारतीय जनतंत्र की स्मृति में

पुत्रा इव पितुर्गोहे निवसे यस्य मामवाः ।
निभवा विशिष्यन्ति स राजा राजसूयः ॥

—भीष्म



निवेदन

लेखक ने इस ग्रन्थ को गणपेक्षापूर्वक लिखने में तुलानात्मक और विवेचनात्मक शैली को अपनाया है। उसका यह विश्वास है कि इस ग्रन्थ में जिन सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है उनमें इसी शैली का आश्रय लिया गया है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने रामायण और महाभारतान्तर्गत बणित हिन्दू राज्यों में जनसंख्या के तत्वों की जाँच की और धनी तक अत्यन्त आन प्रवास किया है। इस पुष्टि से यह अर्थ जिसमें कि तुलनात्मक और विवेचनात्मक अध्ययन के द्वारा इन तत्वों का निरूपण कर उन्हें निर्धारित किया गया है मौलिक समझा जायगा।

इस ग्रंथ में प्रथम अध्याय में राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में राजा की बंबी उत्पत्ति और समाज अनुसन्धनाइ इन दो सिद्धान्तों के वास्तविक रूप बता कि रामायण और महाभारतान्तर्गत प्राप्त हो सके, दिखे गये हैं। राजा की बंबी उत्पत्ति का सिद्धान्त रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थों में समान रूप से पाया जाता है। परन्तु समाज अनुसन्धनाइ केवल महाभारत में ही प्राप्त है। इन दोनों सिद्धान्तों की तुलना पाश्चात्य देशों के उन्हीं नामों में दोनों राकनीतिक सिद्धान्तों से की गई है। ऐसा करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि यह दोनों

सिद्धान्त पश्चिमी देश के अपने ही नाम ॥ सिद्धान्तों से नितान्त भिन्न हैं। रामायण और महाभारत में प्रतिपादित राजा की ईर्षी उत्पत्ति का सिद्धान्त जनतन्त्रवाद का विरोधी नहीं है, वरन् वह उसका पोषक है। राजा केवल इस दृष्टि से नरदेव समझा गया है कि उसमें भगवान् की विभूति का विद्यमान है और जिन विभूतियों की प्राप्ति सर्वसामारण के लिए सुसम्भव है उनको उसने उग्र तपस्या, आत्मसंयम आदि के द्वारा प्राप्त किया है। उसका शासन सर्वसामारण के लिए आदर्श है। हिन्दू राजा इंग्लैंड के राजा जेम्स प्रथम प्रथम क्रान्ति के राजा लुई पंद्रहवीं की भाँति निरंकुश एवं उत्तरदायित्व रहित कदापि नहीं है। उसका उत्तरदायित्व महान् है और वह राज्य के नियमों पर निर्भर है। राजपद पर उसकी नियुक्ति कुछ निर्धारित नियमों एवं प्रतिबन्धों के साथ होती है। वह केवल भगवान् का ही उत्तरदायी नहीं है। इस प्रकार हिन्दू राजा के अधिकार निर्धारित और सीमित कर दिये जाते हैं।

समाज अनुबन्धवाद ॥ सम्बन्ध में यह वर्णन किया गया है कि महाभारत में हाव्स और कसो दोनों महोब्यों के विचार कितनी अंत तक पाये जाते हैं। परन्तु यहाँ भी वही बात लागू होती है। दोनों देशों के इन सिद्धान्तों में यदि कहीं भी समानता है तो वह मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन के वर्णन करने में प्राप्त होती है। कसो राज्य और सरकार की उत्पत्ति जनमत ॥ आचार पर करता है परन्तु भारतीय सिद्धान्त में राजा की उत्पत्ति बहुत ही दूर जाकर निम्नों की जनता से प्राप्त करने के लिए की गई है। इस दृष्टि से राजा प्रजा के द्वारा नियुक्त तो होता है परन्तु उसे सौभाग्य भी उस विधिसंग्रह के विरुद्ध आचरण करने का अधिकार नहीं है। इस भाँति से इन दोनों सिद्धान्तों में बड़ा अन्तर है। इसी भाँति हाव्स और महाभारत के समाज अनुबन्धवाद का सिद्धान्त भी उससे समानता नहीं रखता। उसमें प्रजा द्वारा सभा में एक बार राजसत्ता निहित कर देने से पुनः लौटाई नहीं जा सकती और प्रजा को अपने राजा के विरोध में अनुचित साधन के कारण राजद्रोह करने का वेम अधिकार नहीं दिया गया है, वरन् हिन्दू समाज अनुबन्धवाद में राजा से राजसत्ता इस आचार पर छोड़ी जा सकती है कि वह निर्धारित नियमों के

अनुसार शासन न करता हो। ऐसी स्थिति में जब राजा विधि संग्रह ग्रन्थ या राजधर्म का उत्सर्जन करता हुआ पाया जायगा प्रजा को उसे पबन्धुत करने में राजविरोध करने और यहाँ तक उसे प्राप्तबन्ध देने तक की सम्मत्ता भी गई है। अतः यह सिद्धान्त भी जनतन्त्रवाद का पौष्टक है।

इस प्रकार, प्रथम अध्याय में राजा की ईशो उत्पत्ति और समाज अनुबन्धवाद के दो सिद्धान्तों का तुलनात्मक एवं विवेचनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त विवरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि यह दोनों सिद्धान्त जनतन्त्रवाद की पुष्टि करते हैं।

दूसरे अध्याय में यह विद्ध किया गया है कि राजा की नियुक्ति करने में न तो प्रजा सम्मानी कर सकती थी और न राजा ही। उन समस्त नियमों एवं प्रतिबन्धों को सोज कर एकत्र किया गया है जिनके अनुसार उस युग में राजा की नियुक्ति की जाती थी। अतः राजा की नियुक्ति के लिए इन नियमों का पालन करना पड़ता था—और जहाँ में अधि, वैतृक अधिकार, ज्येष्ठता का अधिकार, आरौरिक क्षमता का अधिकार, आरिद्धिक अधिकार, प्रजा की अनुमति का अधिकार आगामिवेक का अधिकार और राजकीय अपथ का अधिकार। इसमें सम्येह नहीं कि कतिपय राजनीति-विचारकों ने इनमें से कुछ सिद्धान्तों का वर्णन अपनी पुस्तकों में किया है, परन्तु इन समस्त नियमों का विवरण एक स्थल पर नहीं दिया। लेखक ने इस बात को सिद्ध किया है कि राजा की नियुक्ति का निर्णय इन्हीं नियमों के आधार पर होता था, इसलिए रामायण और महाभारत कास का राजा नितास्त निरंकुश एवं स्वेच्छाकारी नहीं गिना जा सकता। उसकी नियुक्ति नियमनुसार होने के कारण यह सिद्धान्त जनतन्त्रवाद के अन्तर्गत गिना जायगा।

तीसरा अध्याय मंत्रिपरिषद् के सम्बन्ध में है। मंत्रियों की नियुक्ति करने का अधिकार राजा को था। परन्तु उसका यह अधिकार सीमित था। लेखक ने दोनों ग्रंथों से उन नियमों एवं प्रतिबन्धों को सोज निकाला है, जिनके आधार पर राजा को अपने मंत्रियों की नियुक्ति करने का अधिकार था। इन नियमों और प्रतिबन्धों को निर्धारित करने के

लिए लोक ने सैद्धान्तिक एवं प्रचलन सम्बन्धी दोनों प्रकार के प्रमाणों के आधार पर उन्हें स्थिर किया है। यह प्रतिबन्ध वैतुक अधिकार, आर्थिक अधिकार, राज्य में निवास का अधिकार, प्रजा के विपक्ष का अधिकार और धर्म का अधिकार हैं।

इन नियमों का अन्तर्धान करके संविदों की नियुक्ति नहीं की जा सकती थी। संविपरिवर्त का संगठन एवं उसकी समतन्त्र-प्रणाली पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और धन्य है यह दिखाया गया है कि राजा के लिए संविपरिवर्त समिधायें थी, जिसकी मंत्रणा के लिए राजा बाध्य था। संविपरिवर्त ■ प्रतिरिक्त ग्राह्य परिवर्त होती थी। यह भी राजा और संविदों को नियन्त्रण में रखने, सम्मति देने और उन्हें हर्षार्थ पर लवाने का कार्य करती थी।

अतः प्रमाण में सभा का अस्तित्व है। रामायण और महाभारत कालीन सभा में जनसमूह के अन्तर्गत हैं और इसका असर भीति निक-पट्ट किया गया है। सभासदन विधान होता था, जिसमें सभासदों के बैठने का प्रवन्ध रहता था और उसमें अनुशासन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सभा की सत्त्वता प्रजा के विभिन्न वर्ग एवं हितों के प्रतिनिधित्व पर निर्भर थी। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति सभासद नहीं हो सकता था। सभासद बनने के लिए कुछ विशेष योग्यताओं को प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती थी। धार्मिक कार्य-प्रणाली के आधार पर कार्य-संवादन होता था। इन सिद्धान्तों की पुष्टि पर्याप्त प्रमाणों के द्वारा लोक ने की है जिसमें उसने इस बात को सिद्ध किया है कि उस युग में प्रस्ताव के रूप में विचार रखे जाते थे। प्रस्ताव का अनु-मोदन होता था और सभा में प्रत्येक सदस्य को अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाती थी। निर्णय बहुमत से होता था।

लोक ने इस नये सिद्धांत की भी खोज की है कि सभासदन छोड़कर बाहर चले जाने (Walk out) की प्रथा का भी प्रचलन था।

लोक ने एक और महत्वपूर्ण सिद्धान्त की खोज की है और वह है कि उस युग में आय-व्यय-लेखा (Budget System)

की प्रजा प्रचलित थी और उसे उसने लोपा मुक्त और समस्त शक्ति के आरक्षण में आधार पर सिद्ध किया है।

लेखक को यह धारणा है कि यह सभा परामुक्त जनतात्मक धारा-समाजों से दूसरे कार्यों की दृष्टि से भिन्न थी। विधि निर्माण करना तथा कार्यकारिणी की नियुक्ति करना इसके अधिकार में बाहर था। यह सभा शासन सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद करती थी और इस बातें राजा, मंत्रिपरिषद् के सदस्यों, सभा के सदस्यों और राज्य के अन्य अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखती थी। इसमें एक विशेषता यह थी कि यह न्याय करती थी, परन्तु ऐसे प्रचलन पर समस्त समस्त सभा में न बैठते थे।

पंचम अध्याय विधि की प्रभावता के सम्बन्ध में है। लेखक ने इस बात को सिद्ध किया है कि समाज और राज्य दो भिन्न संस्थाएँ थीं। उन साम्राज्य के बीच का तीन चौथाई भाग समाज के नियमों से संचालित होता था, क्योंकि बहुसंख्य वर्ग के अनुसार बहुचर्चा, दानवस्य और संस्थाएँ इन तीन आधारों का राजा से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था।

लेखक ने विधि निर्माण के साधनों की खोज करके उनका अनु-संधान कर वर्गीकरण किया है। वेदो साधन, लोकसम्मति का साधन, शक्ति द्वारा विधि निर्माण साधन, धर्म पुद्गलों के अनुसरण का साधन, कुलधर्म, जातिधर्म, गण या क्षेत्रीयधर्म, वेदाधर्म और श्रावधर्म के अन्तर्गत यह है। रामायण और महाभारत से प्रमाणपूर्वक विधि के इन साधनों की खोज करना और उनका वर्गीकरण करना लेखक की निजी खोज है।

पंच के छठे अध्याय में जनमत के विषय में उल्लेख है। लेखक ने रामायण और महाभारत की यह समस्त सरमयी एकत्र की है, जो इस बात की पुष्टि करती है कि उस युग में सबल जनमत का निर्माण हो चुका था, जो इतना सबल था कि उसकी प्रव-हेलना करना राजा और प्रजा दोनों की शक्ति से परे था। इसमें संदेह नहीं कि कतिपय धर्म विद्वानों ने इस बात का उत्प्रेषण किया है कि रामायण और महाभारत काल में जनमत था परन्तु उन्होंने इस और

केवल संकेत मात्र ही किये हैं। लेखक ने उस समस्त सामग्री का घन-संघान कर उसे एकत्र किया है और उसके आधार पर इस सिद्धान्त को स्थिर करके यह सिद्ध किया है कि उस युग में जनमत ने जनतन्त्रवाद में स्थापना और उसके विकास में बड़ा सहयोग दिया था।

सत्रवें अध्याय में यह ब्रिक्तसाया गया है कि प्राचीन कास में संस्थामय जीवन था। अनुष्य का जीवन, कुटुम्ब, ग्राम, नैगम, गण, संघ, और जगपद आदि स्थानीय संस्थाओं के आधार पर क्रिस्तित हो रहा था, ये संस्थाएँ स्वतन्त्र रूप से कार्य करती थीं। इनके संगठन और इनकी कार्यप्रणाली, जनतन्त्रवाद के सिद्धान्तों से प्रोत-प्रोत थी। लेखक ने और की रायधामों की संस्था माना है। शुक्लोति ॥ एक श्लोक को लेकर उसने दोरलेख ॥ आधार पर यह सिद्ध किया है कि और एक संस्था थी। लेखक की यह धारणा है कि और एक संस्था ब्रह्मण रही होगी ब्रह्मण राजा के लेख, मंत्री ॥ लेख और और के लेख की बिकाने की शूक को क्या प्राथम्यकता थी ?

आठवें अध्याय में लेखक ने गणतन्त्रात्मक राज्यों का उत्पत्ति किया है। उसमें महाभारत के सप्तपर्व में वर्णित गण राज्यों और सान्ति पर्व में भीष्म द्वारा गण सम्बन्धी उवाच्यमान एवं ब्रह्मण-बुध्ति संघ के सम्बन्ध में नारद-कण्व के सम्बाध के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उस युग में उत्तरी और पश्चिमी भारत में बहुत से छोटे-छोटे गण राज्य थे जो धामुनिक जनतन्त्रात्मक राज्य (Republic) के पूर्व रूप थे, जिनमें जनतन्त्रवाद के लगभग समस्त लक्षण पाये जाते थे। इन गण राज्यों को लेखक ने उपजातीय (Tribial) और अधीपलेत्रिय (Territorial) जनतन्त्रात्मक राज्यों में विभक्त किया है। इसके अतिरिक्त उसने यह भी सिद्ध किया है कि उस युग में गणतन्त्रात्मक नगर राज्य भी थे। लेखक ने सप्तदशगण, दशमंडल, ब्रह्मण-बुध्ति संघ प्रावि के आधार पर यह स्थिर किया है कि उस युग में संघ प्रथा (Confederation) भी थी।

नवें अध्याय में हिन्दू राजनोति का स्वरूप, विशेषकर रामायण और महाभारत कालीन, विशेषणरमक और तुलनात्मक ढीली के आधार पर स्थिर किया गया है और अन्तिम अध्याय इसमें अध्याय में रामायण

एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में जनतन्त्रवाद के तत्त्वों का स्वल्प विद्या गया है। लेखक ने रामायण और महाभारत से समस्त सामग्री का विवेचनात्मक और सुसजात्मक अध्ययन किया। उससे उपरान्त उसमें से जनतन्त्रवाद के तत्त्वों की खोज की, उसका अनुसंधान और वर्गीकरण किया। इन तत्त्वों को मुख्य चार भागों में विभाजित किया जो वेप (Legal) वैधानिक (Constitutional) संस्था (Institutional) और शासन सम्बन्धी (Administrative) चार तत्त्वों के नाम से सम्बोधित किये गये हैं। जनतन्त्रवाद के वेप तत्त्वों के अन्तर्गत सार्वजनिक राजस्वता, राजकीय तत्त्व का जनतन्त्रात्मक स्वरूप, पृथक् सक्तिकरण (Separation of Power) की प्रथा, सर्वोच्च श्रेष्ठता और विधि की प्रधानता के अंतर्गत घटते हैं। जनतन्त्रवाद के वैधानिक तत्त्वों में निर्धारित योग्यताओं तथा प्रसिद्धियों के आधार पर राज्य के प्रत्येक अधिकारी तथा कर्मचारी की नियुक्ति एवं विनियुक्ति, राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर प्रजा द्वारा नियन्त्रण, निर्वाचन प्रथा और जनमत का समावेश किया गया है। जनतन्त्रवाद के संस्था सम्बन्धी तत्त्वों में राजगुरु, मंत्रिपरिषद्, सभा, राष्ट्रपतिपरिषद् और स्थानीय संस्थाओं को परिगणित किया गया है। विभाग प्रथा, शासन क्षेत्र में प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली और शासन सम्बन्धी संस्थाओं को भंग करने का विशेष प्रजातन्त्रात्मक शासन सम्बन्धी तत्त्व रामायण और महाभारत से अभिकृत निकाले गये हैं।

लेखक ने इस ग्रंथ में शास्त्रीकीय रामायण से जिन श्लोकों का प्रमाण रूप में उद्धरण किया है वे श्लोक भी चन्द्रशेखर दासजी द्वारा संपादित एवं सस्ती साहित्य पुस्तक माला, बनारस, द्वारा प्रकाशित की गई पुस्तक से लिये गये हैं। महाभारत में से जिन श्लोकों को उद्धृत किया गया है वह प्राणिपर्व से लेकर शान्तिपर्व के अन्तर्गते भगवद् गीता महाभारत प्रकाशन संघ द्वारा प्रकाशित महाभारत ग्रंथ से और उसके उपरान्त पुना में मुद्रित की गई श्री मोलचंद मजुबे की टीका सहित जो महाभारत प्राप्त है उससे लिये गये हैं।

लेखक गुरुवर डा० ब्रजमोहन तर्मा एम० ए०, पी०एच० डी०, डी० लिट्, रीडर राजनीति विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय का वरम प्राध्यापक हैं, जिनके सतत प्रोत्साहन एवं आशीर्वाद के फलस्वरूप यह

ग्रंथ हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न कर सका। ग्रंथ में प्रकृत सम्पादकी को प्रशंसित किया गया है, उनके लिए लेखक पाठकों से क्षमा-याचना करता है। इस ग्रंथ के सम्पादन में पाठकों द्वारा दिये हुए उचित परामर्शों का स्वागत किया जायगा।

लेखक ग्रंथ के प्रकाशक अथवा पब्लिशिंग हाउस के सम्पादन श्रीभूमिभाषा भाषण के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है कि उन्होंने अत्यन्त समय में अपने व्यय भावदयक कार्यों को रोककर, ग्रंथ सम्पादकी सुविधाएँ प्रदान करने उचित समय पर इस ग्रंथ का प्रकाशन किया।

अन्त में लेखक श्री रामसहाय पाण्डेय "जन्म" की सम्पादन एवं प्रकृत-संशोधन में सहायता पहुँचाने के लिए कृतज्ञता देता है। उन सभी सहयोगी सज्जनों को भी लेखक कृतज्ञता देता है जिन्होंने ग्रंथ के संबंध में किसी प्रकार की सहायता प्रदान की है।

राखनऊ
गुरु-पूर्णिमा
सं० २००७ वि०

श्यामलाल पाण्डेय

विषय सूची

अध्याय १

राजा की उत्पत्ति

विषय	पृष्ठ
राजा की देवी उत्पत्ति	१
राजा का महत्व एवं उसकी आवश्यकता	१०
राजा की देवी उत्पत्ति के भारतीय तथा पारंपार्य निदरान्तों की तुलना	१४
समाज अनुबन्धवाद	१७

अध्याय २

राजा की उत्पत्ति के सिद्धांत

वीर वंश में जन्म	३३
जन्माधिकार	३४
उपेक्षता का अधिकार	३६
सांख्यिक समता का अधिकार	४२
नारी का राजपद का अधिकार	४३
प्राथम्य भावरण का अधिकार	४६
राजा की नियुक्ति की प्रजा द्वारा स्वीकृति	४६
राज्याभिषेक का अधिकार	४८
राजकीय शपथ का अधिकार	७२

अध्याय ३

मंत्रिपरिषद्

विषय	पृष्ठ
रामायण तथा महाभारत और निरंकुश शासन	७४
हिन्दू सप्ताहिक राज्य	७७
मंत्रिपरिषद् और उसका निर्वाह	७८
(क) वैयक्त अधिकार	७८
(ख) पारितोषिक अधिकार	८०
(ग) राज्य में निवास का अधिकार	८१
(घ) भ्रष्टा के विस्वास का अधिकार	८५
(ङ) धन्य का अधिकार	८६
मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या	८६
मंत्रिपरिषद् की घनतरंग समिति	८२
मंत्रियों की परम घनतरंग समिति	८३
भ्रष्टा गुप्त रखने तथा कार्य कृतसत्ता का अर्थ	८५
कार्यप्रणाली	८६
बाह्य परिषद्	१००

अध्याय ४

सभा

रामायण और महाभारत में सभा शब्द का प्रयोग	१०४
सभा में बैठने का प्रणय	१०७
सभा की वेक-रेल	१०८
सभा में अनुशासन	१०९
सभा का प्रणय	११०
सभा का संगठन	११२
सभा के सामारण नियम	११२
सभा में वक्तव्य का अर्थ	१२२
सभा के कार्य	१२२

अध्याय ५

विधि की प्रचानता

विषय		पृष्ठ
राज्य और समाज	...	१३६
वर्णाश्रम धर्म का प्रभाव	...	१४१
राजाधिराज और महामारत काल में विधि निर्माण के साधन		१४३
(क) देवी साधन	...	१४३
(ख) विधि निर्माण का भोक्त सम्मति का साधन	...	१४७
(ग) ऋषि द्वारा विधि निर्माण	...	१४९
(घ) प्राप्त पुरुषों का अनुसरण	...	१५४
(ङ) कुलधर्म या कुलविधि	...	१५७
(च) जातिधर्म	...	१५९
(छ) वेशधर्म	...	१६७
(ज) खेती वा गणधर्म	...	१७१
(झ) नापद्धर्म	...	१७१
(ढ) राज्य द्वारा विधि निर्माण	...	१७३

अध्याय ६

जन-मत

जनमत	...	१७६
ऋषि-मुनिधर्मों का प्रभाव	...	२०२

अध्याय ७

स्थानीय संस्थाएँ

प्राचीन भारत में संस्थायम जीवन	...	२०७
कुटुम्ब	...	२०८
ग्राम	...	२०९
नियम	...	२१२

विषय	पृष्ठ
श्रेणी	२१६
गण	२१८
संघ	२२०
बीर जातपत्र	२२९

अध्याय ८

गणतन्त्रात्मक राज्य

गण	२२०
राज्यमण्डल में गणतन्त्रात्मक राज्य	२२२
महाभारत में गणतन्त्रात्मक राज्य	२२६
(क) सात वस्तु गणराज्य	२३३
(ख) कश्मीर	२३३
(ग) नव गणतन्त्रात्मक राज्य	२३३
(घ) विगर्त, धार्म और कीकम	२३४
(ङ) नगर गणतन्त्रात्मक राज्य	२३५
(च) लुह, चोन काह्नीक, काम्बोज, परवकाभोज, परव	२३५
शुद्ध गणतन्त्रात्मक राज्य	२३५
नकुल के द्वारा पराजित गणतन्त्रात्मक राज्य	२३७
कल के द्वारा पराजित किए गए गणतन्त्रात्मक राज्य	२३८
मंग, मणक, मानस तथा मर्षग गणतन्त्रात्मक राज्य	२३८
मैत्रक, बुधिया, माधन, भोज और कुकुर गणतन्त्रात्मक राज्य	२४०
अन्य ग्रंथों में महाभारत के गणतन्त्रात्मक राज्य	२४१
महाभारत काल के गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र राज्यों की कार्यक्षमता	२४१
(क) गणतन्त्रात्मक राज्य की कार्यक्षमता	२४२
(ख) सभा	२४६
(ग) सभा में विचार प्रकाशन की स्वतन्त्रता	२४६
(घ) भ्रमत्व	२४०
महाभारत काल के गणतन्त्रात्मक राज्यों के भेद	२४६

विषय	पृष्ठ
(अ) उपजातीय गणतन्त्रात्मक राज्य	२५१
(ब) अधीनस्थीय गणतन्त्रात्मक राज्य	२५४
गणतन्त्रात्मक राज्यों के संघ	२५५

अध्याय ९

हिन्दू राजनीति का स्वरूप

हिन्दू राज्य का स्वरूप	२६३
भारतीय राजनीति और मानव तरीक-रचना	२६०
धर्म और सदाचार का प्रभाव	२६५
हिन्दू राज्य में राजा का समस्त स्वाम	२६५
राज्याभिषेक	२६६
राजकीय सपथ	२७०
ब्राह्मणों की स्वतन्त्रता	२७०
कार्यकारिणी	२७२
रामायण तथा महाभारतकालीन विधि-निर्वाह-व्यवस्था	२७५
रामायण और महाभारतकालीन व्याप-व्यवस्था	२७६
प्रथम शक्तिकरण	२७७
विकेन्द्रीकरण	२८२
रामायण और महाभारतकालीन गणतन्त्रात्मक राज्य	२८४
रामायण और महाभारतकालीन गणतन्त्रात्मक राज्य	२८६

अध्याय १०

रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में जनतन्त्रवाद के तत्वों का स्वरूप

जनतन्त्रवाद के वैधत्व	२८८
(क) सार्वजनिक राजस्वता	२८८
(ख) राजकीय सपथ का जनतन्त्रात्मक स्वरूप	२९०
(ग) प्रथम शक्तिकरण	२९१

विषय	पृष्ठ
(स) सर्वोच्च स्थितिस्था ...	२६३
(ङ) विधि की प्रधानता ...	२६४
अनर्तनवाद के वैधानिक स्तर ...	२६५
(क) निर्धारित योग्यताओं एवं प्रतिबन्धों के कारण पर राज्य में अधिकारियों वा कर्मचारियों की नियुक्ति तथा विनियुक्ति ...	२६६
(ख) सामान्य और महानगरकाजीन राजा की नियुक्ति में प्रजा की अनुमति ...	२६७
(ग) राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर प्रजा द्वारा नियंत्रण ...	२६८
(घ) निर्वाचन ...	२६९
(ङ) जनमत ...	३००
अनर्तनवाद के संस्था सम्बन्धी स्तर ...	३०१
(क) राजगृह ...	३०१
(ख) मंत्रिपरिषद् ...	३०२
(ग) सभा ...	३०३
(घ) ग्राह्य परिषद् ...	३०४
(ङ) स्थानीय संस्थाएँ ...	३०५
अनर्तनवाद के शासन सम्बन्धी स्तर ...	३०६
(क) विभाग प्रदा ...	३०६
(ख) शासन क्षेत्र में अनर्तनवादीक प्रणाली ...	३०७
(ग) शासन सम्बन्धी संस्थाओं की रंग करने का निवेदन ...	३०८

प्रथम अध्याय

राजा की उत्पत्ति

राजा की दैवी उत्पत्ति:—राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सामग्री वाल्मीकीय रामायण में उपलब्ध है अत्यन्त मरु और सीकीर्ण है। केवल वहीं-तहाँ थोड़े से ऐसे स्थल हैं जिनमें इस ओर कुछ संकेत किए गए हैं और जो थोड़ा सा प्रकाश इस विषय पर डालते हैं। रामायण के राजनीति के प्राचार्यों ने राजा एवं राज्य की उत्पत्ति के विषय में जिन विभिन्न सिद्धान्तों की पुष्टि की है रामायण में उनका उल्लेख कहीं भी देखने में नहीं आता। रामायण में जहाँ-तहाँ बिखरी हुई इस विषय से सम्बन्धित समस्त सामग्री को एकत्र करने के उपरान्त पाठक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस ग्रंथ में राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में केवल एक ही सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है और वह है राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त। इस सम्बन्ध के अन्य धार्मिक सिद्धान्तों:—समाज अनुवन्धवाद (Social Contract Theory) शक्तिवाद (Force Theory) विकासवाद (Evolution Theory) तथा अन्य का उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

रामायण में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए कई प्रामाणिक उदाहरण प्राप्त हैं। धर्मोष्मा के प्रसिद्ध राजा अश्वत्थ की मृत्यु के उपरान्त भरत अपने बड़े भाई राम को मनाने के लिये बिभृक्षु पहुँचते हैं जिससे राम पूर्ण: धर्मोष्मा सीट धार्य और अपने

राज्याधिकार को प्राप्त करें ॥ वहाँ जाकर भरत अपने भाई राम के समक्ष अयोध्या के राज्य ग्रहण करने का प्रस्ताव उनकी मन्त्रिम स्वीकृति ॥ लिए प्रस्तुत करते हैं । इस अवसर पर भरत मुक्तकण्ठ से राजा को देवता स्वीकार करते हैं । उनका कथन है यद्यपि लोग राजा को मनुष्य समझते हैं परन्तु मेरे मतानुसार राजा देवता होता है; क्योंकि उसके धर्मार्थ युक्त व्यवहार मनुष्य से परे, भौतिक, होते हैं ।* भरत का यह कथन जिसमें वह राजा को देवता का पद देते हैं इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि रामायण काल में मनुष्यों का एक धर्म ऐसा व्यवस्था था जो राजा को देव रूप मानता था । उसी धर्म के प्रतिनिधि स्वरूप भरत ने इस क्षण पर छत्र विचारों की धोर संकेत किया है ।

रामायण के प्रसंगत वर्णित विद्वत्समाज ॥ विचार भी इस सम्बन्ध में भरत के विचारों से समानता रखते हैं । इस विषय पर भी प्रागैहिक सामग्री उसी ग्रंथ में प्राप्त है जिसके आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उक्त समाज राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास रखती थी । दण्डकारण्य में ऋषि मुनियों के श्राद्धों को देखते हुए सीता तथा लक्ष्मण सहित राम भ्रमण करते हुए रामायण ॥ धर्म्यकाण्ड में वर्णन किये गये हैं । इन श्राद्धों के ऋषि-मुनियों का वन राम के समक्ष हाथ जोड़ कर आदरपूर्वक निवेदन करता है—राजा इन्द्र का भीषा भ्रातृ है ।† इसी कारण उसे सब शोध नमस्कार करते हैं । इस प्रकार इन ऋषि-मुनियों के मतानुसार राजा देवतुल्य है । वह इन्द्र का भ्रातृ लेकर पृथ्वी पर अवतरित होता है ।

राजा की दैवी उत्पत्ति ॥ सिद्धान्त की पुष्टि के प्रमाण रामायण में वर्णित केवल चार्य जातियों के विभिन्न राज्यों में ही प्राप्त नहीं होते परन्तु रामायण में इस सिद्धान्त की पुष्टि करने वाली सामग्री उन राज्यों के वर्णनों में भी प्राप्त होती है जो दक्षिण में प्रभास जातियों के राज्य थे । सुदूर दक्षिण खंडा राज्य में इस सिद्धान्त की स्थाप सर्व

* राजार्थ मालुषं प्राप्तुर्देवाये समस्तो मम ॥

श्लो० ५ सर्ग १०९, अयोध्या काव्यम् ।

† इन्द्रस्यैव भ्रातृभोजः ॥

श्लो० १६ सर्ग १, अरण्य काव्यम् ।

साधारण पर लगी हुई थी। संका का राजा रामरा मारीच से सील-हरण में सहायता की मागना करता है। मारीच के द्वारा इस काम में काम-कानी करने पर रामरा उसकी कड़े शर्तों में सामोचना करता है और उसे संकेत करता है कि वह अपने कर्णव को मसी मति समझे। यह मारीच को समझाता हुआ कहता है—ममित्र पण्डिमी राजा पाँच रूप वारण करता है अर्थात् वह मणि, रत्न, इन्द्र, वज्र और धनुष का साक्षात् रूप धारण करता है।* इसलिये सब स्थानों में राजा का सम्मान करने चाहिए और उसकी पूजा करनी चाहिए।†

संका राज्य की रास-अनता के यह विचार जो उनके राजा के मूल से इस स्थल पर प्रकाशित किये गये हैं और जिन्हें मारीच ने भी स्वीकार किया है अस्तित्व एवं दण्डकारण्य के जूचि-मुनिषों के इस सम्बन्ध में जो विचार ऊपर कथित किये जा चुके हैं उन्हीं की पुनरावृत्ति कर रहे हैं। इस उद्धरण से सिद्ध होता है कि राजा की ऐसी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रचार संका के अनाई राज्य में और उत्तरी-भारत ■ बाईं राज्यों में समान रूप से था।

लिङ्गिन्धा राक्ष के प्रसिद्ध राजा बालि की मृत्यु सम्बन्धी घटना-स्थल पर रामायण में इस सिद्धान्त की बसपूर्वक पुष्टि करते हुए सब बखित किये गये हैं। बालि राम द्वारा फेंके हुए बाण से मार गिरा हुआ राम के समक्ष पड़ा हुआ अंतिम सीटें भर रहा है। यह राम पर अनेकों प्रकार के धायेप करता हुआ कहता है ■ तुम इस निन्दित कार्य का समर्थन कैसे करोगे? तुमने आज धर्म पर कलक मगाया है। राम बालि द्वारा किये हुए धायेपों का निराकरण करते हुए उसे समझाते हैं—दुर्जन धन जीवन और कल्याण के देने वाले राजा ही होते हैं इस बाण में मोक्षदान भी संदेह नहीं है। राजाओं की हिंसा न करे, उनकी निम्ना

* पंचरूपमि राजानो धारयन्त्य निर्णीतस्य।

कामेदिगृहस्य लोमस्य समस्त भक्ष्यस्य च ॥

श्लो० १२ सर्ग ४०, अरण्य काण्डम्।

† उन्मात्सर्वास्य वस्थानु माभ्याः पूज्यारण्य मित्यवा ॥

श्लो० १४ सर्ग ४०, अरण्य काण्डम्।

न करे, उनका तिरस्कार न करे, उनके प्रतिकूल न कोई क्योंकि राजा देव है। जो मनुष्य-रूप धारण कर पृथ्वी पर बिचरते हैं।*

इतना ही नहीं वरन् रामायण में चरित्रवान् राजा को देव से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। राजा का प्रजा के कल्याण के निमित्त जो महत्त्व है उसका अभिवर्धन करता हुए रामायणकार ने बसिष्ठ के मुख से इस प्रकार कहलवाया है—राजा सत्य है, धर्म है, और कुसमार्थों का भी कुल है। राजा माता-पिता है, मनुष्यों का हितकारी है। महान् चरित्र-बल से युक्त राजा से महाबली यम, कृबेर, इन्द्र, वरुण भी छोटे हैं।†

रामायण में प्राप्य उपरोक्त सामग्री के आधार पर यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि रामायण में वर्णित राज्यों में राजा की देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का सम्मान था। इस सिद्धान्त के प्रचलन की दृष्टि से जयोध्या, लंका और किष्किन्धा राज्यों में एक से विचार पाए जाते थे। इसलिए यह कहना मितान्य उचित होगा ■ वाल्मीकीय रामायण राजा की देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पोषक है। वाल्मीकि ने राजनीति-शास्त्र के इस सिद्धान्त को जनता के सामने रखकर ईश्वर के राजनीति-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सेवा की है।

महाभारत के अन्तर्गत भी इस विषय पर इस प्रकार के विचारों की ओर विशेष संकेत किया गया है। महाभारत ■ अनुसार राजा एक महान् देव है जो मनुष्य-रूप धारण कर पृथ्वी पर भ्रमचरित होता है। मनुष्य मात्र का यह धर्म है कि ■ राजा को मनुष्य मान

*—राज हिंसाद्य आक्रोशोवाधिपेक्ष मिमं बवेत् ।

देवा मानुष रूपेण चरन्वेत्ते महीतले ।

इतो०, ४२ सर्ग १८, किष्किन्धा काण्डम् ।

†—यतो वैजयन्ताः शक्रो वसुधैव महा बलः ।

चित्रिज्यम्ते तरेज्येस दृष्टेन महता ततः ॥

इतो० १५ सर्ग १७, जयो० का० ।

राजा सत्यं धर्मं च राजा कुलवर्ता कुलम् ।

राजा माता पिता वैव राजाहितधरोन्मथाम् ॥

इतो० १४ सर्ग १७, जयो० का० ।

कर उसका निराकर कदापि न करें।* यहाँ भी राजा की उत्पत्ति यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि देवों के संघ से मानी गई है।† संसार में धर्म की स्थापना राजा के द्वारा ही होती है। उसी के सब का परित्याग है कि मनुष्य एक दूसरे का भक्षण नहीं कर सकते।‡

महामारत में राजा का स्थान देवों से भी ऊँचा माना गया है। इसी दृष्टिकोण ॥ इन्द्र मान्वाता को उपदेश करते हुए कहते हैं—मनुष्यों का भर्माणा राजा सनत्तान से देव माना गया है। इस प्रकार राजा की उपासना देवों को भी नहीं करनी चाहिए। राजा देव ही है और मनुष्य का शरीर धारण करता है। राजा का सब समावेश है। वह सृष्टि-रचना के काल से बराबर बना आ रहा है।×

मीमांसा यह मत है कि बुद्धिमान जन राजा और देव में भेद नहीं मानते।‡ इस अतीवशक्ति पर राजा मनुष्य रूप में विष्णु ही हैं।+ जगत्पूज्य राजा का जो व्यक्ति तिरस्कार करता है उसके द्वारा किए हुए

*—महि आत्मवमन्तमो भनुष्य इतिभूमिपः ।

महती देवता ह्येवा नर रूपेण तिष्ठति ॥

इको० ४० अ० १८, शान्ति पर्व ।

†—कुरुते पंचरूपाणि काञ्च धुक्तानि यः सदा ।

भस्त्रवग्निरुध्वाग्निमृत्युर्धैवद्वयो धमः ॥

इको० ४१ अ० १८, शान्ति पर्व ।

‡—राजमूर्धो महाप्राय भर्मा लोकस्य कथ्यते ।

मया शतभयादेव मन्त्रादग्नि परस्परम् ॥

इको० ८ अ० १८, शा० प० ।

×—साकुचाक्षी मधिवर्हि देवसूतं सजातम् ।

देवाग्निं नाथ मम्यान्ते धर्मं कामं नरेरवदम् ॥

इको० २६ अ० ६५, शा० प० ।

‡—सर्वो जगति राजेन्द्र सत्ततं सम्मिदं ब्रुवैः ।

देवाग्नेय नादेवाग्नेयं कुरुया इति विशाम्यते ॥

इको० १४४ अ० २६, शा० प० ।

+—महत्वेन च संयुज्ये वैष्णवेन मोक्षुषि ॥

इको० १३४ अ० २६, शा० प० ।

यह, धातु तथा विष्णु राम स्वयं ही होते हैं। उसे इन चर्च कार्यों का किञ्चिन्मात्र भी फल नहीं मिलता ।*

ऊपर उल्लिखित उद्धरणों के आधार पर यह निष्कर्षपूर्वक कहा जा सकता है कि रामायण, और महाभारत दोनों राजा की देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के पोषक हैं। रामायण में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में केवल इसी एक सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है। उसके अन्तर्गत तत्सम्बन्धी अन्य ऐसी प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि रामायण-कार राज्य अथवा राजा के उत्पत्ति-सम्बन्धी प्राधुनिक सिद्धान्तों से परिचित हों। परन्तु महाभारत में राजा की देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के अतिरिक्त तत्सम्बन्धी अन्य प्राधुनिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित सामग्री भी इधर-उधर बिखरी हुई प्राप्त है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाभारत-कार राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों से परिचित थे जो किसी भंरा तक प्राधुनिक सिद्धान्तों से सामंजस्य रखते हैं। इस प्रकार के विभिन्न सिद्धान्तों का विवरण भावे इसी अध्याय में दिया जायगा।

परन्तु यह कहना कि राजा की देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का अन्त-स्थान रामायण तथा महाभारत ही है बड़ी भूल होगी। इस सिद्धान्त का ग्रेट भागों के प्राचीनतम ग्रन्थों में पाया जाता है जहाँ राजा की मनि, बहण, इन्द्रादि नामों से सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेद में राजा के लिए वैष्णवान् ईश्वर का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है विष्णु की विभूतियों से युक्त अर्थात् विष्णु भगवान् का स्वरूप। उसी

*—सर्वं श्लोकं गुरुं चैव रात्रानं योऽयं अभ्यसेत् ।

वसत्य दत्तं न कुत न आहं फलयेते अर्चित ॥

स्तो० २८ अ० ६२, शा० प० ॥

†—आहं राजा वरुणी × × × × × ॥

मंत्र ९ सूक्त ४२, मन्त्रक ४ अग्निदेव ।

आहं मिश्रो वरुणः × × × × × ॥

मंत्र ६ सूक्त ४२, मन्त्रक ४ अग्निदेव ।

‡—इकोहको यो वरुणद्वजः प्रोक्तमि वैष्णवान् ॥

मंत्र २२ अध्याय ५, यजुर्वेद ।

ग्रंथ में राजा को इन्द्र और वरुण कहा गया है ।* इन स्थलों में राजा की उत्पत्ति उसी प्रकार देखी गयी है वैसे कि इन्द्र और वरुण देव की । दूसरे ग्रन्थों में राजा इन्द्र, वरुण और विष्णु अवतार हैं ।

इस प्रकार राजा की देवी उत्पत्ति का यह सिद्धान्त भारत में उस समय खोजा गया था जब कि ऋग्वेद और यजुर्वेद के ग्रंथों की रचना हुई थी । अतः राजा की उत्पत्ति सम्बन्धी यह सिद्धान्त बहुत पुराना सिद्ध होता है और उस काल से जब कि धर्म-सभ्यता का भारत में उदय हुआ यह विचार-धारा भारतवासियों के राजनीतिक जीवन में निरन्तर बहती चली आ रही है जिसका उत्सर्ग हमें रामायण-काल में इसी प्रकार प्राप्त होता है । रामायण-काल के पदपाठ भी हिन्दू राज्य में इस सिद्धान्त का गहरा प्रभाव पड़ता रहा है ।

देवों के भित्तिरिक्त अन्य ग्रंथ जैसे उपनिषद्, भारव्यक और सूत्र ग्रंथ भी इस सिद्धान्त की ओर संकेत करते हैं । तैत्तिरीय-शाङ्ख्य में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है कि इन्द्र ने प्रजापति से राजसत्ता का अधिकार प्राप्त किया । कथा इस प्रकार वर्णित है—प्रजापति ने इन्द्र को देवों का राजा बनाने की इच्छा प्रकट की । इन्द्र ने राजपद पाने के योग्य बनने के लिए प्रजापति से उनके तेज की प्राप्ति के निमित्त उनसे याचना की जिसके पा लेने के उपरान्त इन्द्र देवों का राजा बन गया । यद्यपि वह देवों में सबसे छोटा था ।† प्रजापति से तेज प्राप्त करने के पूर्व इन्द्र साधारण देव था परन्तु प्रजापति के तेज की सहायता

*—इन्द्रवज्र सभात् वरुणश्च राजा ॥

मंत्र ३७ अथर्ववेद ॥

†—प्रजापति रिन्ध स्रज्वाऽनुजावरं देवान् । तं प्राहिषोत ।

परेहि । पृथेयां देवानामधिपतिरे धीति ५ ५ ॥ अथर्ववेद
तर्हि प्रजापति इव आसीत् ।

यदस्मिन्नादिभ्यो । तदेवमजनीत । एतन्मे अयच्छ ।

अयमाहने तेषां देवानामधिपति भविष्यामीति ।

५५५ अतो व इन्द्रो देवानामधिपतिरभवत् ॥

वाचा १—१ यजु० १० अ० २ अथ० २ तैत्तिरीय शाङ्ख्य ॥

कर वह देवराज बन गया। यह श्रमा इस बात को सिद्ध करती है कि राजपद वही प्राप्त कर सकता है जिसमें भगवान का पंचा हो, दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहना उचित होगा कि राजा भगवान का पंच होता है।

उत्तरपत्र आह्वय में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। इस ग्रंथ में स्पष्ट कहा गया है कि राज्याभिषेक हो जाने ■ उपरान्त मनुष्य देवत्व को प्राप्त हो जाता है और वह भी एक देव हो जाता है। इसी ग्रंथ में एक स्वतः पर इस बात का उल्लेख किया गया है कि जिस व्यक्ति का राज्याभिषेक होता है वह 'होता' और विष्णु दोनों एक ही साथ होता है। इसी ग्रंथ में इस संसार ■ राजा को प्रजापति का प्रतिनिधि माना गया है।

उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य राजा की देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का पोषक है, वैदिक साहित्य में राजा को देव माना गया है।*

इस सम्प्रदाय में मनुष्य के विचार भी इसी प्रकार ■ हैं। मनु की बुद्धि में यदि राजा शासक भी हो तो भी उसका संस्कार देव तुल्य होता चाहिए। उनका मत है कि राजा एक महान देव है वह पृथ्वीतल पर मनुष्य रूप में विचरता है।† इस प्रकार मनु राजा की देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रचारक एवं पोषक थे। उनके मतानुसार राजा साधारण देव नहीं है बल्कि वह महान देव (महती देवता) है जो मनुष्यरूप में विचरता है। एक साधारण शासक राजा साधारण देव से बड़ा है उसका उत्तरावर वायु, सूर्य, चन्द्र, शर्व, कुबेर, वरुण तथा यम आदि देवों के समान होना चाहिए।‡ राजा के बिना संसार में मत्स्य न्याय का

*—भी देखते सदेवतामे को भक्त्य मुत्सर्ग वैदेवाना ४९ इति.
एवै सव्यतप्रदो ॥ २-२-१३ उत्तरपत्र आह्वय ॥

†—वाङ्मोक्षि नाव मन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।

महती देवता क्वेवा नर इत्येक सिध्यति ॥

शब्दो० ८ अ० ७ संसु० ।

‡—इन्द्राग्निध्रुवमार्कण्डेयसमेव पश्यस्य च ।

अथ विद्वंसवीर्यं साया विद्वत्स्य शारवतीः ॥

शब्दो० ५ अ० ७, मनुः ।

भारतक जय जावेगा । राजा न्याय की धुरी बन धारण करने वाला होता है ।*

सूक्त भी राजा को देव का स्वतन्त्र देते हैं । उनका मत है कि राजा का निमण्डित इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, सूर्य, यमिनि, वायु और अग्नि प्राक प्रधान देवों के तत्त्वों के सम्मिश्रण से होता है । राजा इन प्राक देवों के प्रधान तत्त्वों को धारण करता है ।† सूक्त राजा को परमेश्वर भारद्वाज मानते हैं । इस प्रकार सूक्त भी राजा की देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के पीछे हैं और सम्बन्ध में उनके विचार अनु के विचारों से समानता रखते हैं ।

सम्भवतः भीम कास के सबसे बड़े राजनीतिज्ञ कौटिल्य प्रथम चारुक्रम महोदय हुए हैं । इस सम्बन्ध में उक्त महोदय के विचार भी स्पष्ट ही हैं । वह भी राजा को साधारण देव से बड़ा मानते हैं । उन्होंने राजा को परम देव माना है जो निरुचयपूर्वक राजा की देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को सिद्ध करता है । चारुक्रम महोदय चारुक्रम सूत्र में लिखते हैं कि हम लोगों के लिए राजा परम देव है ।‡ चारुक्रम महोदय के यह धारणा स्पष्ट है । इस कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजा की देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रचार भारत में उस युग में भी था जब कि चारुक्रम महोदय अपने सिद्धान्तों का प्रचार भारत में कर रहे थे ।

राजा की देवी उत्पत्ति का सिद्धान्त भारत में मुफ्त युग में भी प्रचलित रहा । इस युग में राजा कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम के समान माना जाता था । जो राजा की मनुष्य रूप में देव समझते थे

*—यदि न प्रभवेद्वाजा इत्यं ध्रुवेमन्व तन्मित्रः ॥

शुक्लमत्स्यानिषामकान्पुर्वजाभ्यक्षयराः ।

रक्तो० १० अ० ८, मनु ।

†—इन्द्रानिजवमार्कौषाम्येरव रक्षस्व च ।

अम्न विषेय मोरचाभि मात्रा निहृत्य शारदतीः ॥

रक्तो० ७१ अ० १, शुक्ल० ।

‡—नः राज्ञः परम मेरुधम ॥

सूत्र १०१, चाणक्य सूत्र ।

उसे देव एवं भवितव्य पुरुष दोनों से सम्बोधित करते हैं ।* गुप्त-कामीन सिलासेलों से यह बात अती प्रकार सिद्ध होती है । संस्कृत साहित्य में भवितव्य पुरुष शब्द भगवान के लिए प्रयोग में लाया जाता है परन्तु गुप्तकामीन सिलासेलों में इस शब्द का प्रयोग राजा के लिए हुआ है । इससे यह सिद्ध होता है कि गुप्त युग में राजा देव भगवान का पंथा समझा जाता था । उसकी उद्गम हल्, कसण, यम, कुम्हरे यादि देवों में होती थी ।

उपरोक्त प्रागैतिहिक सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त-काल में भारत की जनता में राजा की ऐसी उपरि के सिद्धान्त का प्रचार था ।

राजा की ऐसी उत्पत्ति के सिद्धान्त की यह धारा हिन्दुराज्य में निरन्तर प्रवाहित रही जिसकी मूलक भाषा भी हिन्दू-जनता के मध्य किसी न किसी रूप में प्रगट हो रही है । इसका यह परिणाम हुआ है कि ऐसे युग में भी जब कि विश्व में राज-मान्तिवों का प्रादुर्भाव रहा हो हिन्दूजनता राज-भक्त रही है । वह राज-क्रोध से घृणा करती है और ग्यासी राजा का बंध करना उसकी दृष्टि में एक ऐसा बहाना पाप है जिसके प्रादुर्भाव का विधान हिन्दू शास्त्रकारों ने कहीं भी नहीं किया । ग्यासी राजा के विरोध में विप्लव का भंडा कड़ा करना उसके लिए सर्वैय असह्य रहा है ।

राजा का महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता:—वाल्मीकीय रामायण में राजा के महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है । राजा के बिना राज्य स्थिर नहीं रह सकता ।† राज्य में अराजकता फैल जाती है । बिना जन की तथियाँ ‡ बिना बाध का मन और बिना

*—भवितव्य पुरुष जनद वसुदेवमृतक समस्त लोकधाम प्रलय है ॥

व्यास सप्तम केक सङ्ख्यपुष्ट ।

†—मराजकं वि नो राज्यं × × × ॥

शब्दो० ॥ सर्ग ६०, अधो० कावचम् ।

‡—वमाल्लुपका नमो × × × ॥

शब्दो० २३ सर्ग ६०, अधो० का० ।

श्रीवास के गडकों की ओ दला 'होती है' वही दला ऐसे राष्ट्र की हो जाती है ।* ऐसे राष्ट्र में मनुष्य का कुल भी अपना नहीं होता । मनुष्यों के समान मनुष्य एक दूसरे की सा जाते हैं ।† यहाँभ्रम नहीं की मर्यादा जिन्होंने सोच ली है और जिन्हें इसके लिए दण्ड दिया जाता या वह नास्तिक संका-रहित प्रभावशाली हो जाते हैं ।‡ जिस प्रकार एक मनुष्य के द्वारा पहचाना जाता है, मनुष्य से भ्रम का बोध होता है उसी प्रकार प्रजा का परिषद राजा से होता है ।× राजा-होन देश में और गर्जन करनेवाला बिहस्ताली नाम का मेष पृथ्वी पर अन्न नहीं बरसाता । ऐसे देश में खेत बोए नहीं जा सकते ।५ पिता के भ्रमण पुत्र और पति के भ्रमण पत्नी नहीं रहती ।+ ऐसे देश में निर्णय के लिए मनुष्य

*—वाप्यं दुर्गं वनम् ।

अगोपयन्त कथा शीघ्रस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥

श्लो० २३ सर्ग १७, अयो० का० १

†—नाराजके जनपदे स्वर्क भवति कस्यचिद् ।

मत्स्याइव जना निर्व्यं भवत्यपि परस्परम् ॥

श्लो० ३१ सर्ग १७, अयो० का० १

‡—येहि सन्निभ मर्यादा नास्तिकरिद्वज संख्याः ।

तेजस्य भक्त्याम कल्पन्ते रास दण्ड निधीयताः ॥

श्लो० ३२ सर्ग १७, अयो० का० १

×—एवमेव एवमेव प्रहानेभूमी ज्ञान विभाज्यते ।

तेषां यो यो भवति राजा स तेनैवमिदमेव ॥

श्लो० ३० सर्ग १७, अयो० का० १

+—नाराजके जन एवै विष्णुमायी महास्वनः ।

सन्निभैरपिपुत्रैश्चो महीं दिव्येव पारिण ॥

नाराजके जनपदे बीजमुष्टि प्रदीर्यते ॥

श्लो० २-१० सर्ग १७ अयो० का० १

+—नाराजके विष्णु पुत्रोभायी वा वर्चते यते ।

श्लो० १० सर्ग १७, अयो० का० १

पञ्चायत नहीं कर सकते*, देश को जत्रा करने वाले जलम तथा सभायें नहीं होती।† यहाँ तक ■ जितेन्द्रिय और कतघारी भाइयों मर नहीं कर सकते। संक्षेप में राजा-हीन देश में धराजकता तथा विपक्ष साक्षात् रूप में अपना नान ताज्जब नाम दिखाने समक्ष है जिसके कारण यह देश मानवजीवन के लिए नितान्त असुपयुक्त सिद्ध हो जाता है।

महाभारत में भी राजा की आवश्यकता एवं उसके मस्तिष्क पर समान विचार पाये जाते हैं ‡ इस ग्रन्थ में भी राजा के महत्व एवं उसकी आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है।

महाभारत के स्रष्टा पर्व में कौशल राज्य के नरेश बसुमता और बृहस्पति का सम्वाद दिया गया है जिसमें बृहस्पति बसुमता को उपदेश देते ■ कहते हैं—हे राजन् ! जैसे सूर्य या चन्द्रमा के उदय न होने पर सारे प्राणी गहान्धकार में लीन हो जाते हैं और परस्पर एक दूसरे को देख भी नहीं सकते। जिस प्रकार थोड़े जल से युक्त सड़ाम में मछली और हिरण के भय से रहित स्थान में पक्षी एक दूसरे को मारते हुए निर्दिष्ट घूमते हैं, वह परस्पर तलपूबक एक दूसरे पर घात-मण करते हैं और थोड़े ही काल में श्मशान को प्राप्त हो जाते हैं इससे संशय नहीं है। इसी प्रकार राजा के बिना यह सारी प्रजा नष्ट हो जाती है, और गहरे अंधकार में ग्रासे से रहित पशुओं की तरह इधर उधर भटक कर नष्ट हो जाती है।‡ राजा के श्मशान में समस्त निर्बन्धों के सब कुछ घन, स्त्री भादि का अपहरण कर लेते हैं और यदि उन्हें कोई रोकता है तो वह उन्हें मार डालते हैं। यदि राजा प्रजा की रक्षा में प्रयत्न न हो तो सब और और अंधकार छा जाय, सभी लोग घान,

*—नाराज्के अनपदे कास्थानि समंभराः ॥

श्लो० १२ सर्ग ६०, अक्षो० का० ।

†—नाराजके अनपदे..... ।

उत्तमपुत्रः समापन्नः चर्वन्ते राष्ट्रं चर्वणाः ॥

श्लो० १५ सर्ग ६०, अक्षो० का० ।

‡—यथा बभ्रुकेमत्सरा निराकण्डे विहङ्गमाः ।

विहरे सुर्यधा कायं विहिंसन्त पुनः पुनः ॥

श्लो० ११ अ० ६८, अक्षो० का० ।

स्त्री, असंकार तथा अनेक प्रकार के रत्नों को एकत्रय वसपूर्वक धीन लेते । यदि राजा प्रजापालन में प्रवृत्त न होता ।* यदि राजा प्रजा के पालन का भार अपने कंधों पर न लेता तो लोग माता-पिता, बृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु तक को पीड़ित करने में प्रवृत्त दिखाई देते ।† जिस राजा के प्रभाव से सारे जगत (भारतीय मान) का आभाव हो जाता है और जिसकी स्थिति से सारे जगत की स्थिति है उस राजा की पूजा कौन नहीं करेगा ?‡

संक्षेप में महाभारतकार ने राजा की आवश्यकता एवं उसका महत्व अथवा के सुचारु रूप से स्थिर रहने और उसके विकास एवं परिवर्द्धन के लिए अनिवार्य माना है । ऐसे राजा की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

इस प्रकार रामायण और महाभारत दोनों राजा की आवश्यकता एवं महत्व पर बहुत बड़ा बल डाले हैं और दोनों राजा को बहुत ऊँचा स्थान प्रदान करते हैं । दोनों राजा को देव मानते हैं । जिसके बिना जगत की मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं और जगत से सांस्कृतिक एवं सभ्य जीवन का सर्वथा नाश हो जाता है अथवा में सभ्य जीवन एवं संस्कृति स्थिर रखने के लिए राजा की आवश्यकता उसी प्रकार नितांत अनिवार्य है जैसे जीवन को स्थिर रखने के लिए प्रकाश, जल, वायु आदि भौतिक तत्वों की आवश्यकता होती है ।

मनुष्यमान के निमित्त राजा की आवश्यकता तथा उसके महत्व पर मनु महोदय भी इतना ही बल देते हैं । उनका मत है कि राजा यदि अपराधियों को दण्ड न दे तो क्षुल्ल पर मधुमती के समान सबल लोग

*—यार्थ वस्त्रमसंकारान् रत्नानि विविधानि च ।

करेणुः सवसा पापा यदि राजा न पात्रवेत् ॥

स्त्री० १६ अ० १८, श्ल० ५० ।

†—मातरं पितरं ब्रह्माचार्यं मतिथिं गुरुम् ।

क्रिन्वीदुरपि हिंस्रुर्वा यदि राजा न पात्रवेत् ॥

स्त्री० १८ अ० १८, श्ल० ५० ।

‡—धत्ताभावेन भूतानामभयः स्वात्तमन्तवः ।

भावे च माघो नित्यं स्वात्तस्तं न प्रति-पूजयेत् ॥

स्त्री० ३० अ० ३८, श्ल० ५० ।

निर्बलों को भूत डाले । ऐसे राज्य में युद्ध और शान्ति का सर्वथा सोच रहता है ।*

युक्तनीति में भी इसी प्रकार के विचार पाये जाते हैं । शुक्रमहोदय का मत है—यदि प्रजा का समुचित नेता राजा न हो तो प्रजा इस प्रकार विपत्ति में मग्न हो जाती है जिस प्रकार बिना कर्णधार के समुद्र में नौका डूब जाती है ।† 'प्रजापासक' राजा ■ बिना प्रजा अपने कर्तव्य में स्थिर नहीं रह सकती । इस पृथ्वी पर बिना राजा के प्रजा की खोमा नहीं होती ।‡

महात्मा कौटिल्य के विचार भी इस सिद्धान्त पर स्पष्ट हैं । वह भी इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं—मत्स्य न्याय से पीड़ित हो लोगों ने मनु को अपना राजा बनाया ।× राजा प्रजा में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है । वही मनुष्यों को वशाग्रिम धर्म पालन करने के लिए बाधित करता है ।

इस प्रकार लगभग समस्त मुख्य हिंदू राजनीतिज्ञ राजा की प्राव-
स्यकता एवं उसके महत्त्व पर दो मत नहीं रखते । वह मुक्तकण्ठ से राजा की प्रावस्यकता और उसके महत्त्व ■ सिद्धान्त की सराहना करते हैं ।

राजा की वैवी उत्पत्ति के भारतीय तथा पारचात्य सिद्धान्तों की तुलना—राजा की उत्पत्ति एवं उसकी प्रावस्यकता पर भारतीय विद्वानों के जो विचार ऊपर कहेन किए गए हैं उनके आचार पर

*—यदि न प्रजोपेन्द्राया वसन्तवसेभ्यस्तद्विदुः ।

युद्धे मत्स्यानिचरमवधमनुर्वैजान्मखवधराः ॥

स्क० २० अ० ४, मनु० ।

†—यदि न स्वाम्मत्पतिः सम्यक् नेताततः प्रजाः ।

प्रकर्षाधारजकधी विप्लवेतेहनीरिच ॥

स्क० ६२ अ० १, शुक्र० ।

‡—मातिष्ठतित्व स्वधर्मे विना पात्रेन वै प्रजाः ॥

स्क० १९ अ० १, शुक्र० ।

×—मत्स्यन्यायमि सूत्रा प्रजा मनु वैचरवतं प्रजापतिं चक्रिरे ॥

वात० १ अधि० १ अ० १५, अर्थशास्त्र ।

यह सिद्ध होता है कि हिंदू भोग प्राचीन-काल से ही राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे और जिसका विशेष महत्व रामायण और महाभारत काल में रहा है। परन्तु राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध का यह सिद्धान्त जिसका रामायण और महाभारत में विशेष दर्शन मिलता है और जिसकी पुष्टि ग्रन्थ भारतीय राजनीति विचारकों ने भी की है तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से नितान्त भिन्न है। इस सिद्धान्त का स्वरूप भारतीय राजनीति में अपनी विशेषता रखता है जो ग्रन्थ किसी क्षेत्र के राजनीति क्षेत्र में, सम्प्रभुत्व देखने में नहीं आता। हिंदू राजा (नर देव) भगवान का प्रतिनिधि भवत्स है परन्तु वह उस रूप में नहीं है जिसमें कि पाश्चात्य राज्यों में माना गया है वह केवल भगवान का ही प्रतिनिधि नहीं है और न केवल उसी पर उत्तरदायित्व रखता है और ऐसा भी नहीं है ■ हिन्दू राजा अपने नरदेव की उचित या अनुचित आज्ञाओं का आज्ञा भीष कर पालन करे। रामायण एवं महाभारत के मतानुसार वह केवल इस रूप में भगवान का संबन्ध है प्रथम नरदेव है कि उसमें भगवान की वे विष्णु विस्तृति विद्यमान हैं जिनकी प्राप्ति सर्वसाधारण के लिए दुस्साध्य है और जिनको उसने उग्र तपस्वी, आत्मसंयम आदि के द्वारा प्राप्त किया है।* इस प्रकार उसका आचरण सर्वसाधारण के लिए अनुकरणीय हो जाता है और वह उनके लिए एक आदर्श चरित्र बन जाता है।† हिन्दू राजा ईश्वर के राजा जेम्स प्रथम, चार्ल्स प्रथम प्रथम फ्रांस के राजा लुई चौदहवां की नीति निरंकुश एवं उत्तरदायित्व रहित कदापि नहीं है। उसका उत्तरदायित्व महान् है और वह राज्य के नियमों पर निर्भर है। राजपद पर उसकी नियुक्ति कृष्ण निर्धारित प्रतिबन्ध के साथ होती है। हिन्दू राजा को परम्परा से निर्धारित कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। उसका मुख्य कर्तव्य पाप को दमन कर प्रजा को वर्णमय

*—राजानम् मामुपुं प्राहूर्देवत्वे संमतो मम ।

वस्य भर्मायै सन्निवृत्तमाहुर मालुवम् ॥

श्लो० ४ सर्ग १०२, अयो० ५०० ।

†—यद् वृत्तः सन्नि राजा नस्तद् वृत्तः सन्नि वि उक्तः ॥

श्लो० ४ सर्ग १०२, अयो० ५०० ।

धर्म पर चला कर उनके लिए निवाँ (धर्म, धर्म, काम) प्राप्ति का मार्ग सुगम बनाना है । इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए रामायणकार ने कई उदाहरणों का उल्लेख किया है । विश्वामित्र का तो यहाँ तक मत है ■ क्षत्रिय बर्ण को अपनी प्रजा के रक्षण कार्य एवं उनके पालन के लिए उचित व अनुचित प्रत्येक प्रकार के कार्य को कर डालना चाहिए । दाऊ का स्त्री है ऐसा समझ कर राम उसका बंध करने से हिचकती है ऐसा देखकर विश्वामित्र राम को उसके बंध के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं—स्त्रीधर्म समझ कर तुमको इस कार्य की ओर बुरा नहीं करनी चाहिए । तुम राजपुत्र हो तुम्हें चातुर्वर्ण्य की रक्षा करनी चाहिए* इसलिये इस क्रूर नारी की मार कर चातुर्वर्ण्य की रक्षा करो । प्रजा की रक्षा के लिए सत्ता-बुरा निर्दोष-सर्वोप सही काम राजा को करना चाहिए ।† रामायण में एक स्थल पर राम भरत को उनके कर्तव्य को बताते हुए सचेत करते हैं—राज्य के समस्त निवासियों का पालन करना राजा का धर्म है ।* हिन्दू राजा को निर्धारित नियमों के अनुसार शासन करना पड़ता था और उन्हीं नियमों के अनुसार शासन करना पड़ता था । यह नियम राजधर्म के नाम से प्रसिद्ध है ।† और यह राजधर्म नित्य है । यहाँ तक कि हिन्दू राजा के कर्तव्यों की ओर

*—चातुर्वर्ण्यं विचार्य हि कर्तव्यं राजसूनुना ॥

स्क० १७ सर्ग २२, वाक्य अष्टम ।

†—नृत्तलभ नृत्तल का प्रजा रक्षक कावचात् ।

परमं वा सर्वोप वा कर्तव्यं रक्षित सदा ॥

स्क० १८ सर्ग २२, वाक्य अष्टम ।

*—इत्यादि राजा धर्मैव सर्वे विषयवासिनः ॥

स्क० २८ सर्ग १००, अयो० का० ।

†—राजधर्मोऽयं कथं वेदि न ब्रह्मणे ॥

स्क० २३ सर्ग ७, अयो० का० ।

राजधर्ममविद् ॥ स्क० २० सर्ग १३, अयो० का० ।

राजधर्ममवेकमे ॥ स्क० २१ सर्ग ७३, अयो० का० ।

सर्वे चर्मा राजधर्मप्रकाशः ॥

स्क० २० अ० ५३, वा० ५० ।

संकेत करते हैं हिन्दी भाषा के लम्बे कवि सुसमीक्षा में भी इस और राजा का ध्यान दिलाया है। उनके कवच के अनुसार जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी रहती है उसे नर्क में धात करना पड़ता है।*

इस प्रकार राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिस दैवी सिद्धान्त का उल्लेख रामायण और महाभारत के ग्रन्थों में मिलता है वह सिद्धान्त सत्सम्बन्धी पारम्परिक सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इसलिए रामायण और महाभारत काल का कवि राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रजासत्त्ववाद का शायद नहीं है बल्कि वह उसका शीतल है और उसके विकास में सहस्रक छिड़ हुआ है। यह सिद्धान्त राजा के अधिकारों को निश्चित कर संकुचित एवं सीमित कर देता है और राजा की इन बातों के लिए बाधित करता है कि वह अपने कर्तव्यों का पूर्ण रीति से पालन करे। जिसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू राजा सम्मानित व्यक्ति को बन जाता है परन्तु वह राज-धर्म के भीतर बँकड़ दिया जाता है। हिन्दू देवराज जिसका स्वरूप रामायण और महाभारत में दिया गया है और जिसका अनुमोदन अन्य हिन्दू राजनीति के विद्वानों ने किया है केवल वैधानिक साम्राट है जो राज्यधर्म के क्षेत्र के बाहर कार्य करने का अधिकार भी अधिकार नहीं रखता है और जिस राज्यधर्म की उत्पत्ति उसके द्वारा नहीं हुई है किन्तु वह राज्यनियम सृष्टि के प्रादि-काल से परम्परागत बने जा रहे हैं।†

समाज अनुबन्धवादः—महाभारत में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रतिष्ठित राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई अन्य सिद्धान्तों का चिह्न भी पाए जाते हैं। इन सिद्धान्तों में समाज अनुबन्धवाद (Social contract Theory) का विशेष महत्त्व है। महाभारत के शांति पर्व में इस सिद्धान्त का विशेष उल्लेख है। युधिष्ठिर अपने पितामह भीष्म से पूछते हैं—हे महर्षि! केवल परम्परा ! वह जो राजा नामक शब्द

*—जानु राज भिन्न प्रजा दुखारी । सो नृप अवसति नरक अधिकारी ॥

सुसमीक्षा ।

†—किन्तु धर्म पवित्रो ××× ॥

संसार में प्रचलित है इसकी किस प्रकार उत्पत्ति हुई ?* राजा और
प्रजा दोनों के एक से ही हृदय, भुजा और आँक होती हैं और समान
ही बुद्धि और इन्द्रिय हैं । इनको दुःख-सुख का अनुभव भी समान
रूप से ही होता है । पीठ, मुँह और ऊपर भी इनका स्पर्श ही
है + + + + + इस प्रकार सारे मनुष्यों से राजा के
गुण, कर्म और स्वभाव मिलते हैं । फिर यह भकेला बड़े-बड़े दूर वीरों
का अधिपति कैसे बन सकता है ?† + + + + + है
मरतर्कम में इस बात का रहस्य जानना चाहता हूँ । भीष्म इस
प्रकार उत्तर देते हैं—हे नर व्याघ्र ! तुम साक्षात् हो जाओ, मैं इस
प्रश्न का पूर्ण रूप से उत्तर देता हूँ कि किस प्रकार सत्ययुग से
राज-व्याख्या की परिभाषी चली है । हे रक्षक सत्ययुग में राज्य, राजा
या कण देनेवाला कुछ भी नहीं था । सारी प्रजा धर्म के अनुसार चलती
थी जिससे वह अपनी रक्षा माय ही परस्पर करती थी ।‡ हे भरत,
धर्म की सत्य में रहकर जोन एक दूसरे की रक्षा करते थे ।× परन्तु
इस तरह भागे काम चलता न देखकर उनको बड़ा खेद हुआ और उनकी
बुद्धि चकराने लगी । हे मनुजवर्ध ! जब प्रजा के लोगों को मोह

*—य एव राजन् राजेति शब्दरचरति भारतः ।

कथमेव समुत्पन्नास्तन्मेव बुद्धि परत्वात् ॥

श्लो० ५ अ० २६, शा० प० ।

†—दुःख पर्वस्य मुक्तधीवस्तुत्य बुद्ध्याभिप्रायस्तस्य ।

दुःख दुःख मुक्तधर्मा च दुःख गृह मुक्तोदरः ॥

श्लो० ६ अ० २७, शा० प० ।

× × × × कथमेकोऽधितिहति ॥

श्लो० ७-८ अ० २८, शा० प० ।

‡—न वेराध्य न राजा ऽऽ सीमन् च दयको न दायिकः ।

धर्मोवैव प्रजाः सपरिचरितस्य परस्परम् ॥

श्लो० १३ अ० २९, शा० प० ।

×—यावत्समाप्ततयाऽभ्योऽभ्यन् नरा धर्मैश्च भारत ।

मेव परमुपाजगमुत्ततस्ताम्नोह आशितम् ॥

श्लो० ३५ अ० ३३, शा० प० ।

जब गया तो उनका ज्ञान भी लोप होने लगा । जब उनका ज्ञान ही लुप्त हो गया तो लोग भ्रमान के बन्ध में पड़ गए ।* हे मरुत वत्सव ! इस तरह भावे चलकर लोग के पँथे में पड़े । हे प्रभो ! जब लोगों का विचारभ्रमपूर्ण लुप्त हो गया तो उनको काम-लाभ के लोभ की प्राप्ति हुई । जब लोग काम के बन्ध में हो गए तो उनके मन में राग की प्रवृत्ति हुई । हे युधिष्ठिर, इसी राग के बन्ध में हुए उनको कार्य-प्रकार का कुछ भी ज्ञान नहीं रहा ।† हे राजन् ! जब तो जिससे सम्भोग नहीं करना चाहिए वह करने लगे । भक्त्याभक्त्य की कुछ परिपाटी न रही तथा दोष प्रदोष की कोई पर्यादा न रही ।‡ अब लोग प्रधर्म में प्रेरित नष्ट होने लगे तो वेद भी लुप्त हो गया । हे राजन् ! अब वेद नष्ट होता है, तब धर्म भी नष्ट ही हो जाता है ।

जब धर्म भीरु वेद का नाश हो गया तो देवता भवनीय हो उठे ॥ गरुडाक्षर देवता भयातुर होकर ब्रह्मा भी की करुण में पहुँचे ।+ उन्होंने लोकपितामह ब्रह्मा की स्तुति कर उनको प्रसन्न किया । वह सारे देवता कुल के वेद से माहृत हुए हाथ जोड़ कर ब्रह्मा की से कहने लगे—हे भगवन् ! नर लोक में स्थित सारा वेद, लोग मोहादिक विकारों के आगम होने ॥ नष्ट हो गया है । वह देखकर हमारे चित्त में बड़े भय का संचार हो रहा है + + + + + + + + + + हे पितृमह ! इस विषय में जिस प्रकार हमारा कल्याण हो धाम

*—ते मोहवत्प्रमादप्रभं मनुजा मनुजर्वम ।

मतिपति विमोहाच्च धर्मस्तेषामनोऽनृतः ॥

इको० ११ अ० २३, शा० ५० ।

†—स्मरदध नाभ्य जानन्त कार्या कर्मै युधिष्ठिर ॥

इको० १६ अ० २२, शा० ५० ।

‡—सातमायमनं चैव साध्याचार्यं लघैव च ।

भक्त्याभक्त्यं च राजेभ्य सोपादीयन् च मातृवज् ॥

इको० २० अ० २३, शा० ५० ।

—अथे भवन्ति कर्म च देवांश्चास्तः समाधिनाम् ।

ते चत्वारः क्व शब्दं च ब्रह्मणं शब्दं वसुः ॥

इको० २२ अ० १६, शा० ५० ।

वही विचारिए। आप के प्रभाव से हमारा जो यह स्वभाव बना था या हमको जो ऐतर्क्य प्राप्त हुआ था—वह स्वयं मष्ट होने जा रहा है।*

अब देवी में इस प्रकार स्तुति की जो जयवान् ब्रह्म उन सारे देवी से बोले—हे देवी ! तुम इतने मत्त, मैं तुम्हारे कल्याण की चार्ज का चिन्तन करूँगा। ब्रह्मा जी ने एक लाख छप्पाकरमक एक ग्रंथ की अपनी बुद्धि के अनुसार रचना की। मैं तुम्हारे राजन् ! इस मूल नीतिशास्त्र की रचना करके भगवान् ब्रह्मा जी ने प्रसन्न होकर इन्द्रादि देवी से यह वचन कहा—हे देवी ! जगत के उपकार और त्रिवर्ग (धर्म, मय, काम) की स्थापना ॥ निर्मित ज्ञान और सार निकालकर यह युक्ति प्रकाशित की है। यह दण्ड के साथ लोगों की रक्षा करनेवासी होगी।† दण्ड से संसार चलाना जाता है अथवा इस ग्रंथ में दण्ड का विधान है—इससे इस शास्त्र को दण्डनीति कहते हैं। इस नीति का प्रभाव तीनों लोकों में विद्यमान है।‡

महाभारत का उपरोक्त वर्णन हमें उस प्रकृति गुण की ओर संकेत करता है जिसका वर्णन पर्वत के प्रतिष्ठित तत्त्वज्ञानों की इसी महोदय ने अपने विचारों के द्वारा किया है। इन दोनों वर्णनों में किसी जंगल तक समानता भी पाई जाती है। दोनों लेखकों का कथन है कि जाति काल में एक ऐसा युग था जब मनुष्य अनेक प्रकार से तुली एवं सम्पन्न था

*—शेवोऽहं किमपिप्यामि श्येतु नो भीः सुर्यमा ॥

स्क० २८ अ० ५६, भा० ५० ।

†—ततोऽप्याय सहस्राब्दां शतंषष्ठे स्वयुद्धिन्म ॥

स्क० २६ अ० ५६, भा० ५० ।

‡—उपकाराम लोकस्य त्रिवर्गस्यापगत्य च ।

वचनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभावितः ॥

स्क० ७३ अ० ५३, भा० ५० ।

§—इत्येव नीयते चेद् दुर्बलं नयति वा पुनः ।

इत्यहं नीतिवित्तिक्याता श्रीमद्विष्णुसमिपति ॥

स्क० ७८ अ० २३, भा० ५० ।

धीरे एक दूसरे के सहयोग से जीवन व्यतीत होता था । दोनों का यह विश्वास है कि पाप (Crime) की उत्पत्ति बाप में हुई । मनुष्य के स्वार्थ सम्बन्धी विकार उस युग में सुपुष्टि अवस्था में थे । परन्तु शीघ्रः शीघ्रः यह विकार जाग्रत संवेष्टा की प्राप्ति होकर इन्होंने मनुष्य जीवन को नारक्षीय बना दिया । दोनों लेखकों ■ सामने अब यह प्रश्न था कि यह सुख और छांति का युग पुनः कैसे लौटे ? इसी महोद्देश्य अपने उद्देश्य की सफलता के हेतु एक नये सिद्धान्त की स्थापना करते हैं जो इतिहास में समाज अनुबन्धवाद (Social contract Theory) के नाम से विख्यात है । इस सिद्धान्त की स्थिर कर यह राज्य और सरकार का निर्माण करते हैं जिसकी आधार शिला जनमत (General will) है । परन्तु महाभारतकार उस स्वतन्त्र के पुनर्निर्माण के निमित्त ब्रह्मा की करण सेता है और जो लोगों के कल्याण के हेतु एक सात अध्यात्मिक ग्रंथ की रचना करता है और लोगों को आदेश देता है कि वह इस ग्रंथ में वर्णित नियमों के अनुसार अपना आचरण बनाएँ । इस प्रकार महाभारतकार इसी महोद्देश्य से इस स्थल पर निम्न विचार रखते हैं । इसी द्वारा अधिष्ठ राज्य की आधारशिला जनमत (General will) पर निर्भर है परन्तु महाभारतकार जिस राज्य की स्थापना करना चाहता है उसकी आधारशिला ब्रह्मा द्वारा निर्मित विधि है यथा यों कहना चाहिए कि इसी जिस राज्य का निर्माण करता चाहता है उसका उत्तरदायित्व जनमत पर है, परन्तु महाभारतकार के राज्य का उत्तरदायित्व उस विधि संग्रह पर है जिसको ब्रह्मा ने सौक-रक्षणा के लिये रचा था । इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह विधि पवित्र, श्रेष्ठतम, तथा नित्य है और महाभारत में वर्णित राज्य का उत्तरदायित्व इन विधियों पर है ।

महाभारतकार माने यह कहता है कि ब्रह्मा ने सौक-रक्षणा के हेतु विधियों की रचना तो कर दी और इस प्रकार का आदेश भी कर दिया कि लोग इन विधियों के अनुसार अपना आचरण बनायें जिससे वह स्वर्ण युग पुनः लौट आयेगा । परन्तु इसी एक महान् समस्या यह थी कि इन विधियों को जनता पर लागू कैसे किया जाय ? इसलिये वह देवगण जगत रक्षक विष्णु भगवान् की करण में जाते ■ और उनसे इस बात की प्रार्थना करते हैं ■ वह उन्हें मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ

भक्ति की लक्षित करने की कृपा करें।* विष्णु महाबल राजीगुण रहित एक तेजस्वी मानस पुत्र की रचना करते हैं।† परन्तु वह महा-नुमान राजीगुण रहित होने के कारण पृथ्वी का राजा होना स्वीकार नहीं करता है।* इसके पश्चात् कई राजाओं का नियन्त्रि होता है। द्रुपद वेन बा। यह वेन प्रजा में पापों की वृद्धि करता था और सर्वदा राग-द्वेष में केंद्रा रहता था। इससे ब्रह्मनादी भूविधों ने संन्यस्त कुलाश्रितों से उसे मार डाला।† महर्षियों ने वेन के दाह हाव को मय कर इन्द्र तुल्य सुन्दर पुरुष की उत्पत्ति की। इस नरोत्तम को घाटी दण्ड नीति भली भाँति आती थी।‡ यह वेन पुत्र हाव छोड़ कर उन महर्षियों से बोला—मैं और मर्ष के देखने में तत्पर मुझ में सुभ्य-वृद्धि विकसित हो रही है। हे मुनिगण, इस वृद्धि से मुझे क्या करना चाहिए? आप धर्मात्मा इसका रहस्य बताइये। आप जिस गम्भीर मर्ष के रहस्य

*—अथ देवाः समागन्त्य विष्णुमुचुः प्रजापतिम् ।

एकौ योऽर्हति सर्वेभ्यः श्रेष्ठ्यं वै तं समादिता ॥

स्कन्धो १० अ० २६, श्लो० ५० ।

†—ततः संविष्य भयवान्प्रेतो वाराहस्यः पशुः ।

तेजस्तं वै विरजसं शोऽस्तुल्यमायसं सुतम् ॥

स्कन्धो १० अ० २६, श्लो० ५० ।

*—विरजास्तु महाभागः प्रभुरर्षं भुवि धेयुजम् ।

म्यासा वैका अथपुत्रुदिः मर्षीता तस्मै पाचयन् ॥

स्कन्धो १० अ० २६, श्लो० ५० ।

†—तं प्रजामु विनर्मासं रामद्वेयं पशानुगम् ।

मम भूतैः कुशोर्जन्तु चैवसो प्रजापातिनः ॥

स्कन्धो १० अ० ५३, श्लो० ५० ।

‡—वेदवेदोगविष्येव भवुर्मेव च पातगः ॥

स्कन्धो १० अ० २६, श्लो० ५० ।

† इच्छंतीतिः स्वजायिता राजन्मरोक्षम् ॥

स्कन्धो १० अ० २६, श्लो० ५० ।

बुद्धों मेंरा कर्तव्य बतावेंगे मैं उसे ही कर्त्तव्य इसमें किसी प्रकार के संकोच की आवश्यकता नहीं है ।*

देव और महर्षियों ने 'महपुत्र' से कहा—जिस कर्म में धर्म की स्थिति हो उसे तुम निःशंक होकर करो । जब तुम निमःपन्नियम का भेद छोड़ कर सारे प्राणियों में समान व्यवहार करो ।† काम, क्रोध, मोह और बाह्यकार को भी दूर से नमस्कार करो । जो मनुष्य संसार म धर्म से विचलित हो जाए उसे तुम धर्म की ओर वृष्टि रखकर अपनी भुजाओं के बल से दण्डित करो ।‡ तुम मन वाणी और कर्म से ऐसी गण्य हो कि जयन्त को ब्रह्मा का स्वस्थ मानकर उसकी सर्वदा रक्षा करते रहोगे ।× जो दण्ड नीति के अनुकूल निम्न धर्म महर्षियों ने कहा है तुम उसका सर्वदा निःशंक होकर पालन करते रहोगे और

*—ततश्चु प्राजिज्ञैर्बन्धो महर्षिस्तातु वाच्यः ।

श्लो० १०० अ० २३, शा० ५० ।

यजन्वा किं मया कर्म तन्मे नरकेव शंसत ॥

अर्था मरान्णो वस्यन्ति कर्ममर्धं समन्वितम् ।

तद्वं वैश्वरिण्यामि मात्रं कायां विचारया ॥

श्लो० १०१-१०२ अ० २३, शा० ५० ।

†—निश्चनो यत्र धर्मो वै तमखङ्गः समाचर ॥

श्लो० १०३ अ० २४, शा० ५० ।

‡—जिमां धिये पक्षिपत्य सभः सर्वेषु जन्तुषु ।

कामं क्रोधं च मोहं च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥

श्लो० १०४ अ० २४, शा० ५० ।

ददध धर्माग्रविषयलोकोके कश्चनमानवः ।

विप्रच्छस्ते स्वबाहुभ्यां शस्त्रद्वर्ममवेकता ॥

श्लो० १०५ अ० २५ शा० ५०

×—प्रतिष्ठां चाविरोहस्व ममसा कर्मचार निरा ।

प्राजपित्याम्भई मौर्मं नष्टं दूरयेव चासहृद् ॥

श्लो० १०६ अ० २६, शा० ५० ।

मुद्वेचान धर्मो विद्योको दृक्कमीति ध्वपात्मयः ।

तमसीकः कस्मिन्नामि स्ववहो न कदाप्यन ॥

श्लो० १०७ अ० २६, शा० ५० ।

कभी उच्छ्वसित न होये । तुम यह भी प्रतिज्ञा करो कि तुम साहसियों को दण्ड नहीं दोगे तथा जगत में यदि भयानक होने लगे हो तुम उनको रक्षा करोगे ।*

अब बनेपुत्र पूष ने यह शपथ ले ली तब काहुनादी ऋषियों ने ठीक समयकर सहाजानी, विद्यानिधि सुमन्धार्य को उसका पुरोहित बनाया । दालनित्य ऋषि मंत्री और सारस्वत अधिकारी गण बनाए गए । भगवान् भर्गव ने उसके ज्योतिषी बने ।† श्रुति ने यही प्रतिपादन किया है कि यह विष्णु ॥ पाठवाँ पुत्र था ।‡

यह कथा कई महत्त्वपूर्ण स्थलों पर प्रकाश डालती है—राजा की उत्पत्ति के पूर्व विधि (Law) प्रचलित थे और यह विधि (Law) प्रथम स्पष्टतम और निरूप्य थे । राजा की उत्पत्ति उस समय हुई जबकि जनता में इस विधिसंग्रह के लागू करने की आवश्यकता हुई क्योंकि एक ऐसा युग उपस्थित हो गया था जहाँ कि स्वार्थ के अधीन हो मनुष्य एक दूसरे के हितों का ध्यान न रखता था । इस प्रकार राजा की आवश्यकता केवल उस समय तक समझी गई जब तक संसार में पाप रहेगा । प्राचीन मुक्त सन्ति और पारस्परिक सहयोग के स्वार्थ युव के पुनः लौट आने पर राजा की आवश्यकता न रह जायगी । राजा का मुख्य कर्तव्य था कि वह अपने राज्य की प्रजा की धर्ममार्ग पर चलने के लिए बाधित करे । यदि राजा अपने कर्तव्य से प्युत होवा तो वह शक्ति प्राप्त किया जायगा यहाँ तक कि उसे प्राणदण्ड तक दिया जा

*—अथर्ववेदा में हिंसास्थिति प्रतिज्ञानीदि हे विमो ।

ओहं च संकराकृत्स्नं प्राप्तास्मीति परंपर ॥

स्क० १०८ अ० ५३, शा० ५० ।

†—एषमस्तिषि वैष्मस्तु सैवमे जहावादिभिः ।

पुरोधश्चामवसत्स्युको जहामयो निभिः ॥

स्क० ११० अ० २६, शा० ५० ।

‡—मंत्रिषो वाज क्षिप्रवारण सारस्वत्यो गच्छस्तथा ।

सहस्रमिर्बाजानांभारण्य सौमसरोऽभवत् ॥

स्क० १११ अ० २६, शा० ५० ।

§—प्राप्तमवाज्जम ह्येव भविरेव परा सुपु ।

स्क० ११२ अ० ५२, शा० ५० ।

सकता है। उसे ऋषियों ने जो कि अपने सिद्ध आचरण और ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे राजा बनाया और मनुष्यों का यह वर्ग राजकर्ता होने के कारण राजवंश से मुक्त था। यह वर्ग धर्म के साक्षात् रूप होने के कारण राजसत्ता के धारण करनेवाले थे परन्तु उन्हें भी मानव धर्म के अधीन रहना पड़ता था। राजा रजोगुरु मुक्त था और मनुष्यों से सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति था। राजा को प्रभावशाली रहने एवं नित्य धर्म स्मरण करने की सख्त आज्ञा देने के पूर्व सेना पड़ती थी। राजा को यह क्षमता मन्त्रीरतापूर्वक भक्त-वचन और धर्म से सेना आवश्यक थी। राजा के मंत्री, पुरोहित तथा अन्य अधिकारीगण ऋषियों द्वारा नियुक्त किये गये थे जो अपनी कुशाग्रबुद्धि और बुद्धाचरण ■ भिन्न प्रसिद्ध थे।

संक्षेप में ऋषियों के हाथ में राज्य विधि के रूप में रहता था जो राजा को कठिण निर्धारित प्रतिबन्धों के साथ सौंप दिया जाता था।

महाभारत के सांख्यिक में एक दूसरे स्थल पर भीष्म एक दूसरे युग का इतिहास देते हुए राज्य निर्माण का दूसरा विद्वान्त स्मरण करते हैं। वह इस प्रकार है:—

भीष्म कहते हैं—हमने यह सुना भी है कि पूर्ब काल में राष्ट्र का कोई राजा नहीं था। उस समय प्रजा नष्ट होती रहती थी। लोग परस्पर निर्बल मनुषियों को सकल मत्स्यों की भाँति खा पाते थे।* हमने सुना है कि उस लोगों ने एकत्र होकर यह नियम बनाया कि हमारे मध्य में जो व्यक्ति कठोरभाषी, दंड परामर्श, परस्त्री अपहरण करी होगा तथा जो अन्य के जन का अपहरण करेगा उसे हम अपने समूह से निकाल देंगे।† उन्होंने निश्चय तो बना लिया किन्तु उस

*—अराजकः प्रजाः पूर्वे विनेष्टुरिति नः श्रुतम् ।

परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव क्षतेकुलात् ।।

श्रुतौ० १७ अ० १७, शा० प० ।

†—समेत्य वास्तव्यमकुः समधामिति नः श्रुतम् ।

वाक्कुलो दृढमक्षयो वरच स्वाध्यात्मनिष्ठः ।।

श्रुतौ० १८ अ० १८, शा० प० ।

नः परस्वमेवा दद्यात्वाजा मत्स्या एता इति ।।

श्रुतौ० १९ अ० १९, शा० प० ।

पर चस न सके ।* इस प्रकार दुखी होकर अन्त में वह पितामह ब्रह्मा जी के पास गये और कहने लगे—हे भगवन् हम सोच विना राजा के मर चुके हैं । पाप हमारे लिए राजा बतार्हे ।† हम सोच एकत्र हो उसकी पूजा करते रहे और वह हमारा बालन करे । पितामह ब्रह्मा ने मनु की प्रस्तुत किया ।‡ परन्तु मनु इस विचार के प्रसन्न नहीं हुए ।× मनु जी कहने लगे हे, ब्रह्मन् राजा बनने पर पाप कर्म होता आवश्यक है क्योंकि राजा को लोगों को दण्ड देना पड़ता है । इसीलिए राज्य का ग्रहण करना बड़ा दुस्तर काम है और मनुष्यों का राज्य ग्रहण करना भी कठिन है क्योंकि वह सर्वदा मिथ्याचार में लगे रहते हैं ।‡ उस समय प्रजा ने मनु से कहा—तुम करो मत (मा नी) दण्ड देने में पाप नहीं है वह तो जो पाप करता है उसी का पाप है । हम लोग पशु और पक्षियों के काम का पचासवाँ तथा मानव का दसवाँ भाग तुम्हारे कौश की बुद्धि के विनिष्ठ देते रहेंगे ।+ अब कोई कन्या विवाह के लिए उद्यत

*—तास्तथा समर्थं कुरुष्वः समये नावतस्मिन्ने ॥

स्क० १६ अ० १७, शा० प० ।

†—सहितस्तास्तथा अभ्युदयं दुःखार्ताः पितामहम् ।

अनोदयदा विनम्रतामो भगवन्निश्वरंदिषु ॥

स्क० २० अ० १७, शा० प० ।

‡—यं एवमेव सम्भूय सत्यं नः प्रतिपादयेत् ।

ततो मनुं व्यवदि देश + + ॥

स्क० २१ अ० १७, शा० प० ।

×—भुवर्धनिमनन्दतः ॥

स्क० २१ अ० १७, शा० प० ।

‡—विनेमि कर्मजाः पापाप्राप्त्यं हि भूरादुस्तरम् ।

विनेपतो मनुष्येषु मिथ्या वृत्तेषु मिथ्या ॥

स्क० २२ अ० १७, शा० प० ।

+—पशुपामयिनाशश्चित्तवत्यस्य सर्वैष च ॥

स्क० २३ अ० १७, शा० प० ।

आत्मस्य दसमं भागं दास्यामा कोशधर्मम् ॥

स्क० २४ अ० १७, शा० प० ।

होनी उसको सर्वप्रथम यापकी भीट करेंगे । जो मनुष्य मुख्य हैं या खल और बाहन से सुसज्जित हैं वह इन्द्र के पीछे देवों की तरह तुम्हारे पीछे चलेंगे । राजा से सुरक्षित होकर प्रजा जिस धर्म का आचरण करेगी उस धर्म का चतुर्धाष तुमको मिला करेगा ।*

इस स्थल पर महाभारतकार राजा की उत्पत्ति के एक नवीन सिद्धान्त की कल्पना करता है । वह एक ऐसे युग का वर्णन करता है जिसमें चारों ओर भराजकता, विप्लव, पाप और अत्याचार फैला हुआ था । प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी का गला काटने पर कटिबद्ध था । इस युग में सारे अधिकारों एवं नियमों की आधारशिला स्वार्थ मान था जहाँ प्राणे बलकर आचरण का विधि (Law) की उत्पत्ति हेतु हुई ।

महाभारतकार द्वारा वर्णित इस युग की कल्पना शास्त्र महोदय के उक्त युग की कल्पना के समान है जिसके आधार पर वह राज्य अपना राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक नये सिद्धान्त का निर्माण करते हैं । महाभारतकार का यह सिद्धान्त इसी प्रकार पूर्व वर्णित सिद्धान्त से भिन्न है । पूर्व वर्णित युग मुक्त, शान्ति एवं आस्त्यरिक सहयोग का है परन्तु यह युग भराजकता, अत्याचार, पाप और वीरता एवं स्वार्थ-परता का है; परन्तु यहाँ भी हम यह पाते हैं कि राजा की उत्पत्ति के पूर्व विधि संहिता बन चुका था परन्तु पहले प्रकारण में विधि संग्रह की रचना भगवान् ब्रह्मा के द्वारा हुई थी इन्होंने यह नियम पवित्र, सर्व-श्रेष्ठ और नित्य हैं परन्तु दूसरे प्रकारण में विधि (Law) का अन्त मनुष्यों की इच्छा से हुआ १० नियमों का अन्त मनुष्यों के एकत्र समूह की स्वीकृति से हुआ । इस प्रकारण में यह विधि संग्रह लौकिक

*—अर्थात् शत्रुओं को पादसे विधाहेच्छतामुक्तः ॥

श्लो० २४ अ० १०, शं० १० ।

सुखेन तस्य पत्रेण ये समुभ्याः प्रधानतः ।

अधर्म्मतेऽनुवाक्यं मित्रेण मित्रदेवताः ॥

श्लो० २५ अ० ६३, शं० १० ।

यं च धर्मं चरिष्यन्ति मया राजा सुरक्षिताः ।

चतुर्थे तस्य धर्मस्य त्वात्सर्ग्यं सविष्मति ॥

श्लो० २० अ० ६७, शं० १० ।

है यह वैसी कदापि नहीं है । इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार विधि का जन्म जनता की स्वीकृति पर निर्भर है ।

इस सम्बन्ध में महत्त्व की दूसरी बात यह है कि राजा ब्रह्मा द्वारा केवस भक्षित किया गया था परन्तु उसे स्वीकार करना समया अस्वीकार करना जनता के अधिकार में था । मनु को राजा बनना कदापि ठीककर न था क्योंकि वह इतने महान उत्तरदायित्व के वहन करने में हिचकिचाते थे । केवस प्रजा का अनुरोध था जिससे प्रेरित हो मनु ने राज-पद स्वीकार किया । इस प्रकार राज-पद बड़े उत्तरदायित्व का पद समझा जाता था । राजा इस पद को कतिपय निर्धारित प्रतिबन्धों एवं कर्तव्यों के साथ ग्रहण करता था । यदि अपने कर्तव्य पावन में राजा अयुक्त होता हुआ पाया जाता था तो वह महान पाप का भागी समझा जाता था । ऐसी स्थिति में उसे अपने पद ही नहीं बरन् जीवन से भी हटा दिया जाता था ।

कौटिल्य महोदय जो कि साम्राज्यवाद के प्रबल पोषक रहे हैं, राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार रखते हैं उनके कथनानुसार मत्स्यन्याय से व्याकुल हो मनुष्यों ने वैवस्वत के पुत्र मनु को राजा बनाया ।* उन्होंने धान्य का छूटा भाग व्यापार और स्वर्ण की धातु का दसवाँ भाग राजा के लिये प्रदान करने का वचन दिया ।† साम में उन्होंने यह भी कहा कि उनकी धातु का यह भाग उस राजा को न दिया जायगा जो कि उनकी रक्षा करने में असमर्थ होगा ।× इस प्रकार कौटिल्य महोदय भी महाभारतकार ॥ इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं और यह सिद्धान्त किसी अंश में योरोप के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हाम्ल द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से समानता रखता है ।

*—मत्स्य न्यायानिभूताः प्रजासन्तु वैवस्वतम् राजानं चक्रिरे ।

पार्ता ६ अ० १३ अधि० १, अर्थशास्त्र ।

†—धान्यकृभार्तं पचप दश भागं हिरण्ये चास्यभागं केचं प्रकल्पयामासु ।

पार्ता ० अ० १३ अधि० १, अर्थशास्त्र ।

×—तत्त्वैतद्भूभारा केचमोऽस्मान्मेपात्यतीति ।

पार्ता ६ अ० १३ अधि० १, अर्थशास्त्र ।

परन्तु राजा की उत्पत्ति ■ सम्बन्ध में महाभारतकार के इस सिद्धान्त और हाव्य महोदय द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त में निदान्त समानता है ऐसा कहना बड़ी भूल होगी । वास्तव में बात यह है, जैसा कि डाक्टर चोपाल ने भी लिखा है कि यदि इन दोनों सिद्धान्तों में कोई समानता है तो वह समानता केवल उस प्रकृतियुग्म के वर्णन में है जिसमें मनुष्य हर प्रकार से दुर्बी, पीड़ित और पराधस्त था । अन्य बातों में दोनों सिद्धान्तों में आकाश पाताल का अन्तर है । महाभारतकार का यह सिद्धान्त हाव्य के विचारों से कहीं धागे बढ़ा हुआ है । हाव्य महोदय राजा में असीमित शासनाधिकार निहित करते हैं और उसी में राज-सत्ता स्थापित करते हैं जो किसी प्रकार से कभी भी वापस नहीं ली जा सकती परन्तु महाभारतकार राजा के अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाता है और यह प्रतिबन्ध वैधानिक प्रतिबन्ध है । उसके मतानुसार राजा की राज-सत्ता इन प्रतिबन्धों ■ तम प्रजा द्वारा केवल उस समय के लिये ■ जाती है जब तक कि वह उसका उचित प्रयोग करता रहता है और यदि वह इसका अनुचित प्रयोग करता है तो वह राज-सत्ता बलात्कार खीन ली जायगी । इन प्रतिबन्धों का परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू राजा एक ऐसा प्राणी बन गया है जिसकी उत्पत्ति राज्य के नियमों के द्वारा होती है और इस प्रकार राज्य में उसका स्थान दूसरी धेरी में होता है अर्थात् उसे राज्य के नियमों की अधीनता में काम करना पड़ता है । यदि वह इन नियमों की तोड़ता है तो राज्य-भद्र से उत्तार जा सकता है । उसे वैधानिकाला मिल सकता है यहाँ तक कि वह मृत्यु के बाद उतारा जा सकता है । इस सम्बन्ध में राजा केवल ज्वलन्त प्रसार है । इस प्रकार महाभारतकार प्रजा के लिये यह अधिकार प्रमाणित करता है कि वह अन्धकारी राजा के विरोध में विपक्ष खड़ा करे, परन्तु हाव्य के मत से प्रजा की यह अधिकार किसी प्रकार प्राप्त नहीं है । महाभारतकार इस बात का पीछा है कि प्रजा को गट्ट हुये जहाज की भाँति उस राजा को त्याग देना चाहिये जो कि अपनी प्रजा की रक्षा नहीं करता ।* हाव्य का यह मत है कि विधि

*...उत्पत्तिप्रमाणो जहाजिनी भावमिवार्थः ।

(Law) का बनाया जाता रह करता राजा का ही काम है और वह इन नियमों के अधिकार से बाहर है वह नियम उसपर लागू नहीं किये जा सकते । परन्तु महाभारतकार की दृष्टि में ऐसी बात नहीं है । महाभारत के हिन्दू राजा को राज्य में विधि बनाने अथवा उन्हें रह करने का अधिकार भी अधिकार नहीं है, उसका तो केवल यह अधिकार है कि वह इन विधियों को वास्तविक रूप में अपने राज्य की प्रजा पर लागू करे । प्राचीन भारत में हिन्दू राजा को इस बात का कभी अधिकार नहीं दिया गया था कि वह राज्य-संभालन के नियम बनाये । उसके अधिकारों की परिधि इन नियमों की सीमा के बाहर कभी नहीं रही है । उसे राज्य के नियमों का पालन करना आवश्यक था और इन विधियों की सीमित परिधि में ही काम करना पड़ता था । हाब्स बहोव्य को इस बात का कभी स्वप्न भी न हुआ था कि राज्य की स्थापना समाज के कल्याण के लिए होती है और वह इस कल्याण की वृद्धि का कारण होता है । परन्तु महाभारत में वर्णित हिन्दू राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह लोककल्याण की वृद्धि करे ।*

इस प्रकार महाभारत में राज-पद राज्य में उच्च कोटि का पद माना जाता था । और इस पद का निर्माण राज्य की समस्त जनता की इच्छा पर निर्भर था । जनता की सेवा के लिये जो कि राजा के द्वारा की जाती थी जनता के द्वारा उसे वेतन दिया जाता था, जो पर्याप्त मात्रा में होता था और करों के रूप में होता था । जिससे उसके इस उच्चपद की प्रतिष्ठा स्थिर रह सके ।

महाभारत के अन्तर्गत उपर्युक्त दृष्टान्तों को एकत्र करने और उन पर प्रकाश करने के उपरान्त पाठक निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचता है ।

१—प्रारम्भिक युग में मनुष्य ऐसे प्रकृतिराज्य में रहता था जो

अश्विपति राजानं भार्यां चाश्विनवाहिनीम् ।

प्राप्त कर्मं च गोपालं चक्रकर्म च नापिचम् ॥

श्रुति० १४-४२ अ० ६०, श्रु० १० ।

*—उपकाराय लोकस्य विचरगस्थापनाय च ॥

श्रुति० ३६ अ० ६६, श्रु० १० ।

धार्मिक, सुख, सान्तिमय और पारस्परिक सहयोग का था। प्रत्येक व्यक्ति सुख एवं-सन्तोष का जीवन व्यतीत करता था।

२—मनुष्य में उन विकारों के जागृत होने से जो कि सभी तक सुषुप्ति अवस्था में पड़े हुये थे, लोगों में भ्रमान्ति और घराबकता फैली। इन विकारों के जागृत हो जाने से मनुष्य पर मोह, लोभ, काम, राग आदि दोषों ने आक्रमण किया जिसका परिणाम यह हुआ कि दुःख, शोक, संताप, घराबकता और भ्रमान्ति आदि ■■■ प्रातःक चारों ओर छा गया। प्रत्येक व्यक्ति मत्स्य-वाय को अपनाते लगा। इस सबका परिणाम यह हुआ कि मलय जीवन नारकीय और मातनामय बन गया जिसमें कोई भी व्यक्ति ऐसा न रहा जो कि अपने को सुरक्षित समझता। प्रत्येक व्यक्ति अपने को चारों ओर से दुःख और पाप से घिरा हुआ पाता था।

३—समाज की यह परिवर्तित स्थिति लोगों के लिये असह्य थी। इसलिये उन्होंने एक स्थान पर एकत्र होकर शिष्ट व्यवस्था सम्बन्धी नियम बनाये। इस प्रकार जनता की सम्मति से विधि (Law) का जन्म हुआ।

४—इन नियमों को लागू करने ■■■ लिये उन्हें एक सर्वश्रेष्ठ अधिकारी की आवश्यकता हुई। क्योंकि कोई भी व्यक्ति इन नियमों का इच्छापूर्वक पालन करने ■■■ लिये प्रस्तुत न था। एक सर्वश्रेष्ठ अधिकारी के बिना पूर्वनिर्मित नियम व्यर्थ सिद्ध होते थे। इस प्रकार राजा के निर्माण की आवश्यकता हुई।

५—भगवान् ब्रह्मा ने उनके सामने मनु को प्रस्तुत किया और मनु को उन्होंने अपना राजा स्वीकार किया। वास्तव में ब्रह्मा ने मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य को राजपद के लिये प्रस्तुत किया और यह जनता थी जिसकी स्वीकृति से वह राजा बनाया गया।

६—राज-पद बड़े उत्तरदायित्व का पद माना जाता था। क्योंकि मनु के समान श्रेष्ठ व्यक्ति भी राज-पद प्राप्ति के हेतु अपनी स्वीकृति देने में हिचकते थे।

७—धारम्य में राजा का मुख्य कर्तव्य विधि (Law) को लागू करना और विधि भङ्ग करनेवालों (Law breakers) को दण्ड देना था।

c—राजा की नियमों के अनुसार उसकी सेवा के लिये उसकी वेतन रूप में धन से सहायता करते थे। इस राजा का पुरोहित उसके भंत्री और अन्य अधिकारीगण बाह्यियों के द्वारा नियत किये गये थे।

d—राजपक्ष पाने के पूर्व राजा की प्रजाभक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी।

e—बाह्यगण राज-व्यय से मुक्त थे, क्योंकि राजा और उसके मंत्रिमण्डल की नियुक्ति में बाह्यियों का प्रभुत्व हाथ रहता था।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजा की देवी उत्पत्ति का कथित सिद्धान्त और अनुकम्पवाद के दोनों सिद्धान्त (Social contract) जो राजाधरा और महाभारत दोनों में पाये जाते हैं, निश्चयपूर्वक प्रजासत्तवाद् के पोषक हैं। यह सिद्धान्त प्रजासत्तवाद् एवं वैधानिक सरकार का कहीं भी विरोध नहीं करते। इसलिये इन सिद्धान्तों को प्रजासत्तवाद् के तत्त्वों में सम्मिलित किया जा सकता है।

द्वितीय अध्याय

राजा की नियुक्ति के सिद्धान्त

वीर वंश में जन्मः—महामारतकार के मतानुसार पृथ्वीतल पर जो कुछ है वह सब बाह्यणों का है क्योंकि वह ब्रह्मा के अष्टौ घोर श्रेष्ठ रूप हैं।* इसलिये राज्याधिकार जन्हीं को प्राप्त है। परन्तु वह धार्मिक कृत्यों और शानोपाजन में इतने व्यस्त रहते हैं कि राजकार्य की ओर समुचित ध्यान नहीं दे सकते। इसलिये वह इस कार्यभार को अपने श्रेष्ठ और अपने से छोटे भाई को सौंप देते हैं। इस प्रकार अनियत वर्षों अथवा हिन्दू समाज में वह वर्ग जो वीरता के लिए प्रसिद्ध है, राज्य वास्तविक शासक (ब्राह्मणों की देस देस एवं उनकी संरक्षता में) बन जाता है। ब्राह्मण, पुरोहित और मंत्री रूप में उनके समीप रहकर उन्हें निरान्त सचेत करते हुए उनके पत्र-प्रदर्शक का कार्य करते रहते हैं।

इस प्रकार महामारत के अनुसार राज-पद पाने के लिए सबसे प्रथम इस बात की आवश्यकता होती है कि वह व्यक्ति वीरवर्ण हो और स्वयं भी वीर हो। रामायण में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि

*—विप्रस्य सर्वे मे मय किंच, जगतीमलम् ।

बभ्रं, भाव्यं, द्विरवर्षं सिद्धो रत्नादि काव्यम् ॥

रत्नो० १२ अध्याय ६६, या० प० । (पी०पी० काशी इन्स्टीट्यूट)

लोचरलेच्छरचयै द्विजः ॥

रत्नो० ॥ अध्याय ६६, या० प० । (वही)

भी गई है । रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थों में जिन मुख्य राज्यों का उल्लेख है वह राज्य ऐसे ■ व्यक्तियों द्वारा शासित होते थे । यही तब कि कुछ होने बिने ऐसे राज्यों में जिनमें सक्रिय धर्म के प्रतिरिक्त प्रत्येक वर्ण शासन करता था इसी सिद्धान्त का फलन किया गया था । इस युग के बाह्य राजा भी अपने बल, पौरुष और विक्रम के लिए शिद्ध थे । इस सम्बन्ध में रामायण ज्वलन्त प्रमाण है ।

वास्तव में बात तो यह थी कि कर्णाश्रम धर्म की मर्यादा स्थिर रखने और प्रजा में सब प्रकार से सुख और शांति स्थापित करने का उत्तर-दायित्व धारण कर कोई भी राजा उस युग में तब तक शासन कार्य में प्रयत्न नहीं हो सकता था जब तक कि उसमें शासन-सम्बन्धी योग्यता पूर्व कृपायुता के साथ साथ बल, पौरुष और अदभ्य साहस न होता । इसलिए रामायण और महाभारत काल में राजा बनने के लिए पहले प्रथम धायकता और धराने में अन्य अनिवार्य समझी गई थी ।

अध्याधिकारः—राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरा मुख्य सिद्धान्त अध्याधिकार का था । सम्भवतः इस सिद्धान्त के अन्तर्गत में यह धारणा निहित हो कि उस समय की जनता आतावरण के प्रभाव से रक्त के प्रभाव को अधिक महत्वधारी समझती होगी अथवा ऐसे ही अन्य दूसरे कारण हो सकते हैं जिनको दृष्टिकोण में रखकर इस सिद्धान्त पर बल दिया गया होगा । इसलिए महाभारत और रामायण के अनुसार उन्नत धराने में उन्नावरण बनने की अधिक सम्भावना थी । यही कारण है ■ यह दोनों ग्रंथ इस सिद्धान्त के समर्थक हैं कि राजा की नियुक्ति वंश परम्परा के सिद्धान्त ■ अनुसार होनी चाहिए ।

रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में इस विषय में स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है कि उस युग में वाजपय कुछ प्रतिबन्धों के साथ वंश-परम्परागत हो गया था । लगभग समस्त राजाओं ने जिनका उल्लेख इन ग्रंथों में पाया जाता है, राजपद का अधिकार इस नाते से प्राप्त किया था ■ वह राजधराने में उत्पन्न हुए थे । जनक, दशरथ, वालि, शक्तिधर, दुर्योधन, आदि राजा इस बात ■ साक्षी हैं ।

रामायण काल में इस सिद्धान्त का प्रचलन पूर्ण रूप से पाया जाता है । उस काल के साधारण से साधारण व्यक्ति भी इस सिद्धान्त की

बुद्धि करते हैं। कैकेयी अपनी दासी मंथरा से कहती है—हे मन्थरे ! भरत भी रामचन्द्रके सी वर्ष राज्य के उपरान्त मन्थरा ही पिता पितामह द्वारा भ्राया हुआ राज्य पायेगा। मन्थरे ! यह तो अश्वमेध का समय है तू जब क्यों रही है ? जाती कल्याण में तू बाधक क्यों बन रही है ? इस बात को सुनकर मन्थरा भ्रातृनाधिकार के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कैकेयी को सचेत करती हुई कहती है—जब रामचन्द्र राजा होंगे, तो उनके पदवात् उनके पुत्र राजा होगा। राज्यधिकार से भरत सेवा को लिए व्युत्त हो आया है।

राम-बन-मनन और वनारण की मृत्यु के पदवात् अयोध्या की गद्दी रिक्त हो जाती है राज्यकर्ता अयोध्या का राजपथ भरत को प्रदान करते हुए कहते हैं—भरत ! पिता पितामहों का राज्य ग्रहण करो। अपना अभिवेक कराओ और हम लोगों का पालन करो।†

वानर-राज बालि ने भी किष्किन्धा राज्य का राजपथ इसी सिद्धान्त के आधार पर पाया था क्योंकि वह किष्किन्धा के राज-पराने में उत्पन्न हुआ था। इस सम्बन्ध में सुग्रीव राम ॥ निदेशन करते हुए कहते हैं—भन्निषों ने बालि को वानर राज्य पर उसका अभिवेक किया। और बालि पिता पितामह से भाग हुए उस राज्य का शासन करने लगा। मैं उसके अनुगत मृत्यु के दधान रहने लगा।X हनुमान भी इस प्रथा के प्रचलन का समर्थन करते हुए कहते हैं—

*—मत्तरचापि रामस्य ध्रुवं वर्षं यत्तात्परम् ।

विदु पैतामहम् राज्य मचाप्सवति नरर्षभः ॥

श्लो० १६ सर्ग ८, अयो० का० ।

†—अविता शशवी राजा शशवत्स्य यः सुतः ।

राजवंशान् भरता कैकेयि पतिहास्यते ॥

श्लो० २२ सर्ग ८, अयो० का० ।

‡—राज्यं गृह्यन् भरत विदु पैतामहम् ध्रुवं ।

श्लो० ५ सर्ग ७३, अयो० का० ।

X—राज्यं प्रत्यासन्नस्तस्मै विदु पैतामहर्षं भवत् ।

श्लो० ३ सर्ग ९, किम्० का० ।

रामचन्द्र ! लीखे दीर्घों वाले बलवाली महात्मा बानरों का पिता पिता-
पहों से बसा घाया यह विश्वास राज्य प्रापकी कृपा से प्राप्त हुआ ।*

महाभारत में भी ऐसे प्रमाणों का भभाव नहीं है जो कि इस
सिद्धान्त के प्रचलन के पौदक हैं । महाभारत में कुरुवंश के राजाओं की
इस ऐसी शृंखला का उल्लेख है जिसमें वंशपरम्परागत पिता के पदचातु
पुत्र राजपद पाठा रहा है और यही बात महाभारत ■ संतर्भत अन्य
पक्ष-बंधों पर भी लागू होती है । धृतराष्ट्र अपने पुत्र दुर्योधन को
प्रचित प्रकार से सचेत करते ■ इत्यादि हो कहते हैं—दुर्योधन ! तू
राजा नहीं हो सका क्योंकि तू राजा का पुत्र नहीं है । बुधिष्ठिर पाण्डु
■ पुत्र है और पाण्डु कुरुओं का राजा वा अतः राज-पद का बही
अधिकारी है ।†

रामायण और महाभारत ग्रंथों में प्राप्त उपरोक्त प्रामाणिक सामग्री
के आधार पर यह सिद्ध होता है कि उस काल में राज-पद पाने के
लिए महान आवश्यकीय प्रतिबंधों में से एक प्रतिबंध यह था कि
भावी राजा राजवशने का हो । इसी सिद्धान्त ■ अनुसार राजपद-
शक्ति के अधिकार का निर्णय होता था ।

ज्येष्ठता का अधिकार—रामायण और महाभारत काल में राज-
पद पाने ■ लिए जो विशेष नियम लागू थे उनमें से ज्येष्ठता के
अधिकार का नियम भी एक प्रधान नियम था । यह दोनों ग्रंथ इस
शत के साक्षी हैं कि राजपद पाने के समय इस विषय का विशेषरूप से
गौरव होता था ।

अपनी पुत्री सीता के विवाह संस्कार के प्रवृत्त पर मिथिला के
राजा जनक इस सिद्धान्त के प्रचलन को मुस्तकभट से स्वीकार करते

*—अवप्रसादतकाकुत्स्थ विरूपैवामहं महत् ।

वाक्परायं सुर्व-भूम्यो सम्यक् कथयामिनाम् ॥

श्लो० ४ सर्ग २५, किष्० ५० ।

†—अथमासिनि राज्याय कर्त्तृत्वं राज्यमिच्छसि ।

भराजपुत्रो ह्यहमि पत्सवं हर्तुमिच्छसि ॥

श्लो० २१ अध्याय १४३, अयोध ५० ।

विभारोपस्य पुत्रास्त्वामिदं राज्यमिच्छं ।

श्लो० ३० अध्याय १४३, अयोध ५० ।

हुए कहते हैं—पिता ने मुझ अवेष्ट को राज्य दिया और (छोटे भाई)
कुलध्वज का भार मुझे सौंपकर वह जन में चले गये ।*

अयोध्या राज्य में भी यही प्रथा प्रचलित थी । राम अपने
समस्त भाइयों में से युवराज-पद के लिये इसी सिद्धान्त पर कि वह
भाइयों में सबसे बड़े थे, चरण किये गये थे । अयोध्या राज्य का कर्त्तव्य
और समस्त धारणियों का मूल कारण कैकेयी की शासनाधिकार से
इस नियम को मान्यता देना उचित समझती थी । उसने अपनी दासी
नंघरा से यह कहा था कि वह (राम) राजा के अवेष्ट पुत्र हैं,
इसलिए युवराज होने के सर्वथा अधिकारी हैं ।† नंघरा ने भी कैकेयी को
प्रवृत्त करते हुए कहा है कि उसे यह बात संवेष्ट होकर स्मरण रखनी
बाहिए कि राजा के सभी पुत्रों को राज्याधिकार प्राप्त नहीं होता ।
अब इस नियम का उल्लंघन कर सभी को राज्याधिकार दिया जाय
तो महान् प्रत्याय होया ।‡ इस कारण है सुन्दर कैकेयि । राजा सोम
अवेष्ट पुत्र को ही राज्य देते हैं ।× प्रिये । तुम्हारा यह पुत्र राम के
प्रभियंते हो जाने के उपरान्त राज-वंश तथा मुक्त से नी कूटा दिया
जायगा और वह घनाथ हो जायगा ।‡

राम के वनगमन के अवसर पर लक्ष्मण अपने बड़े भाई राम को

*—मातु अवेष्टं पिता राज्ये सोऽभिषिच्य पितृमहम् ।

कुलध्वजम् समावेष्ट्य मामे मयि चर्त भवतः ॥

श्लो० १३ सर्ग ३१, पाद ५० ।

†—रामो राजमुकुटे अवेष्टो गौराभ्यमनोज्ञैस्ति त

रत्नो० १४ सर्ग ३, पद्यो० ५० ।

‡—नहि राजः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भागिनि ।

स्वाध्यामान्ते तु सर्वेऽप्युपहान्तव्यो भवेत् ॥

श्लो० १३ सर्ग ३, पद्यो० ५० ।

× तस्मादवेष्टेऽपि कैकेयि राज्यं तन्नाशि धर्मिणा ॥

श्लो० १४ सर्ग ३, पद्यो० ५० ।

‡—असाधयन्त निर्ममस्तव पुत्रो भविष्यति ।

घनाथस्तु मेऽन्यथा राज्यं प्राप्य वससे ॥

श्लो० १५ सर्ग ३, पद्यो० ५० ।

राज्याधिकार के इस नियम की समुक्ति विज्ञाते हुए कहते हैं—यदि और लोक व्यवहार के अनुसार प्राप्त का ही अभिप्रेत होना चाहिए ।* सरत भी राज्याधिकार के इस नियम से भली प्रकार परिचित थे । वह कहते हैं—इस मूल (इक्ष्वाकु वंश) में जो सबसे बड़ा भाई होता है उसी का राज्याभिषेक होता है । दूसरे भाई उसके अवीन रहकर कार्य करते हैं ।† वह अपनी भाता कैकेयी को समझाते हुए फिर कहते हैं—राजपुत्रों में ज्येष्ठ भाता ही राजा बनाया जाता है इस बात को सभी राजा मानते हैं । इक्ष्वाकु वंशी राजा को इस सिद्धान्त का विशेष रूप से पालन करते हैं ।‡

राजा दशरथ की अन्तिम क्रिया हो जाने के उपरान्त अयोध्या राज्य के राजकर्त्ता एक होकर भरत को अयोध्या का राजा बनाने का प्रस्ताव रखकर कहते हैं—इस राज्य का कोई राजा नहीं है और राजा का ज्येष्ठ पुत्र निर्वाचित है । ऐसी स्थिति में पिता की आज्ञानुसार सरत राजा बनाये कार्य तो उनके राजा बनने में उन पर किसी प्रकार का दोष न आ सकेगा । × राजकर्त्ताओं का यह कथन सिद्ध करता है कि ज्येष्ठ भाई की उपस्थिति में उसके समर्थ होने पर भी यदि छोटा भाई अपने पिता का राजपद ग्रहण कर लेता है तो वह पाप का भागी होगा । इस प्रकार यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि रावणकाल में राज्याधिकार का यह नियम कि राजा ■ ज्येष्ठ पुत्र को ही राज्य

*—श्रीक विहितमसम्प्रेषदम्भसा भिषेचनम् ॥

रत्नो० १० सर्ग २३, अयो० का० ।

†—अस्मिन्नुपेहि सर्वेषाम् ज्येष्ठो राज्यभविष्यते ।

अपरे भावस्तस्मिन्प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥

रत्नो० १० सर्ग २३, अयो० का० ।

‡—सर्वत राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजा भविष्यते ।

राजा मेज्जसमम् तस्माद्विषयाद्वाङ्मन् विरोधतः ॥

रत्नो० १२ सर्ग २३, अयो० का० ।

×—स्वभक्तमवतोरजा राजपुत्र भवत्पतः ।

संगच्छन्नापराज्योति रत्नमेतद्वनार्यकम् ॥

रत्नो० ३ सर्ग २६, अयो० का० ।

मिलना चाहिए स्मर ॥ बुद्धा या और इस नियम का उत्सवण विशेष परिस्थितियों में किया जा सकता था ।

राजकर्त्तव्यों के द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव के उत्तर में भरत राज्याधिकार के दृष्टी सिद्धान्त को दोहराते हुए कहते हैं—ज्येष्ठ ही राज्याधिकारी होता है, वही हमारे कुल की रीति है । अतएव माए वतुर सोच मेरे लिए ऐसा प्रस्ताव रखें ।* रामचन्द्र हमारे बड़े भाई हैं, वह राजा होंगे और मैं चौदह वर्ष तक वनवास करूँगा ।† ऐसा कहने के उपरान्त भरत राम को प्रबोधना करते और उन्हें उनके राज्य को खोपने के लिए बत को प्रत्याग्न करते हैं । परन्तु राम तो बुद्धि संकल्प थे । वह अपने पिता की आज्ञा पालन करने में तैयार भी प्रसन्न होना धर्म-विरुद्ध समझते थे । इसलिए वह भरत को समझाते हुए कहते हैं कि तुम कम से कम मेरी अनुपस्थिति में चौदह वर्ष के लिए प्रबोधना के राजा बन जाओ । ऐसा करने से पिता वरारथ की आज्ञा को शांति मिलेगी कि वह अपने वचन का पूरा निर्वहण कर सकें । परन्तु भरत पुनः राम का ध्यान राज्याधिकार के इस नियम की ओर दिलाते हुए कहते हैं कि ज्येष्ठ के होते हुए छोटा भाई धर्म-राज्यपद नहीं पा सकता था वह हमारे कुल का परम्परागत नियम है ।‡

इतना ही नहीं कि रामावस्था काल में इस सिद्धान्त का पालन मार्गदर्शक के साथ राज्यों में होता था । सुदूर दक्षिण के प्रभाव प्रज्यों में भी राज्याधिकार का यह सिद्धान्त समान रूप से प्रचलित था । यहाँ तक कि किष्किना के मानव राज्य में भी इसी सिद्धान्त का पालन होता था ।

*—ज्येष्ठस्य राजत्वा निपमुक्तिरिह कुलस्य नः ।

मैत्रभर्षतोमन्त्रकृतार्हमिह ॥

इको० ० सर्ग ०६, अयो० ०६० ।

†—रामः पूर्वोहि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः ।

अर्हत्वरचये अस्त्वामि वर्याधि वरपथ न ॥

इको० ० सर्ग ०६, अयो० ०६० ।

‡—आरवतोऽयम् सदा धर्मः स्मिन्ने अस्माद् नृपतयम् ।

ज्येष्ठे पुत्रे स्मिन्ने राजा न कनीयाम्भवेन्नृपः ॥

इको० ० सर्ग ०१२, अयो० ०१० ।

क्रिष्णराज राव का राजा सुवीर बानि के राज्य ग्रहण करने के सम्बन्ध में निवेदन करता हुआ कहता है—उसके मंत्रियों ने यह समझ कर कि यह ज्येष्ठ है बानि को उसके पिता के स्थान में राजा बनाया ।* संका का प्रतिष्ठ राजा रावण भी अपने सहोदर भाइयों में ज्येष्ठ था ।†

इसलिए यह सम्भाव्य कहा जा सकता है कि रामायण-काल में राज्यपद प्राप्ति के लिए ज्येष्ठ होने के अधिकार का सिद्धान्त जनता में प्रचलित था और राजा की नियुक्ति के समय भी इस नियम का रक्षण करते थे ।

राज्याधिकार के इस सिद्धान्त पर महाभारत भी गीन नहीं है । उसमें इस सम्बन्ध के पर्याप्त संख्या में प्रमाण मिलते हैं । महाभारत में जिन राजाओं का उल्लेख है उनमें से एक दो की छोड़ कर लगभग समस्त ऐसे राजा थे जो अपने पिता के ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते राजा बनाये गये थे ।

महाभारत-काल के प्रतिष्ठ राजा युधिष्ठिर इसी सिद्धान्त के अनुसार हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर आसक्त थे । यह अपने भाइयों में ज्येष्ठ थे । यद्यपि मातृ-पक्ष से कर्ण ज्येष्ठ था परन्तु यह रहस्य कर्ण की मृत्यु के अवसर पर युधिष्ठिर को ज्ञात हुआ था । यदि युधिष्ठिर को इस रहस्य का ज्ञेय पहले ज्ञात होता ■ युधिष्ठिर जैसा धर्मात्मा राजा अपने ज्येष्ठ भाई के होते ■ राज-पद कदापि ग्रहण न करता । इस बात की प्रत्यता कर्ण को विवित थी । इसीलिए उसने कृष्ण को सचेत करते हुए यह कहा था—मैं मातृ-पक्ष से युधिष्ठिर का बड़ा भाई हूँ इस रहस्य को आप नहीं सावधानी से मुक्त रखेंगे । यदि यह रहस्य किसी शत्रु भी संयत-हृदिय धर्मात्मा युधिष्ठिर के कानों तक पहुँच गया कि मैं सुन्ती का ज्येष्ठपुत्र हूँ तो वह किसी प्रकार से भी राज्य ग्रहण न

*—स्वित्त्वपराते तस्मिंज्येष्ठोऽयमिति मंत्रिभिः ।

कपीनामीश्वरो राजवेकृतः परम सम्मतः ॥

स्कन्धो २ सर्ग ४, किष्कि ७४० ।

†—समिधान्तरे भ्राता समन्व ज्येष्ठ वीर्यवान् ।

कुम्भकर्णो महा सेनाः राजमति पशो मुखि ॥

स्कन्धो १० सर्ग १३, युद्ध का ० ।

करेगा^१। यदि इस प्रकार से मैं राज्य वा भी चूँगा तो मैं राजा न रहूँगा क्योंकि राज्य पाकर मैं समस्त राज्य दुर्वोधन को सौंप दूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा मैं पूर्वं ही कर चुका हूँ ।†

राज्याधिकार के इस सिद्धान्त के समर्थन में एक और प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है जो इस सिद्धान्त की पुष्टि का भूतूठा प्रमाण माना जा सकता है। नहुष-युग ययाति को अरावस्था प्राप्त होने पर उसने राज्य-भार अपने पुत्र को सौंप देने का संकल्प किया। ययाति अपने ज्येष्ठ पुत्र की अपेक्षा छोटे पुत्र में विशेष प्रेम रखता था। इसलिये उसने ज्येष्ठ पुत्र के होते हुए भी अपने छोटे पुत्र पुरु की राजा बनाने का प्रस्ताव किया, प्रजा ने इसे स्वीकार नहीं किया। चारों वर्गों के लोग एकजुट होकर उन्होंने अपने राजा के इस निर्णय के प्रति यह कहते हुए अपना विरोध प्रकट किया—हे राजन् । बड़े पुत्रों को छोड़ कर भापका छोटा पुत्र राज्य कैसे प्राप्त कर सकता है ? × और वह तब तक शासित न करे जब तक कि राजा ने समुचित हेतुओं द्वारा उन्हें सन्तुष्ट न कर दिया कि उसने जो प्रस्ताव किया है वह धर्म-युक्त है। इसका होने के उपरान्त प्रजा खान्ता हुई और उसने पुरु को राज-भार प्राप्ति के लिए अपनी सम्मति दे दी।

*—मंसस्य मिधमे कुपसिन्धमस्र मधुसूदन ।

पुत्र ह्य हि तन्मन्मये सर्वे यावत्सर्वेष्वपि ॥

श्लो० २० अन्वा० १४१, उद्योग ५० ।

यदि क्षमाति मां राजा धर्मस्य संवत्सिन्धुः ।

कुपसाः प्रथमं पुत्रं न स राज्ञं गृहीष्यति ॥

श्लो० २१ अन्वा० १४१, उद्योग ५० ।

†—प्राप्य चाप्रिमहप्रथमं तदहं मधुसूदन ।

स्वीयं दुर्वोधनापेक्ष समग्रदामसिन्धुः ॥

श्लो० २२ अन्वा० १४१, उद्योग ५० ।

×—ह्यं बहुमतिक्रम्य राज्ञं पुरोः प्रपन्नसि ॥

श्लो० २० अन्वा० ८५, आदि ५० ।

कथं ज्येष्ठः नतिक्रम्यकनीपात्प्राप्तं महति ।

पुत्रं धर्मोपवाजसचां धर्मे त्वं प्रतिपादय ॥

श्लो० २२ अन्वा० ८५, आदि ५० ।

रामायण और महाभारत में वर्णित उपरोक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट है कि उस युग में राज-पद-प्राप्ति के समय इस सिद्धान्त की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा था कि जो व्यक्ति राजा बनाया जा रहा है वह राजकुमारों में प्रमुख है ।

शारीरिक क्षमता का आधिकारः—महाभारत में इस बात का भी उल्लेख है कि उस युग में राज-पद प्राप्ति के लिए भावी राजा को शारीरिक क्षमता का प्रमाण देना अनिवार्य था । किसी व्यक्ति में राज-पद प्राप्ति सम्बंधी क्षमता आवश्यक योग्यताएँ होने पर भी वह राजा नहीं बनाया जा सकता था यदि उसमें शरीर सम्बंधी कोई दोष पाया जाता ।

यह सबकी विदित है ■ धृतराष्ट्र में राज-पद प्राप्ति की समय सारी योग्यताएँ थीं । वह कीर था, राजचराने में उत्पन्न हुआ था, अपने भाइयों में प्रमुख था, प्रजा का उसमें प्रेम भी था परन्तु वह राजा नहीं बनाया गया । इसका एकमात्र कारण यह था कि उसमें शरीर दोष था । वह प्रजा होने के कारण राजा न हो सका । जन्म की दृष्टि से कौरव राज्य में पाण्डु का स्थान दूसरा था । प्रथम स्थान धृतराष्ट्र का था । परन्तु पाण्डु के राज्याधिकार का समर्पण किया गया और वह राजा बनाया गया । पाण्डु की मृत्यु ■ उपरांत भी धृतराष्ट्र राजा नहीं बनाया जा सका । प्रजा ने स्पष्ट कह दिया कि प्रजा होने के कारण धृतराष्ट्र राज्याधिकार से पहले ही वहिष्कृत कर दिए जा चुके थे अतः वह अब हमारे राजा कैसे हो सकते हैं ?* हस्तिनापुर के राज-पद पाने का संघर्ष धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर में न था परन्तु यह संघर्ष युधिष्ठिर और दुर्योधन में था । क्योंकि धृतराष्ट्र भली भाँति जानता था कि वह राजा बनने के अयोग्य था । वह अपने शरीर दोष के कारण राज्याधिकार से वहिष्कृत कर दिया गया था ।

महाभारतकार क्षात्रनु-युक्ती परम्परा की मुक्त से इसी सिद्धान्त की दृष्टि करता है । सत्यवती व्यास के द्वारा यह जानकर कि कौसल्या नामक उनकी बहु से प्रजा पुत्र उत्पन्न होगा वह अत्यन्त चिन्तित हुई और

*—महाभारत-धृतराष्ट्र-विराट-पर्व १०० ।

राज्य न प्राप्तवान् पूर्वसकथं नृपतिर्भवेत् ॥

इति २५ अर्थात् १५३, आदि प० ।

कहने लगी कि भंषा कुक्षों का राजा बनने योग्य न होगा ।* इसी सम्बन्ध में भुतराष्ट्र स्वयं साक्षी होकर हुयींघन से कहते हैं—मेरे बंधे होने के कारण पाण्डु राजा बनावे गए ।†

राज-पद के लिए शारीरिक योग्यता की आवश्यकता थी, इस सम्बन्ध में भुतराष्ट्र दूसरा उदाहरण देते हुए कहते हैं—मेरे परदास महाराज प्रतीप थे । ■ भर्मादिना होने और अपनी सज्जनता के लिए जगत्प्रसिद्ध थे । उनके धार्मिक, सत्यवादी और पितृ भ्रात्रापासक तीन देवतुल्य पुत्र थे । उनमें ज्येष्ठ देवापि था । जो राजाओं में श्रेष्ठ और महातेजस्वी था, परन्तु वह त्वचा रोग से ग्रस्त था ।‡ देवापि को पुर और राष्ट्र के लोग बहुत मानते थे । राजर्जनों में उनका बड़ा मान था । वह सारे बाल युव जनों के परमप्रिय थे, बड़े उदार, सत्यप्रतिष्ठ एवं सब प्राणियों के हित में निरत थे । पिता और ब्राह्मणों के भ्रात्राकारी थे । ऐसे योग्य देवापि के राज्याभिषेक के निमित्त शास्त्रानुसार सामग्री इकट्ठी की गई परन्तु देवापि के इस मंगल कार्य में पुर और राष्ट्र ■ लोगों ने मिलकर ब्राह्मणों और कुओं के सहित इसमिए विघ्न डाल दिया कि वह बीमारोप से ग्रस्त था ।× जब राजा प्रतीप को यह

*—शाङ्ख्यः कुक्षी नृपतिरनुसुप्तपोषणः ॥

रजो० ११ अध्याय १०६, अंश ५० ।

†—ज्येष्ठः प्रभविता राज्याधीनाम इति भारतः ॥

रजो० २६ अध्याय १४६, अंश ५० ।

‡—देवापिस्तुमहातेजसमन्वोऽथ राजः सत्तमाः ।

धार्मिकः सत्यवादी च पितुः भुभूष्योरणः ॥

रजो० १७ अध्याय १४३, अंश ५० ।

पौरजानपदानां च सम्मताः साधुः सत्कृतः ।

सर्वेषां नाकट्यानां देवापिहृदयंगमः ॥

रजो० ३८ अध्याय १४३, अंश ५० ।

×—ब्राह्मणान् कुक्षान् पौरजान् पदेः सः ।

सर्वे निवार्यमाना देवापेरभिषेकम् ॥

रजो० ५२ अध्याय १४३, अंश ५० ।

समाचार मिला कि मेरे पुत्र के अभिवेक में प्रजा ने विद्रोह काय किया है, वह रोने लगा* भीर पुत्र के विषय में बड़ा चिन्तातुर हुआ ।

इस प्रकार वेवापि धर्मज्ञ, संस्थप्रतिज्ञ और प्रजा का प्रिय होने पर भी स्वभाव-रोग के कारण राज-वद जाने के योग्य समझा गया । जो मनुष्य रोग-हीन होता है, उससे देवता प्रसन्न नहीं होते । यही कारण था कि श्रेष्ठ वेवापि का अभिवेक प्राकृत्यों ने रोक दिया था ।†

महाभारत में एक ऐसे राजा का भी उदाहरण मिलता है जो र्मथा था । पाल्य देश का राजा बुभुक्षेन मथा होने पर भी राज्यवद प्राप्त होता रहा ।‡ परन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि जिस समय बुभुक्षेन का राज्याभिवेक हुआ था उस समय वह मन्त्रा न था । राज्याभिवेक के बहुत दिनों बाद वह मन्त्रा हो गया था । इस सम्बन्ध में वृषदी बात यह भी है कि जैसे ही बुभुक्षेन मथा हुआ जैसे ही एक पड़ोसी राजा ने उसे गद्दी से उतार दिया था और उसके राज्य को अपने अधीन कर लिया था । परन्तु इसके अन्तिम दिनों में जब कि द्वावित्री नाम की उसकी बहु के परिच-बल से उसे फिर बंधु प्राप्त हो गए थे और ऐसे समय में उसकी प्रजा उससे राजा बनने के लिए मनुरोध करती हुई कहती है—चाहे आप बन्धु-सहित हों या बन्धु-हीन

*—तावद्विष्णु नृपतिरभिवेक निवारणं ।

आशुकरतोऽभयप्रजा पर्वशोकतयाऽभयं ॥

श्लो० २३ अध्याय १४६, उद्योग प० ६

†—पुंश्च यदाभ्यो धर्मेणः संस्थप्रतिज्ञाऽभयः ।

प्रियः प्रजानामपि संसन्धयोवेक प्रवृत्तिः ॥

श्लो० २४ अध्याय १४६, उद्योग प० ६

‡—हीमन्तं पुण्यी पार्श्वनाऽभिलक्ष्यति देवताः ।

इति कृपा नृपश्रेष्ठं प्रह्वयेयमिन्द्रवर्षमाः ॥

श्लो० २५ अध्याय १४६, उद्योग प० ६

§—वासीष्ठाद्वेदोऽभयतां चरित्य पुण्यीरतिः ।

पुंश्च भवेत् इति कृपाः परवत्तान्धेयभूयः ॥

श्लो० २६ अध्याय १४६, वनपर्वः ६

आप हमारे राजा पुनः बनें ।* महाभारतकार का यह कहना केवल इस बात की ओर सम्बोधित करता है कि धृमत्सेन की प्रजा का उसमें विशेष प्रेम था और यदि यह मान भी लिया जाय कि धृमत्सेन के अंधे होने पर भी प्रजा उन्हें राजा बनाना चाहती थी तो यह एक विशेष घटना ही समझी जायगी । सर्वमान्य सिद्धान्त यही था कि प्रेम-विहीन कोई भी व्यक्ति सर्वथा योग्य होने पर भी राजा नहीं बनाया जा सकता था ।

नारी का राज-पद का अधिकारः—निम्नानुसार राज्याधिकार राजा के पुत्रों को ही प्राप्त था । महाभारत एवं रामायण में कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला है, जिसमें नारी शासन करती हुई पाई गई हो । व्यास मुनि ने महाभारत के अंतर्गत एक स्थल पर यह अवश्य लिखा है कि यदि राजा के पुत्र न हों तो राज-पद पर कन्या का अभिषेक करे ।† वसिष्ठ ने भी रामायण में किसी अंश तक इस सिद्धान्त की ओर संकेत किया है । राम जन-गमन के अवसर पर राजा दशरथ और उनकी प्रजा के व्यथित हृदय को सामंजस्य देते ■ वसिष्ठ ने इस प्रकार कहा है सोता देवी दत्त न जायंती और वहीं रामचन्द्र के जाने, तक उनके स्वान पर राज्य करेगी । गृहस्थों की स्त्रियाँ धात्मा हैं । सीता भी रामचन्द्र की धात्मा है । वह पृथ्वी-पालन करेगी ।‡

परन्तु यह संकेत गृहस्थों की गृहिणियों के लिए उनके पति के राज्य सम्बन्धी अधिकार की ओर है । यह पिता के राज्य-ग्रहण ■ सम्भव है

*—एत मन्त्रेण सर्वस्व जनस्वाय नृपमति ।

त ननुवन्ति चतुर्वासनो राजा नवतिवति ॥

इको० ५ अध्याय २६८, वनपर्व ।

†—कुमारो नास्ति एषा कन्यास्तत्राभिषेचन ॥

इको० ४५ अध्याय ३३, स्त्री० प० ।

‡—न मन्त्रमर्थं वर्तं देवता सीतया सीमा वसिते ।

चतुष्ठास्यति रामस्यसीता प्रकृतमासमम् ॥

इको० २३ सर्ग ३७, अथो० का० ।

आरमाहि दातः सर्वेर्वा धार संमह वर्तिमान् ।

आत्मेयमिति रामस्य पादविध्वंसि मेदिनीम् ॥

इको० १४ सर्ग ३०, अथो० का० ।

सही हैं। हिन्दू शास्त्र के अनुसार पत्नी पति का नामांग है। इस नाते से पति के राज्य पर पत्नी का अधिकार स्वाभाविक है।

परन्तु रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थों में हमें कहीं एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला है जहाँ कोई नारी राज्य करती हुई पाई गई हो। इसके अतिरिक्त इस युग में नियोग प्रथा का प्रचार था, जिसके अनुसार निस्तान राजा अपने राजवंश को स्थिर रखने के लिए अपनी स्त्री में दूसरे से पुत्रोत्पत्ति करा सकता था। रानी के वंशवा होने पर रीथा को दूसरी रानी रखने का अधिकार था। इस दृष्टि से कन्या को राजपद-प्राप्ति के बहुत कम अवसर हैं। यही कारण है कि उस युग में कहीं भी ऐसे राज्य का उल्लेख नहीं मिलता है जहाँ का शासन-भार नारी द्वारा वहन किया गया हो।

आदर्श शासन का अधिकार:—राजपद-प्राप्ति के लिए जो प्रथम आवश्यक गुण अनिवार्य था, वह था एक निर्धारित मात्रा में शासन की क्षमता, जिसके बिना कोई भी व्यक्ति नियमानुसार राज्य नहीं प्राप्त कर सकता था और यदि वह किसी प्रकार राज-पद प्राप्त भी कर लेता तो उसे प्रजा के विरोध के कारण अपना पद शीघ्र ही त्याग देना पड़ता था। रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थों में इस सिद्धान्त की पुष्टि के अवसंन प्रमाण प्राप्त हैं।

अष्टादश वेदीप्रसाद के कथनानुसार रामायण और महाभारत कालीन राजा को समस्त गुण, वीर्य और वीरता से सम्पन्न होना चाहिए।*

अयोध्या का राम रामायण में राजा कश्यप इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं—भोकरासन का भार बड़ा ही मुश्किल है, जो कितेन्द्रिय नहीं है उनसे उसका प्रालन नहीं हो सकता। इसके प्रालन के लिए अद्वय साहस प्रादि राजोचित गुण चाहिए।† किष्किन्वा का राजा राम को सचेत करता हुआ राजा के शासन की ओर संकेत करता हुआ कहता है। दम, धर्म, क्षमा, धर्म, धृति, सत्य और पराक्रम यह राजाओं के गुण हैं। अपकारियों को दण्ड देना भी राज

*—स्टेट इन एन्टिक्विटी इंडिया, का० वेदीप्रसाद की द्वारा विरचित।

†—राज प्रवचन दृष्टि ५ दुर्वाहामयिनेन्द्रः ॥

श्लो० ५ सर्ग २ अयोध्या का०।

बुद्ध है।* तारक के मत से जिसका कि उत्पन्न उन्होंने बाल्मीकीय रामायण में किया है, राजा को समृद्ध ॥ समान गंभीर, हिमवान पर्वत के समान बीर, शिष्टा के समान पराक्रमी, बन्ध के समान देखने में सुन्दर, प्रसन्नचित्त के समान जोष में प्रबल, पृथ्वी के समान जमाखीय तथा अस्थ में धर्म के समान घटस होना चाहिए।† कुशीव को समझाते हुए राम राजा के गुणों का इस प्रकार उत्पन्न करते हैं—धर्म, धर्म और काम का समर्थ पर जो अनुष्ठान करता है, हे वानरधेय, इसके लिए जो समय का विभाग करता है, वही राजा है। धर्म तथा धर्म का ध्याय कर जो केवल काम की सेवा करता है वह वृक्ष की छाया पर सोये हुए के समान गिरने पर ही समझता है। जो मनुष्यों का रक्ष करता है, मित्रों का रक्ष करता है वही निर्वर्ग (धर्म, धर्म, काम) का फल भोगता है।‡ तदनुसार ॥ यत्तनुसार मलवन् श्री कुशीव, दयालु श्री जितेन्द्रिय, कृतज्ञ श्री सत्यवती राजा लोक में यत्त पाता है।X

*—दन्तः यसः जमा धृतिः कर्त्तुं पराक्रमः ६

पार्थिवारो गुणा राजन्दमरुत्पायकाविशुः ॥

रजो० १६ सर्ग १०, किष्किंधा का० ।

†—विष्णुना सद्यो धीर्यं सोमः करिप्रयदर्शनः ।

काश्याग्नि सद्यः क्षीये जमया पृथ्वी समः ॥

रजो० १८, सर्ग १ वाङ्ग का० ।

‡—धर्मदेन सनसत्तम सत्ये धर्म इवात्तरः ॥

रजो० ११ सर्ग १, वाङ्ग का० ।

§—धर्मसर्वं च कामं च कावे मनु भिषेवते ।

रजो० १० सर्ग १८, किष्किंधा का० ।

विभज्य सद्यो मोर स राजा हरि सत्तम ।

दित्वा धर्मं क्षमार्थं च कामं वस्तु भिषेवते ।

रजो० ११ सर्ग १८, किष्किंधा का० ।

X—सत्वीभजसंरुचः साधुकोरो जितेन्द्रियः ।

कृतज्ञः सत्यवती च राजा लोके महीपते ॥

रजो० ७ सर्ग १४, किष्किंधा का० ।

महाभारत में राजा के शासन की तुलना गर्भवती स्त्री के शासन से की गई है ।* जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपने गर्भ के शिशु की देख रक्ष एवं बुद्धि और कल्याण के हेतु सर्वदल सचेष्ट रहती है । वह इस प्रकार के शासन से दूर रहने का प्रयत्न करती है जिससे उसके गर्भस्थ शिशु को संभवतः भी बाधा पहुँचने की शायंका हो, इसी प्रकार राजा का ऐसा शासन होना चाहिए जिससे उसकी प्रजा का संभवतः भी कल्याण न होने पाए । उसे हर दल इस बात की चिन्ता रहनी चाहिए कि उसकी प्रजा के सुख तथा शान्ति का सम्पादन किस प्रकार हो सकेगा । राजा का प्रत्येक कार्य प्रजा की प्रसन्नता (प्रसारजन) एवं उसके कल्याण के लिए होना चाहिए।

महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं—राजा को चतुर माली की भाँति होना चाहिए ।† जिस प्रकार माली बूझों की रक्षा कर फिरकाल तक उनका उपयोग करता है उसी प्रकार, हे राजन्, तुम भी बहुत काल तक राज्य भोगने में समर्थ हो सकोगे । बृहस्पति के मतानुसार जो राजा भग्न ही करता रहता है, भीष्म अनुष्म उसकी भवता करने लगते हैं । समासीत हाथी ■ सर पर महाकत चढ़ बैठता है । इन सब बातों को सोच कर राजा को न तो मृदु और न तीक्ष्ण ही होना चाहिए । राजा को वसन्त ऋतु के सूर्य के समान होना चाहिए । जो न तो अधिक ठंडा ही होता है और न अधिक गर्म ही ।‡ भीष्म के मतानुसार जिस राजा के राज्य में पित्रा के वर

*—यथाहि गर्भिणी दिक्षा एवं श्रियं भजसोऽनुग्रहम् ।

गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञोऽप्य संरक्षय ॥

इति० ४५, सर्ग ६५, शान्ति पर्व ।

†—मासप्रभोयमो राजम्भक ॥

इति० २० अ० ७१, दुर० ५० ।

‡—तस्मान्मेव मृदुर्निष्ठं तप्यतीमेव मयेन्द्रियः ।

चासन्तर्कं ह्य श्रीमन्नशीतो न च गर्भदः ॥

इति० ५० अ० ५६, दुर० ५० ।

में पुत्र की भाँति प्रजा निर्णय विचरती है उस राजा को सर्वश्रेष्ठ राजा जानना चाहिए ।*

वह व्यक्ति जिसमें राज्यपद प्राप्ति के सम्बन्ध कुछ विचारात्मक रहते परन्तु यदि उसमें धार्मिक भावपूर्णता का अभाव होता तो वह राजपद प्राप्ति के सर्वथा अयोग्य समझा जाता था । इस सम्बन्ध में महाभारतकार ने राजा ययाति के पुत्र यदु का उदाहरण दिया है । राजा ययाति का पुत्र यदु अपने पिता के राज्य-प्राप्ति के अधिकार से केवल इसलिए वंचित किया गया था कि उसमें आधुनिक भावपूर्णता का अभाव था । यदु अपनी विचरियों के कारण जन्मश्रांति हो गया था वह महा पराक्रमी, बल के भावपूर्ण में अत्यन्त मोहित हो गया और पिता की आज्ञाओं का अवलम्बन भी करने लगा था ।† वह अत्यन्त अपने पिता तथा माताओं के अवलम्बन करने में प्रवृत्त हो गया था । इस कारण यदु का पुत्र ययाति अपने पुत्र पर बड़ा असन्तुष्ट हुआ । हे कुर्योन्नत उसने अपने पुत्र यदु को शाप दिया और उसको अपने राज्याधिकार से भी वंचित कर दिया और उसके जिन भवमाते माताओं ने यदु का साथ दिया, राजा ययाति ने क्रुद्ध होकर उन पुत्रों को भी शाप दे डाला और वह भी राज्याधिकार से सर्वथा वंचित कर दिए गए ।‡

इसी सम्बन्ध में राजा सुवर् के श्रेष्ठ पुत्र असमंजस का निर्वासन भी एक पुष्ट प्रमाण है । असमंजस में राज्य पद पाने के लिए लज्जामय समस्त

*—पुत्राह्वयं पित्रोर्ह्ये विचरेत्तस्य समस्तः ।

निर्णयविचरिष्यति स राजा राजस्ततः ॥

श्लोक ३३ अ० ५७, भा० ५० ।

†—अथमेनेत्युक्तं तर्पणं पूर्वंः समन्वयः ॥

श्लोक ७ अ० १४३, अध्याय ० ५० ।

‡—न चाऽपिपितुः शस्त्रे बलवर्षं विमोहितः ।

अथमेने अपितरं मातुःश्चाऽप्यपराधितः ॥

श्लोक ३ अ० १४३, अध्याय ० ५० ।

सं पिता परमं क्रुद्धो ययातिर्ननुवत्सलः ।

शवाप पुत्रं गान्धारे राज्याप्यापि मयोपयत् ॥

श्लोक १० अ० १४३, अध्याय ० ५० ।

बीसवीं शताब्दी में प्रस्तुत थीं परन्तु उसके आचरण में ऐसा एक बड़ा दोष था जो उसके मार्ग में बाधक सिद्ध हुआ। वह कूर और उद्बल था, प्रयोग्य नगरी की जनता के नन्हें-नन्हें बालकों के साथ उसका क्रूरतापूर्ण व्यवहार निन्दनीय बनका गया, वह बासकों को सरयू नदी में फेंक देता था और उन्हें जल-मरण होते देख प्रसन्न होता था। उसके आचरण की इस निर्बलता ने उसका सर्वस्व नष्ट कर दिया। उसे जीवन पर्यन्त वनवास दिया गया और वह सर्वत्र के लिए राज्याधिकार से श्रुत कर दिया गया।*

यहाँ तक कि वैदिक साहित्य में भी राज्याधिकार के इस सिद्धान्त पर विशेष बल दिया गया है। ऋग्वेद के अनुसार पृथ्वी का राज्य केवल धर्मों को मिलना चाहिए।† वैदिक साहित्य में धर्म शब्द का प्रयोग विष्णुचरण युक्त व्यक्ति के लिए हुआ है अतः यह स्वयं सिद्ध है कि ऋग्वेद इस भूमि के शासन भार को केवल उस व्यक्ति अधिका जो व्यक्तियों को सौंपना पसन्द करेगा जिनका आचरण परम पुरोहित हो। प्रकृति यों कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के अनुसार चरित्रहीन व्यक्ति को राज्यपद प्राप्ति का संशय ही अधिकार नहीं है और ऐसे व्यक्ति राज्याधिकार से सर्वथा वंचित रहने चाहिए।

यजुर्वेद में भी आचरण सम्बन्धी गुणों की एक सम्पूर्ण सूची दी हुई है जिनकी प्राप्ति राजा के लिए यजुर्वेद अनिवार्य सम्भूता है। यजुर्वेद के ३३ वें अध्याय में इन गुणों का विशेष वर्णन है। यजुर्वेद भी ऋग्वेद ■ इस मत की यह भूमि धर्मों के लिए शासन के निमित्त दी

*—सचयेन्दो मरुषेष्टाः सगरश्वात्म संभवः ।

वकाम्पुहीत्वाणु बभूव सरयूः सधुतन्वनः ॥

इको० २०, २१ सर्ग ३८, पाद ४० ।

+ + + + +

सतासो वचनं कुत्वा मरुतीनां मराधिपः ।

तम् सत्ताजहितं पुत्रं तासां दिव्यं वकीर्षमा ॥

इको० २३ अ० ३८, अयो० ४० ।

†—सर्वं भूमिमवदामर्षयः ॥

सं० २ सूक्त २६ मन्त्र ४, ऋग्वेद ।

यही है पुनरावृत्ति करता है ।* यजुर्वेद में एक स्थल पर राजा के लिए
आचरण सम्बंधी गुरुओं की प्राप्ति पर विशेष बल दिया गया है और
बहु गुरु इस प्रकार है—राजा को लोकत्रिय (जनिष्ठः) प्रवस (उत्तः)
त्रिमाशीन (सुराप) षण सुलकारी (सन्तः) श्रोत्रस्वी (श्रोत्रिष्ठः)
तथा प्रजा पर भनेकों उपकार करनेवाला (बहुकामिमानः) होना
चाहिए ।†

इस सिद्धान्त पर अथर्ववेद भी समान सम्मति देता है । अथर्ववेद
में राजा के गुरुओं पर प्रकाश डालते हुए एक मन्त्र में इस प्रकार कहा
गया है—महान सत्य (सत्यं बृहत्), महान वास्तविकता (अतमूषम)
बुद्ध संकल्प (वीजा), विद्या (ब्रह्म) तप (दत्त) इस पृथ्वी को धारण करते
हैं इस प्रकार अथर्ववेद राज पथ के लिए सत्यता, वास्तविक ज्ञान, बुद्ध
संकल्प, तप तथा धर्मकार्य ■ लिए सारी शक्तियों के अधिक से अधिक
प्रयोग को परमावश्यक निर्धारित करता है ।‡

शुक्र ने राजा के अष्टाचरण पर बड़ा महत्त्व दिया है । उनका मत
है कि राजा अपने आचरण को ऐसा बना ले जिससे इस लोक में यथा
तथा परलोक में सुख की प्राप्ति हो सके ।× उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ
शुक्रनीति में एक स्थल पर लिखा है—राजा केवल दूसरे को उत्तम
कर्म करने का उपदेश देता रहे और प्राप्त कर्म का आचरण न करे
ऐसा नहीं होना चाहिए । ऐसे राजा बहुधा मरते हुए देखे गए हैं जो
दूसरों को तो शुद्धाचरण का उपदेश देते वे परन्तु स्वयं उस पर मानक
न हुए ।÷

*—यस्यायं चिरमश्चर्याः ॥

यजुर्वेद ।

†—जनिष्ठः उत्तः सहस्रे सुराप मन्त्रः श्रोत्रिष्ठो बहुकामिमानः ॥
यजुर्वेद ।

‡—सत्यं बृहत्तमं वीजातपो ब्रह्मपदः पृथ्वी धारयति ।

अथर्व वेद ।

×—कुर्यान्मृत्युः शुद्धं तु परमेष्ठ शुक्लम् ॥

शुक्रनीति १२२ अध्या० १, शुक्रनीति ।

÷—परीपरेऽकुलकाः केवली न भवेन्मृत्युः ।

महाविकार द्विजः स्वात्मगुणोपि मृत्युः कश्चिद् ॥

शुक्रनीति ४३ अध्या० १, शुक्रनीति ।

मनु ने अपने मानव-धर्म शास्त्र में उन राजाओं के नाम लिखे हैं जो अविनयशील होने के कारण अपने राज-पद से क्युत कर दिए गए थे। इनमें राजा केन, नहुष, सुषांस, पवन, सुमुख तथा निमि के नाम प्रसिद्ध हैं।* इस प्रकार मनु भी राज-पद के लिए आवश्यक सम्बन्धी योग्यता को निर्धारित करते हैं।

इस सिद्धान्त का उत्तरार्द्ध कौटिल्य महोदय ने भी अपने अर्थ-शास्त्र में किया है उन्होंने भी अपने इस प्रसिद्ध ग्रंथ में उन राजाओं के नाम दिए हैं जो अपने आचरण की दुर्बलता के कारण परिवार तथा मित्रों सहित नष्ट हो गए।† कौटिल्य महोदय ने एक और स्वयं पर लिखा है—भाहे जितना वस्तु राजा क्यों न हो परन्तु यदि वह बड़-बड़े—काम, श्रेष्ठ, लोभ, मोह, भय और मात्सर्य—से प्रभावित हो गया है तो उसका नाश निश्चय है।‡ ऐसा विचार कर राजा को आत्म-संयम के हेतु धरमल प्रयत्नशील होना चाहिए।×

ऊपर के वर्णन ■ आभार पर यह निश्चय है कि राजा के लिए हिन्दू युग में उत्तम चरित्र-वत् राज-पद प्राप्ति के लिए नितान्त आवश्यक सम्बन्ध आता था। आचरण सम्बन्धी इस योग्यता से राजा जैसे ही विहीन हो जाता था, वह तुरन्त राज-पद पर स्थिर रहने का अधिकार नष्ट कर देता था और प्रजा द्वारा ही दण्डित करने का अधिकारी हो जाता था। राज-पद के लिए आचरण सम्बन्धी गुणों का जब इतना ध्यान रखा जाता था, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचना

*—वेदो विनिन्दोऽ विनयान्मैहृषरथैः पार्ष्णिः ।

सुषांसो, यधनरथैः, समुखो निमिरेष च ॥

श्लो० ४१ अध्या० ७, मानव-धर्म-शास्त्र ।

†—पुतेषाम्नेचपहवः शत्रु पक्षवर्गमाधितः ।

सचमुपाभूः राजानो विनेश्वरमितेन्द्रियाः ॥

वार्ता १४ अ० ६ अधि० १, अर्थशास्त्र ।

‡—नद्विस्वः क्षुधितयेन्द्रियमरकातुस्त्योऽपि राजा समो चित्तमपि ॥

वार्ता ५ अ० १ अधि० १, अर्थशास्त्र ।

×—सस्माद्विषवर्गं त्वारोतेन्द्रियं जयं कुर्वीत ॥

वार्ता १ अ० ७ अधि०, अर्थशास्त्र ।

कि रामायण और महाभारत काल में उत्तम शास्त्ररत्न राज-वद प्राप्ति के लिए एक अनिवार्य विवेचना थी सर्वथा ग्यास संगत ही होगा । इसलिये राजा बनने के लिए सर्वप्रधान गुण उत्तम शास्त्ररत्न का था जो कि पूर्वकासीन ऋषियों द्वारा निर्धारित किया जा चुका था जिसके बिना राज्याधिकार की सम्य साधकक योग्यताएँ—राजवंश में जन्म, अवेष्ट होना, सार्वारिक क्षमता आदि का कोई मूल्य न रहे जाता था । दोनों ग्रंथों (रामायण और महाभारत) में इस प्रकार हम भसी शक्ति देख चुके हैं कि कई ऐसे राजकुमार हुए हैं जिन्हें शास्त्ररत्न की पूर्णता के कारण राज-वद के लिए प्रयोज्य समझ गया । यद्यपि उनमें इस पद के पाने के निमित्त सम्य समस्त गुण विद्यमान थे वे राजवराने में पदा हुए थे, उनमें सार्वारिक क्षमता थी और राजा के अवेष्ट पुत्र भी वे उस पद भी केवल इस कारण कि उनमें चरित्रवेष था वे हराज्याधिकार से वंचित कर दिए गए; इस सम्बन्ध में प्रसमंज और यदु अवसन्त प्रमाण हैं ।

राजा की नियुक्त की प्रजा द्वारा स्वीकृति:—रामायण और महाभारत काल में यद्यपि राज्याधिकार वंशपरम्परागत हो गया था परन्तु इस अधिकार की स्वीकृति देना प्रजा के हाथ में था । इस सम्बन्ध में इन दोनों ग्रंथों में कई प्रमाण विद्यमान हैं ।

रामायण के पढ़ने से पता चलता है कि राजा सगर की मृत्यु के पश्चात् अशुमान नामक राजा हुआ जिसकी नियुक्ति प्रजा द्वारा हुई थी ।*

राजा दशरथ ने बूढ़ होने पर अपने बड़े पुत्र राम को पुकराज पद पर नियुक्त करने का संकल्प किया । उन्हें भयोद्या के राज-वद को अपनी हस्तानुसार किसी को दे देने का अधिकार न था । राज-वद प्राप्ति के पूर्व प्रजा की स्वीकृति लेनी आवश्यक थी । इसलिये राम को पुकराज बनाने से सम्बन्धित प्रस्ताव को राजा दशरथ ने एक बड़ी परिषद के सामने स्वीकृति के हेतु प्रस्तुत किया । इस परिषद में भयोद्या

*—काव्य धर्म पते राम सखे प्रकृति जनेउ ।

राजार्ण रोचयामाक्षुरीष्ट संतं शुभार्मिकम् ॥

स्क० १ सर्ग ४२, वाक्य ४० ।

राज्य के विभिन्न नगरों के वासियों के प्रधान व्यक्ति (मानव
नगरवास्तव्यान् प्रधानान्) विभिन्न प्रदेशों के लोग (पृथगजानपदाना-
नपि) और पृथ्वी के प्रधान व्यक्ति (मेदिन्यान् प्रधानान्) और
यह पुरुष तथा राष्ट्र के व्यक्ति जिन्हें किसी प्रकार से सम्मान प्राप्त
हुका था । (सव्यमानैर्पुत्रालैर्जनपदैश्च मानवैः) ।*

इस बड़ी परिषद के समक्ष जिसमें राज्य विभिन्न व्यक्तियों तथा हितों
के प्रतिनिधि एकत्र हुए थे राजा दशरथ सम्भीर एवं स्पष्ट शब्दों
में इन्द्र के समान इस प्रकार बोले (वीमूत हव नरदमन्)—आप लोग
जानते हैं कि हमारा यह राज्य कितना बरसम है ।† हमारे पूर्वजों ने
पुरुष के समान इसका पालन-पोषण किया है । इसका वंशी राजाओं
के द्वारा प्रतिपादित समस्त जगत की सुख पहुँचाने की शक्ति रखने-
वाले इस राज्य को मैं और भी अधिक बहुभागी बनाना चाहता हूँ ।
भारतम् को त्याग कर अपनी शक्ति भर पूर्वजों द्वारा स्थापित
भर्यादा को स्थिर रखते हुए प्रजा की रक्षा की है । समस्त लोक-
कल्याण का सम्पादन करता हुआ यह शरीर भी खेत छव-
छाया में अब अरावस्था को प्राप्त हो गया है । मैंने हजारों वर्षों की
आयु पाई है जिसमें साधारण पुरुषों की बहुत सी आयु समाप्त हो
जाती है । अब यह शरीर बुढ़ हो गया है । अतएव विषाम चाहता हूँ ।‡
लोक पालन का भार बड़ा गुरुतर है । जो जितेन्द्रिय नहीं हैं उनसे
इसका वहन नहीं हो सकता (दुर्वहमजितेन्द्रियैः) । इसके

*—नामानगरवास्तव्यान्पृथगजानपदानानपि ।

समाधिनाय मेदिन्या प्रधानान्पृथिवीपतिः ॥

इन्द्रो० २६ सर्ग १, अथो० का० ।

स सव्यमानैर्पुत्रालैर्जनपदैश्च मानवैः ।

पुराजपैर्जनपदैश्च मानवैः ॥

इन्द्रो० ५० सर्ग १, अथो० का० ।

†—चिदितं भद्रतामेतच्छा मे राज्यमुत्तमम् ॥

इन्द्रो० ४ सर्ग १, अथो० का० ।

‡—परिश्राम्योऽस्मि लोकस्य सुखी भर्तुर्बुधं चक्रे ॥

स्त्री० ४ सर्ग १, अथो० का० ।

पासन के लिए शूरदा भावि राजोचित गुण अनिवार्य हैं। मैं इस राज्य के भार को वहन करते करते थक गया हूँ। अब मैं प्रजा के कल्याण सम्पादन के लिये अपने अष्ट पुत्र को अपने स्थान में नियुक्त कर विभाग चाहता हूँ। पर मैं यह सब चाहता हूँ जब पाछ बैठे हुए हमारे मन्त्ररंग इन अष्ट ब्राह्मणों की आज्ञा हो।* मेरा अष्ट पुत्र समस्त गुणों में भेदे सम्मन की है। वह इन्द्र के समान पराक्रमी और सन्मूर्धों पर विजय प्राप्त करने वाला है। उसका नाम राम है। पुष्प युक्त बन्धुमा के समान धार्मिकों में श्रेष्ठ उस पुरुषोत्तम को प्रातःकाल मैं युवराज बनाना चाहता हूँ। मैंने जो वह विचार आप दोनों के सामने प्रस्तुत किया है वह यदि विचारपूर्वक हो और जससे आप लोगों का भी लाभ हो तो आप लोग मेरे इस विचार को स्वीकार करें।† यदि इन दोनों बातों में कोई भी न हो प्रथवा एक ही हो या दोनों हों वैसे आप लोग मुझे बताएं। वैया किधा जाए। रामचन्द्र को मैं युवराज बनाना चाहता हूँ यह मुझे मिय है। परन्तु इससे भिल आप अपने और राज्य के हित की बात सोच सकते।‡ तो सोचें क्योंकि मेरा विचार एक पक्ष का है। बन्धुस्थ का विचार दूसरा होता है और वह उसर अत्युत्तर के मँजा होने के कारण अधिक उज्ज्वल होता है।§

यह और सब का ज्ञान रखनेवाले राजा वसन्त § धर्मशास्त्र को भली भाँति समझ कर बाह्य, शेषाभ्यक्ष तथा नगर और राज्य § भोग एकत्र हो कर भली भाँति परामर्श कर और राजा वसन्त को बुद्ध समझ कर एक मत होकर उनसे बोले—राजन् आप हजार वर्ष के होने भाए हैं। रामचन्द्र में पृथ्वीपासन की योग्यता है। आप उन्हें सीधे युवराज बनाएँ। महाराज हम लोग चाहते हैं कि महाबाहू

*—संनिहृष्टानिमाम्प्रदानमुत्तमं हिजयैभारम् ॥

श्लो० १० सर्ग २, अयो० क० ।

†—यद्विद् मे अनुकल्पार्थं मया सद्यः सुमंथितम् ।

अवस्थो मे अनुमर्त्यतां कथं वा करवाचयद्म् ॥

श्लो० ११ सर्ग २ अयो० क० ।

‡—यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमप्यहिचिन्त्यताम् ।

अप्यामन्वस्थचिन्ता तु विमर्शम्यधिको दया ॥

श्लो० १२ सर्ग २, अयो० क० ।

रामचन्द्र युवराज बनाए जाएँ । यह राज्य के बड़े हाथों पर सहाय होकर खर्चें और राजस्व से उनका मुँह ठका हो ।*

राजा ने उन लोगों के यह वचन सुने । राजा को भी प्रजा का यह निर्णय मिय का परन्तु यह प्रजा के हृदय की बात जानने के लिए जान बूझ कर अनजान बनकर बोले—हे राज-सत्ताधारियों आप लोगों ने रामचन्द्र को युवराज पद देने के लिए जो अपनी सम्मति दी है वह केवल इसलिए कि यह भैरव प्रस्ताव है । क्या आप लोगों का ऐसा यथार्थ भक्त भी है ? इन दोनों बातों की वास्तविकता पर मुझे सन्देह है । आप लोग सपासों बात कहें । मैं तो घर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन कर रहा हूँ फिर महा कसमान एक युवराज के देखने की इच्छा भाप लोग क्यों कर रहे हैं ?

राजा के यह वचन सुन उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया—राजन् आपके पुत्र में अत्यन्त कल्याणकारी गुण हैं । X भाप देव समान अपने

*—सत्य धर्माय विदुषो मावमात्राव सर्वतः ।

मातृभावा जगन्मुखाश्च पौरजातपदैः सह ॥

श्लो० १३ सर्ग १, अयो० का० १

समेत्य ते मंत्रयितुं समवागतकुहूया ।

कपुत्रश्च मनसा कृत्वा हृद वरवर्धयाम् ॥

श्लो० २० सर्ग २, अयो० का० १

इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ।

गजेन भद्रता वाम्पैरामं श्रेष्ठोत्तमानम् ॥

श्लो० २२ सर्ग २, अयो० का० १

†—सजातस्त्रिषु सिद्धासुरिषु यक्षतमजवीर ।

श्लो० २३ सर्ग २, अयो० का० १

इत्यभिप्रेक्ष्यन्ति युवराजं महाबलम् ॥

श्लो० २४ सर्ग २, अयो० का० १

‡—सैतथ्योऽथ सेतवित् म त लयतः ॥

श्लो० २७ सर्ग २ अयो० का० १

X—ते तमुभूभृद्भस्मनः पौरजातपदैः सह ।

बहवो नृप कल्याणगुणाः सन्ति मुत्तम्य ते ॥

श्लो० २६ सर्ग २, अयो० का० १

पुत्र के गुण सुने । फिर उन्होंने रामचन्द्र के गुण गाँन करना प्रारम्भ कर दिया । अन्त में उन्होंने कहा—इसलिए लोक कल्याण में लगे हुए विष्णु के समान अपने पुत्र रामचन्द्र का जिनके गुण उदार हैं हम लोगों के कल्याण ■ निमित्त वीर्य प्रसन्नतापूर्वक राज्याभिवेक करना चाहिए ।*

इस प्रकार राम के पक्ष में प्रजा ने उन्हें युवराज बनाने के सम्बन्ध में अपना निर्णय दिया । इस निर्णय के हो जाने के उपरान्त राजा ने राम को समाभिवन में बुलाया और प्रजा के इस निर्णय की सूचना राजा ने उन्हें इस प्रकार दी—राक्ष । तुम मेरे वीर्य पुत्र हो, गुणों से श्रेष्ठ वीर मेरे प्रिय पुत्र हो । तुमने अपने गुणों से हमारे राज्य की प्रजा को प्रसन्न किया है ।† अतएव अब पुण्य नक्षत्र में चन्द्रमा आए सभी तुम युवराज पद ग्रहण करो । भगनी हज्ज से ही प्रजा (प्रकृति) ने तुम्हें गुणवान बतसाया है और युवराज पद के योग्य समझ है । पुत्र तुम गुणवान हो तथापि स्नेह के कारण तुम्हारे हित की बातें कहता हूँ । ऐसा कहकर दशरथ ने राम को राज्य शासन सम्बन्धी राजोपयोगी उपदेश दिया ।‡

रामायण में अंकित इस घटना से यह पता चलता है कि राजा दशरथ अपने की वृद्ध समझकर और अपने श्रेष्ठ पुत्र राम में

*—श्रवामो वीरराज्यस्य तत्र राजोत्तमाभ्रजम् ।

श्लो० ५३ सर्ग २, अयोध्या का० ।

तं देव वैशोपममात्मनं ते सर्वस्य लोकस्य विते विचित्रम्
विदाय तः विप्रमुपभुञ्ज्यं मुपाभिवेक्तुं चरत् त्वमर्हसि ॥

श्लो० ५४ सर्ग २, अयो० का० ।

†—त्वया यतः प्रजादधेमाः स्वगुर्वैतुरङ्गिवाः ॥

श्लो० ५० सर्ग ३, अयो० का० ।

तस्मात्तं पुण्ययोगेन वीरराज्यमवाप्नुहि ॥

कामतत्तत्त्वं प्रकृष्यैव निर्भीतो युवावामिति ॥

श्लो० ४१ सर्ग ३, अयो० का० ।

‡—गुणवन्धयितु स्नेहात्पुत्र वक्षामि ते हितम् ॥

श्लो० ५२ सर्ग ३, अयो० का० ।

राजोचित समस्तगुणों को पाकर जो कि साधारण राजाओं को दुर्लभ है अपने मंत्रियों के समक्ष राम को मुखराज पद देने का प्रस्ताव रखते हैं ।* मन्त्रिमंडल इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है । इसके पश्चात् यह प्रस्ताव प्रजा के प्रतिनिधियों—ब्राह्मणों, सेनाध्यक्षों, पुर और राज्य के प्रमुख व्यक्तियों के समक्ष उनकी स्वीकृति के हेतु प्रस्तुत किया जाता है वह भी इस प्रस्ताव को सर्व सम्मति से स्वीकार कर मन्त्रिमंडल के द्वारा स्वीकृत किए हुए इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं तब राजा इस प्रस्ताव को कार्य रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है ।

नूतन मुखराज की नियुक्ति में प्रजा की स्वीकृति लेना आवश्यक थी, इस सिद्धान्त की पुष्टि में जो प्रमाण दिया गया है वह स्पष्ट और निर्वर्णित है ।

रामायण में एक स्थल और ऐसा उपलब्ध है जिसमें इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई है वह इस प्रकार है—राजा दशरथ के निधन के उपरान्त अयोध्या की राजगद्दी रिक्त हो जाती है । जनता ■ सामने सब से बड़ी समस्या यह उपस्थित हो जाती है कि अब अयोध्या का राजा किसे बनाया जाए । राजकर्ता गण (राजकर्तारः)—मार्कण्डेय, गौतम, जाबालि आदि और राजा के मंत्रिगण एकत्र हुए । इस संस्था पर उनमें मतभेद था । जब उनमें एक मत न हो सका तो वह सब राजगुप्त वसिष्ठ के पास गए । उन्होंने कहा कि राजा के बिना राज्य में अस्थान्ति एवं अराजकता फैल जायेगी ।† प्रजा में मत्स्यन्याय ■ शातंक जन्म जायेगा ।‡ इसलिए हमें आज ही अपना राजा बनाना चाहिए । वसिष्ठ ने भरत को उनके ननिहाल से अयोध्या बुलाने की व्यवस्था की । उनका यह निर्णय सबने स्वीकार किया ।

*—निदिक्क्य सचिवैः सार्वे यौद्धराज्यमभ्यन्यत ॥

श्लो० ४२ सर्ग १, अयो० का० ।

†—इत्याहुर्नामिहाद्यं च कमिच्छाता मिथीयताम् ।

अराजकं हि नोराष्ट्रं निनाशं सम्भाप्सुयात् ॥

श्लो० ■ सर्ग १०, अयो० का० ।

‡—अस्त्वाह्य प्रजा निवृत्तं मद्यन्ति परस्परम् ॥

श्लो० ३१ सर्ग १०, अयो० का० ।

भरत ननिहाल से भयोप्या भाए । भयोप्या में सभा की गई जिसमें वसिष्ठ ने प्रमुख स्थान ग्रहण किया । उन्होंने दूतों को आवेक दिया ॥ वह ब्राह्मणों, क्षत्रियों, योद्धाओं, अमात्यों और बण ॥ अध्याजों को सीधे सभा में उपस्थित होने के लिए आमन्त्रित कर पाएँ । क्योंकि सभा में उनके साथ बैठकर प्रत्यन्त आवश्यक कार्य करना है ।* भरत सभ्य तथा अन्य राजपुत्रों को सुभाषित तथा सुमन्त्र को एवं भरत के अन्य हितैषियों को भी सभा में आने के लिए आमन्त्रित कर पाएँ ।† धर्म जानने वाले पुरोहित वसिष्ठ जी ने राजा श्वारण की प्रजा एवं उनके मंत्रियों के समक्ष भयोप्या की रिक्त राजगद्दी भरत को अर्पण करते हुए कहा—तुम्हारे पिता और भाई ने यह सभुहोन राज्य तुम्हें दिया है । सचियों (मंत्रियों) को प्रसन्न रखते हुए तुम इसका भोग करो और सीधे ही अपना राज्याभिवेक कराओ ।‡

इस प्रकार उपरोक्त घटना भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करती है कि नूतन राजा की नियुक्ति के लिए प्रजा की स्वीकृति आवश्यक थी ।

*—सर्वेपेक्षोदूतान जु सार्वास च ॥

स्तो० ११ सर्ग ८१, अयो० का० ।

किप्रसादयता भ्यगाः कुलमात्ययिकं हि नः ॥

स्तो० १२ सर्ग ८१, अयो० का० ।

†—माह्वान्वसिवाभ्योवापमापानाद्यवस्रमाह ॥

स्तो० १३ सर्ग ८१, अयो० का० ।

स राजपुत्रं सभुहं भरतं च यशस्वितम् ।

सुभाषितं सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥

स्तो० १३ सर्ग ८१, अयो० का० ।

×—राहासु प्रकृतिः सर्वाः संरेख च भर्मेवित् ।

। ईं पुरोहितो नार्यं भरतं मुदु चामरीत ॥

स्तो० ४ सर्ग ८२, अयो० का० ।

‡—यिता भ्राता च ते नूत रायं निहतकचयम् ।

प्रदुर्मुखं सुवितामात्यः किप्रसेवाभिषेधम् ॥

स्तो० ७ सर्ग ८२, अयो० का० ।

यह एक प्रश्न यह उठता है कि जब रामायण काल में राजपद प्राप्ति के हेतु प्रजा की स्वीकृति अनिवार्य थी तो राम को युधराज पद से ज्युत कर देने पर प्रजा ने विद्रोह क्यों नहीं कर दिया । राम को युधराज पद ■ में स्वयम् प्रजा ने अपनी स्वीकृति दी थी । राम उनके प्राण समुप्यारे से और उनके सर्वाधिक हितों की ओर; परन्तु उनकी इच्छा के विरुद्ध राजा ने उन्हें युधराज पद से ज्युत ही नहीं किया वरन् उन्हें देश निर्वासित कर दिया । ऐसी परिस्थिति में अयोध्या की प्रजा ने राजा के विरोध में विप्लव होना परमावश्यक था ।

रामायण में किसी भी स्वयं पर ऐसे विद्रोह का प्रमाण नहीं मिलता है जो कि राजा को इस बात पर बाधित करता कि वह प्रजा की अनुमति के बिना उनके मनोनीत युधराज को उस पद से ज्युत न कर सकता । परन्तु सरय तो यह था कि प्रजा का यह निश्चय था कि इस राजसंकट का मूल कारण कैकेयी थी । राजा का इसमें लेखमाण भी हाथ न था । रानी राम के वन-गमन और भरत को राजा बनाने पर तुली हुई थी । यद्यपि कैकेयी का यह षड्यन्त्र अयोध्या के राजा और उसके राज्य दोनों का घातक था । राजा सचनबद्ध होने के कारण विवश था । इस प्रकार राजा के विद्रोह का कारण यदि कोई हो सकता था तो वह कैकेयी थी । राजा निर्दोष था । अतः प्रजा की दृष्टि में वह दोषी न था । राजा ने स्वयं राम को यह आदेश दिया था कि वह उन्हें बन्दी बना ले क्योंकि स्त्री के शपथ में होने के कारण वह अयोध्या के राजा रहने के सर्वथा अयोग्य हो गए थे ।* कैकेयी के इस दोषपूर्ण आचरण से राजा इतना रुष्ट हो गया था ■ उसने कैकेयी का परित्याग कर दिया था ।† उसने यह भी कहा था कि यदि भरत इस प्रकार अयोध्या के समुद्र राज्य को पाकर प्रसन्न-

*—सर्वं राक्षस कैकेय्या भरतानेन मोहितः ।

अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम् ॥

श्लो० २६ सर्ग ६४, अयो० का० ।

†—अगृह्णीष्वस्य ते पाणिप्राप्तिं पर्यवश्यं च यत् ।

अनुकामासि तत्सर्वमस्मिन्लोके परत च ॥

श्लोक ८ सर्ग ४२, अयोध्या का० ।

होगा तो वह भी मेरा पुत्र न सम्भव था, और मेरे लिये भी वह पिण्डदान करे वह भी मुझे प्राप्त न हो ।*

राज्य के शीत कोने से कैकेयी के विशेष में राज्य सुनाई पड़ते थे । अयोध्या नगरी के प्रत्येक घर में उसकी निन्दा हो रही थी और लोग उसकी कड़ी अपेक्षा कर रहे थे यहाँ तक कि राजपराने में भी प्रत्येक व्यक्ति उसकी निन्दा कर रहा था । कैकेयी के बह्यन्त के सम्बन्ध में राजा दशरथ का भी राजा लक्ष्मण के लिए कहलु हो गया था । तबलोंने राज के सामने यह सुभाष रखा कि बापकी यह आरखा कि पिता की आज्ञा को ग्रहीत कर मान लेना चाहिए और उन्हें सुरक्षा नम करता जाना चाहिए । सेवामात्र भी व्यापसंगत नहीं है ।† आपने धर्म समझ कर जो वनवास करना स्वीकार किया है वह अयोध्यावासियों की इच्छा के विषय है ‡ भाता, पिता नामक उन अहितकारी सन्धियों की जो स्वेच्छाचारी हैं, आज्ञा का पालन करना आपके अतिरिक्त दूसरा मन से भी नहीं सोच सकता । आज रामचन्द्र के राज्याभिषेक को समस्त लोकपाल तथा तीनों लोकों की अनुरा भी मिलकर नहीं टाल सकती फिर पिता दशरथ कैसे टाल सकते हैं ? लक्ष्मण ने यह सम्मति दी कि राम दशरथ के स्थान में स्वयं राजा बन जाएँ क्योंकि उनमल उनके पक्ष में है । यदि राज्य ग्रहण करने में किसी प्रकार का मूढ़ होता है तो वह मल तक राम का साथ देंगे । जिन लोगों ने मिल कर आपके वन में जाने का विचार निरूपण किया है सब उन्हीं को १४ वर्ष तक वन में रहना पड़ेगा । मैं पिता की आज्ञा को नष्ट कर दूँगा और उसकी आज्ञा पर भी पानी फेर दूँगा जो तुम्हारे

*—अनुसन्धेयसीतः स्वाद्राज्यं प्राप्यैतद्वचनम् ।

अभ्ये स एवातिवर्षं मा-मां तच्छ्रमागमत् ।।

इलोक १ सर्ग ३२, अयोध्या का० ।

†—सोऽपि धर्मो मम ह्येवो यत्नसंगतिमुदासि ॥

इलोक ११ सर्ग २३, अयोध्या का० ।

‡—तवामं धर्मं संबोधी लोकस्यास्व विगर्हितः ।

अनसदि कर्म कामं कुर्वीषा काम वृत्तयोः ॥

इलोक १४ सर्ग २३, अयोध्या का० ।

धर्मियेक में विघ्न बाध कर अपने पुत्र के राजा होने की कामना कर रही है ।* उन्होंने यह भी कहा कि परम्परागत राजधर्म के अनुसार राम को ही धर्मोष्मा का राजा होना चाहिए । राम को भी इस सम्बन्ध में राज्य को बर्हीकार करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि धर्म का बहाना लेकर वह जनमत का विरोध कर प्रज्ज का विस्कार कैसे कर सकते हैं ! संसार में कोई भी दूसरा अधिकार ऐसे स्वेच्छाचारी मत्ता पित्त की प्राजा नहीं मानेगा ।

मुख्य संवीगण एवं रामगुरु ने कौन्सी की सड़ी-भालोचना की । कौन्सी के मर्म स्थानों को अपने अनुपम वाक्य कर्जों से छेदते हुए सुमन्त्र ने कहा—सुमने अपने पति राजा दशरथ का त्याग किया, जो स्थावर, अंगम तथा समस्त जगत् के स्वामी हैं । इससे शस्त होता है कि तुम्हारे लिए बकार्य कुस भी नहीं है । मैं तुमको पतिपतिनी और कुलपतिनी समझता हूँ । ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ तेरा पुत्र भरत हो राजा हो और वही पृथ्वी पालन करे । हम लोग वहाँ चले जाएँगे वहाँ राम जा रहे हैं । वैसे निन्दित काम तू आज कर रही है चलके कोई भी काहृशा तेरे राज्य में न रहेगा । निश्चय हम लोग भी जिस रास्ते से राम जायेंगे उसी रास्ते चले जाएँगे । इस प्रकार सब कर्णवों, सब काहृणों और साधुओं से तपत यदि यह धर्मोष्मा राज्य प्राज तुम्हें मिल भी गया तो उससे क्या लाभ हो सकेगा ।†

*—यह तदर्थं भवर्षाभि विदुस्तत्प्रादेव या तत्त ॥

श्लोक २३ सर्ग २३, धर्मोष्मा का० ।

महं भवेन विदुःशाम न स्वाहेतवर्जं तथा ॥

श्लोक २३ सर्ग २१, धर्मोष्मा का० ।

प्रति जाने च ते धीर मा भूवं धीर लोकभाक् ।

राज्यं च तत्त दवेचनहं वेजेन सागरम् ॥

श्लोक २२ सर्ग २३, धर्मोष्मा का० ।

†—नूनं सर्वे गमिष्यामो मार्गं रामे निर्दिधितम् ।

तत्तया या वाग्ध्वैः सर्वैर्जाहृणैः साधुभिः सदा ॥

श्लोक १२ सर्ग २२, धर्मोष्मा का० ।

का मीती राज्य जानेन तपदेवि भविष्यति ॥

श्लोक १३ सर्ग २२, धर्मोष्मा का० ।

प्रजा ने स्वयं राम के साथ वन जाने के लिए पीछा किया था । वह किसी के द्वारा भी प्रयोध्या लौटने के लिए समझाई नहीं जा सकती थी । वह अपने राजा दशरथ की भी निन्दा करने लगी । और उन्हें मरता बुरा कहने पर उठारू थी । केवल राम का बहुतराफ़ी हार्दिक प्रार्थना उसे दान्त रह सका । राम ने प्रजा को समझा कर कहा कि प्रयोध्यावासियों का जो प्रेम और को आदर बुद्धि मुझमें है वह मेरी असन्तुष्टा के लिए तुम लोग भरत में रखो । उन्होंने इस बात का विश्वास दिलाया कि भरत का चरित्र बड़ा पुनीत और सुन्दर है, वह भाव लोगों का प्रिय करेगा । यद्यपि वह वाचक है पर कहे जायें हैं, उनका चित्त कोमल है, पराक्रम के सभी गुण उनमें विराजमान हैं । वही भरत तुम लोगों के योग्य राजा हैं, वह तुम्हारी रक्षार करेगा । भरत को मेने ही राज्यधर्म की शिक्षा दी है ।*

प्रजा राम को राजा बनने के लिए विवश कर रही थी पर वह प्रयोध्या की रक्षार्थी शेष चाहते ही न थे क्योंकि वह राज्य । तुल्य और वेभव की अपेक्षा अपने पिता की प्राप्ता परतन करने में अधिक गौरव समझते थे । दाक्षरणी रामचन्द्र ने पिता की आज्ञा पालनरूप धर्म में जिसनी अधिक दृढ़ता दिखाई प्रजा के लोगों ने उसका ही अधिक रामचन्द्र को अपना राजा बनाने का दृढ़ निश्चय किया । रामचन्द्र वन जाना चाहते थे और प्रजा उन्हें राजा बनाना चाहती थी । रस्ती में बंधे अनुरूप । समान रामचन्द्र तथा सकुमार ने दुखी और रोते हुए पुरुषासियों को अपने साथ खींच लिया । प्रजा राम को अपना राजा अवश्य बना लेती परन्तु राम के राज्य न लेने के दृढ़ संकल्प ने उसकी प्राप्ता को घुरा न होने दिया ।†

प्रजा के विद्रोह के चित्त भरत के ननिहास से प्रयोध्या जाने के

*—या प्रीतिर्बहुमानस्य मध्ययोध्या निवासिनाम् ।

सतिप्रवार्थे विद्रोहेषु भरते सा विद्रोयताम्॥

श्लोक ६ सर्ग ४५, अयोध्या का० ।

†—यथा यथा दाक्षरिचर्मै सेधाश्रितो भवेत् ।

तथा तथा मङ्गल्यो रामं पतिमकामवद् ॥

श्लोक ११ सर्ग ४५, अयोध्या का० ।

समय भी दुर्घटियोंकर होते हैं। भरत अपने ननिहास से पिता की मृत्यु के उपरान्त जब शायोण्या नगरी सीटें, प्रजा ने उनका सेवमाण भी स्वागत न किया। भरत को देख कर प्रजा ने मुस केर किया। प्रजा का गुप्त विरोध तब तक शासित न हुआ जब तक कि भरत ने अपने इस निर्णय को कि वह राम को मनाने और उन्हें उनका राज्य जीपने के हेतु बन जाएँ प्रजा के कानों तक पहुँचा न दिया।

महाभारत में भी ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया गया है जो इस सिद्धान्त की पोषक हैं कि राजा को नियुक्ति की स्वीकृति प्रजा देती थी, परोक्षित की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र अनमेजय पश्चिम ब्राह्मणों (शुचिर्ब्रजः) राजपुत्रोहित, राजा के मंत्रियों (नृपस्य मंत्रिभिः) और राजधानी के निवासिभिः (पीरवासि जनैः) के द्वारा राजा बनाया गया वह एकत्र हुए और उन्होंने उसे राजा बनाया।*

इसी सिद्धान्त की पुष्टि में राजा ययाति की घटना उल्लेखनीय है। राजा ययाति अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु को राजा बनाना नहीं चाहते थे क्योंकि वह उद्धव, गर्वीला तथा अविनयशील राजकुमार था। अपने उन राजकुमारों को भी राज्याधिकार से वंचित रखना चाहता था जो किसी प्रकार भी यदु से सहानुभूति रखते थे। वह अपने सबसे छोटे पुत्र पुरु के शिष्टाचरण के कारण उस पर बहुत प्रसन्न था और उसी को राज्य देना चाहता था। राजा ययाति ने पुरु को राजा बनाने का प्रस्ताव प्रजा की स्वीकृति के हेतु उसके सामने प्रस्तुत किया। परन्तु प्रजा ने उसे अस्वीकार किया। अपने छोटे पुत्र पुरु को राज-सिंहासन पर अर्पित करने के लिए प्रस्तुत हुए राजा से जारों वारों विवेक कर ब्राह्मणों ने यह कहा—राजन् ! तुमबार के नातो और देवनातो ॥ सबसे बड़े पुत्र यदु को छोड़ कर पुरु को राजसिंहासन क्यों प्रदान करते हो ? हे राजन् ! ज्येष्ठ पुत्र का परित्याग कर सबसे छोटा भाई पुरु राज्य कैसे प्राप्त कर सकता है ? हम आपको सचेत करते हैं, आप धर्म-मर्यादा का पालन करें। ययाति के मर्मक्ष केवल एक मार्ग रह गया था और

*—अथ सिद्धं तस्य सुतं प्रचक्रिरे संजैत्य तत्रं पुरवासिनो जनाः ॥

रजो० ६ अ० ४४, आदि० ४०।

†—वासन्प्रमुखा वयो हवं वचनमाबुधम् ॥

रजो० १२ अ० ४५, आदि० ५०।

वह था प्रजा की इस बात से संतुष्ट करना कि उसका यह निर्णय धर्मयुक्त है । अतः ययाति ने उससे कहा—जो पुत्र माता-पिता का भ्राताकारी, उनके हित में तत्पर और पुत्रवत् माता-पिता से व्यवहार करनेवाला होता है वही सच्चा पुत्र है ।^१ मेरे हितकारी पुत्र पुत्र ने मेरी कामना की पूर्ति की है । स्वयं शुभ्रचार्य ने भी मुझको यह अनुमति दी है कि जो पुत्र तेरी (ययाति की) आज्ञा का पालन करे वही बूझी का पालन करनेवाला राजा बन सकता है । अब मैं आप लोगों से प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग भी पुत्र को राज-श्रम पर समर्पित करें ।

ययाति के ऐसे हेतुयुक्त बचन सुनकर प्रजा ने कहा—जो पुत्र गुरुवान है माता-पिता की सेवा में तत्पर रहता है वह छोटा भी श्रेष्ठ है और सब कुसुराज्यादि सम्पत्ति वही प्राप्त कर सकता है । हे राजन् जिस पुत्र ने तेरी आज्ञा का पालन किया है वही राज्य का अधिकारी हो सकता है और शुभ्रचार्य द्वारा व्यवस्था से देरे ■ उपरान्त अब किसी को कुसुर उत्तर देने का स्थान ही नहीं है ।^२

इस प्रकार पुर और राष्ट्र के लोगों के इत्ना कहते ही गुरुपुत्र ययाति ने अपने छोटे पुत्र पुत्र को राज-सिंहासन पर बिठा दिया ।^३

कथं शुभ्रस्व तस्यैव देवमान्याः सुतं प्रभो ।

श्रेष्ठं यदुमस्मिन् राज्ञं पुरोः प्रपञ्चसि ॥

श्लो० २० अ० ८२, आदि प० ।

ययं संवोचवामसर्वा वयं त्वं प्रतिपाद्य ॥

श्लो० २२ अ० ८२, आदि प० ।

*—माता विप्रोर्बचनं कृत्वाः पथ्यन् या सुतः ।

त पुत्रः पुत्रवदश्च वर्तते पितृ मातृषु ॥

श्लो० २२ अ० ८२, आदि प० ।

†—प्रकृतयत्तुः + + कर्तुः कुरुविदं राज्ञं वा सुतः विप्रकृतयः ।

वरादानेव शुभ्रस्व न राज्ञं वक्तुं सुतरम् ॥

श्लो० २३ अ० ८२, आदि प० ।

‡—पोद्गानपदेस्तुष्टैरित्युक्तो भाग्यवत्तया ।

कथमर्थिचतः कुरु राज्ञे त्वे सुतमात्मनः ॥

श्लो० २४ अ० ८२, आदि प० ।

इस सम्बन्ध में हीनरा उदाहरण युधिष्ठिर के विषय में है । पुरवासीगण पाण्डुपुत्रों को राजोचित ग्रामों गुराँ से युक्त देसकर सभाओं और औराहों पर उनके गुण गान करते थे । सभाओं और औराहों में इकट्ठे होकर पुरवासी पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को राज्य दिलाने की वर्षा किया करते थे ।* इनका उद्देश्य यह था कि युधिष्ठिर के राज्याधिकार को सबल बनाने के लिए उनको लोकप्रिय बना दिया जाए । ऐसा हो जाने से युधिष्ठिर के लिए हस्तिना-पुर के राज-पद प्राप्ति में विशेष सहायता मिल सकेगी । वह हम स्थानों पर यह कहा करते थे कि भूतराष्ट्र तो प्रन्हा होने के कारण पहले ही राज-पद से वंचित किया जा चुका है । पाण्डु पुत्र भीष्म उत्पत्तिक और महाव्रती है । जब उसने पूर्व ही राज्य का परित्याग कर दिया था तो वह अब राज्य कैसे ग्रहण कर सकता है । अब हम पाण्डवों में ज्येष्ठ शल्य, युद्धप्रिय, शल्य और कदम्बा के पक्षपाती युधिष्ठिर को राज-पद पर अभिविस्त करेंगे ।†

युधिष्ठिर के राज-पद स्थापने के समय के उपस्थित होने पर उन्होंने इस बात की व्यवस्था करने की भावा से कि उनके स्थान में परीक्षित हस्तिनापुर के राजा हों प्रजा को बुलाकर ससम्मान्नी प्रस्ताव रखा । परन्तु उनकी प्रजा ने इस कार्य में अपनी अनुमति न दी । राजा और प्रजा में इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद हुआ । अन्त में राजा प्रजा की अनुमति से जेमे में सफल हुआ । इस प्रकार परी-क्षित प्रजा की अनुमति से राजा बना ।

विचित्रवीर्य की मृत्यु के उपरान्त कुछ राज्य राजाहीन हो गया । इन्हें ने राजाहीन राज्य में वर्षा न की । जब पराजयक राष्ट्र

*—गुह्यः समुदितान्द्रा पौराः पाण्डु सुर्वास्वदा ।

स्क० २६ अ० १७६, आदि ५० ।

राज्यमार्ति च सम्प्रदाय ज्येष्ठ पाण्डुसुतंशदा ।

कवचलि स्म सम्भूय अक्षरिषु सभासुच ।

स्क० २४ अ० १४६, आदि ५० ।

†—तेषां च वास्तव ज्येष्ठ अभिविज्ञान ॥

स्क० २० अ० १४३, आदि ५० ।

धो इन्ह में क्यों नहीं की तो सुभा के भय से पीड़ित प्रजा भीष्म के पास आई और उनसे बोली—हे महाभाग ! सारी प्रजा तब हो चुकी है । भय भाप हमारे राजा बनें ।* परन्तु अपने दृढ़ संकल्प के कारण उन्होंने प्रभु के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया :

यह घटना भी इस सिद्धान्त को पुष्ट करती है कि राज-पद प्राप्त के लिए प्रजा की स्वीकृति लेना अनिवार्य था । महाभारत के अन्तर्गत एक और घटना मिलती है जो इस विषय में अत्यन्त प्रामाण्य है । यह घटना देवापि के सम्बन्ध में है । राजा प्रतीप धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते थे । राज्य का शासन करते उन्हें जब बहुत समय व्यतीत हो गया तो उस युद्ध उत्तम राजा प्रतीप ने अपने बड़े पुत्र देवापि के राज्याभिषेक के निमित्त शास्त्रानुसार भारी सामग्री एकत्र की । देवापि अस्थवर्षी, आर्षिक और विदु प्राज्ञाकारी था । इनमें पुर और राष्ट्र के लोग हृदय से प्रेम रखते थे । यह संजनों में बड़े सम्मानित थे । इस प्रकार देवापि सभस्त बाल-बुढ़ाओं के परमप्रिय थे । यह बड़े उदार और सब प्राणियों के हित में निरत थे । परन्तु वह स्वभा रोग से ग्रस्त थे । ऐसे देवापि के अभिषेक में बाधपूर्ण और बूढ़ों ने पुर और राष्ट्र के लोगों से मिल कर विजय प्राप्त किया ।† जब राजा प्रतीप को इस बात का पता चला तो वह रोने लगा और अपने पुत्र के विषय में बड़ा चिन्तातुर हुआ । देवापि बड़ा उदार, धर्मज्ञ, सत्यव्रति और प्रजा का प्रिय भी था तो भी स्वभा रोग से ग्रस्त होने के कारण प्रजा द्वारा यह राजा बनने में असमर्थ समझा गया । इस अभिषेक के रुकने की घटना देखकर राजा के भग्न में बड़ी पीड़ा हुई और वह पुत्र शोक से व्याकुल हो उठा । जब प्रजा ने राजा प्रतीप को अपने पुत्र देवापि के अभिषेक

*—इन्द्रोवाहः प्रजाः सर्वा राजा भव मेघान नमः ॥

श्लो० १६ अ० १८७, उद्योग ५० ।

†—सं महाकाश्वर्यं सुहृदश्च दीरजानमयैः सह ।

सर्वे निधानमास्तु देवापेरभिषेकसम् ॥

श्लोक २२ अ० १४१, उद्योग ५० ।

काय की रोक दिया तो देवाधि जन में चला गया ।* बाह्लीक (देवाधि का भाई) भी राज्य को छोड़ कर अपने मामा के यहाँ चला गया ।† इस प्रकार प्रजा की अनुमति से प्रतीप का तीसरा और सबसे छोटा पुत्र कुटुम्बों का राजा बनाया गया ।

इस प्रकार उपरोक्त घटना इस सिद्धान्त का एक अवलम्ब प्रमाण है कि महाभारत काल में राजा बनने के पूर्व प्रजा की अनुमति से लेकर प्रतिवार्षिक सम्मेलन जाता था और राजपद प्राप्ति के लिए यह एक ऐसा प्रतिबन्ध था जिसका उल्लंघन करना राजा की शक्ति के बाहर था ।

परन्तु रामायण और महाभारत के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जो यह बतलाते हैं कि कुछ ऐसे भी राजा थे जो अपने पिता के उपरान्त पिता की आज्ञा से ही राजा बन गए थे । इन स्थलों पर प्रजा की अनुमति के प्राप्त कर लेने के उपरान्त यह राजा बनाए गए हैं ऐसा बर्णन प्राप्त नहीं है । साथ ही यह है कि इन स्थलों पर इस विषय में रामायण और महाभारत मौन इस लिए धारण किए हुए हैं कि उस काल की प्रजा उस तक भावी राजा के अभिषेक के अवसर पर विष्णु शक्तवा पसन्द नहीं करती थी जब तक कि यह कार्य राज्याधिकार के निर्धारित सिद्धान्तों के विरुद्ध न होता और उस कार्य से उन सिद्धान्तों में से किसी एक भी सिद्धान्त के टूटने की आशंका न होती । प्रजा उस समय घटनास्थल पर प्रान्त अपना धर्म समझती थी जब कि यह वह समझ लेती थी कि निर्धारित राज्याधिकार के नियमों पर किसी प्रकार का श्रावण पहुँचने की सम्भावना है । राजा ययाति और प्रतीप के इस सम्बन्ध में ऐसे कार्य वे जिसमें उक्त नियमों पर बाधित पहुँच रहा था । इसलिये

*—सूतः श्रवणितोऽसौ पुत्रयोः समुत्पिबः ।

निवारितं नृप इष्टुः देवाधिः संभितोऽनमः ॥

श्लोक १६ अ० १४६, अर्चोप ५० ।

†—बाह्लीको मातुजं कुलं त्यक्त्वा राज्यं समाश्रितः ।

पितुः आहूतं पितृव्यस्य प्राप्तवान परमर्षिमतः ॥

श्लोक २० अ० १५, अर्चोप ५० ।

प्रजा ने अपने अधिकार का प्रयोग ऐसे अवसरों पर करना अपना कर्तव्य समझा था जिससे अनुपयुक्त व्यक्ति उनका राजा न बन सके।

ऊपर दिए गए उदाहरणों के आधार पर यह निश्चिन्ता कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत काल में राज्य की नियुक्ति प्रजा के हाथ में थी। प्रस्तुत राजा भारी राजा को केवल संश्लिष्ट (Nominalist) करता था। परन्तु उसे स्वीकार करने या अस्वीकार करने का पूर्ण अधिकार प्रजा को ही था। राजा की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुमति या लेने के उपरान्त उसे राज-पद दिया जाता था।

राज्याभिषेक का अधिकार—रामायण और महाभारत काल में राज-पद प्राप्ति के निमित्त अन्तिम परन्तु सबसे महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध राज्याभिषेक का प्रतिबन्ध था। हिन्दू जनता की दृष्टि में कोई भी व्यक्ति तब तक धर्मयुक्त राजा न समझा जाता था जब तक कि उसका शास्त्रानुसार राज्याभिषेक न हो जाता था। अनधिकाधिक राजा पतित समझा जाता था। इस युग में इस नियम का निरन्तर पालन होता रहा था। यहाँ तक कि अयोध्या राजाओं के लिए भी इस नियम का पालन करना अनिवार्य समझा जाता था। दुर्योधन की अभिषेका की अनुमति के लिए कर्ण को युग उपरान्त का राजा बनाने के पूर्व उसका अभिषेक किया गया था।

इस प्रथा का पालन समस्त हिन्दू युग में होता रहा है। इस संस्कार के मौलिक सिद्धान्त में संस्कृत हिन्दूयुग में सैकड़ों भी परिवर्तन न हुआ। समय के परिवर्तन में इस संस्कार के बाह्य कृत्यों में कुछ परिवर्तन आवश्यक हो गए थे। परन्तु उसका आन्तरिक स्वरूप पूर्ववत् ही बना रहा। रामायण और महाभारत काल में इस संस्कार में कोई विशेष परिवर्तन दृष्टे ही ऐसा उन वर्णों के पढ़ने से पता नहीं चलता। वैदिक युग में जो परिपाटी स्मिन् की गई थी इस युग में भी लगभग वही परिपाटी स्मिन् रही परन्तु जीवन सम्बन्धी समस्याएँ यों-यों जटिल होती गई इसके बाह्य रूप में भी अन्तर होता गया।

राज के राज्याभिषेक का वर्णन रामायण के दश काण्ड में दिया गया है इस अवसर पर वर्णों के विभिन्न स्थानों से अभिषेक की आवश्यकता सामग्री एकत्र की गई। जब शास्त्रानुसार अभिषेक की समस्त सामग्री एकत्र हो गई राम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव दानुज ने परोक्ष

तथा भूमियों के समस्त प्रस्तुत किया ।* इसके अनन्तर बृहद् ब्राह्मण वसिष्ठ ने संयत होकर सीता सहित राम को रत्न-जटित पीठ पर-
मिठाया । वसिष्ठ, विश्वामित्र, आत्मारि, कश्यपादि ने परसिंह रामचन्द्र का
अभिषेक स्वच्छ एके सुगन्धित जल से उसी प्रकार किया जैसे कि वसुधायी
ने हनु का अभिषेक किया था और मनु का अभिषेक जिस राजमुकुट
से वृष्णि वा यह रत्नजटित स्वर्णमय राजमुकुट तथा मगन में रत्नपीठ
पर विधिपूर्वक रखा गया । पुनः ऋत्विजों और ब्राह्मणों के साथ
महात्मा वसिष्ठ के द्वारा वही मुकुट रामचन्द्र को पहनाया गया ।† जब
यह संस्कार समाप्त हो गया तो राम और सीता को बड़े हाथी पर
बिठाकर मारिकों का एक समारोह निकाला गया । इस प्रकार लोगों
को आनन्द मनाने का अवसर दिया गया ।

भूमिभारतकार ने श्री युधामन्यु के राज्याभिषेक का वर्णन लगभग
इसी प्रकार किया है । उनका राज्याभिषेक प्रजा के मध्य धौम्य ऋषि के
द्वारा किया गया था ।

३३ उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि भावी राजा का राज्याभिषेक
पुरोहित और राज्य के मुख्य ब्राह्मणों पर निर्भर था । बिना उनकी
अनुमति के यह संस्कार नहीं किया जा सकता था । पुरोहित ही को यह
अधिकार प्राप्त था ■ वह राज्याभिषेक के कृत्वां को राजा से करता ।
परन्तु पुरोहित को कोई भी व्यक्ति इस कार्य में नियोजित करने के
लिए विवश नहीं कर सकता था । राजघराने का एक व्यक्ति यह
प्रस्ताव करता था कि समुक्त व्यक्ति का राज्याभिषेक होना चाहिए ।

*—अभिषेकाम रामस्य शत्रुघ्नः सविधेः सह ।

पुरोहिताम जेष्ठाय सुहृदन्धरञ्च श्वशुरवत् ॥

श्लोक० २८ सर्ग १२८, बुद्ध का० ।

†—जह्नुवामिर्मितं पूर्वं क्षिरोटं रत्नयोभितम् ।

अभिषिक्तः पुरायेन मनुस्तं दीप्तसेजसम् ॥

श्लोक १४ सर्ग १२८, बुद्ध का० ।

क्षिरीटेन ततः पद्मज्जसिन्धेन महात्मना ।

अभ्यभिषिक्तः पूर्ववीर्येण समयोरप्यत राज्ञतः ॥

श्लोक १७ सर्ग १२८, बुद्ध का० ।

इस भूमि के अधिकार के बाहर था। पुरोहित को वह अधिकार था कि वह इस प्रस्ताव को स्वीकार करता या न करता। पुरोहित स्वयं एक भयानक व्यक्ति होता था। वह ब्राह्मणों में प्रधान व्यक्ति होता था। वह अपने बुद्धिबल एवं उच्चभारण के लिए प्रसिद्ध होता था। वह राज्य के लोगों में सर्वश्रेष्ठ शासनधारी पुरुष समझा जाता था। यथा कि पुरोहित में पूर्ण विश्वास होता था। यदि वह किसी ऐसे व्यक्ति का अभिषेक कर बैठता तो कि उस पर के योग्य न होता तो वह अपने पर पर स्थिर रहने रह सकता था। उसका पर भी विशेष रूप निर्धारित नियमों के अनुसार प्राप्त किया जाता था। पुरोहित पर किस प्रकार निर्धारित होता होगा इस सम्बन्ध में अतिसूक्ष्म धर्मशास्त्रों की नियुक्ति धार्मिक युग में एक उदाहरण मानी जा सकती है।

पुरोहित के साथ साथ उच्चकोटि के ब्राह्मणों का एक वर्ग था जिन्हें राजाधिकाय ने राजकर्तव्यों के नाम से सम्बोधित किया है। यह ब्राह्मण वर्ग भी बीतराज से और अपने पवित्र भारण के लिए प्रसिद्ध होते थे। ब्राह्मणों का यह वर्ग राजा के सम्पर्क में रहता था जिसकी सम्मति के बिना राज्य में कोई भी योजना रचनात्मक रूप में नहीं लाई जा सकती थी। वास्तव में राज्य की बागडोर उन्हीं के हाथ में रहती थी। वह राजा के दैनिक कार्य पर नियंत्रण रखते थे। राजा की वास्तव सम्बन्धी दैनिक कार्य में वह ब्राह्मण वर्ग सम्मति और महावता देता था।

इसके अतिरिक्त राज्याभिषेक के अवसर पर चारों वर्गों के प्रतिनिधियों की उपस्थिति अनिवार्य थी। वह पवित्र बल की भाँती राजा पर छिड़क कर राज्याभिषेक करने में भाग लेते थे। यदि उन्हें किसी प्रकार यह ज्ञात हो जाता कि जिस व्यक्ति का अभिषेक किया जा रहा है वह अनधिकारी है तो वह उसका विरोध कर सकते थे जिसका परिणाम यह होता कि उसका अभिषेक रोक दिया जाता। देवाधि और पुरुष इन्हीं प्रकार के व्यक्ति समझे गये जिनके राज्याभिषेक के अवसर पर इस वर्ग में बिज्जु नाम दिया था।

इस प्रकार राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी संस्कार जिसका

कर्ण राधायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में उपलब्ध है निरुपलब्धपूर्वक प्रजावर्तनवाद के सिद्धान्तों पर अवलम्बित था ।

राजकीय शपथ का अधिकार :—राज्याभिषेक सम्बन्धी संस्कार का एक मुख्य भाग मावी राजा को प्रजामकत रहने की शपथ लेने का हृत्पथ था । महाभारत में इस बात का वर्णन है कि राजा पुष्प को अपने राज्याभिषेक के समय इस बात की शपथ मन, बन्धन और कर्म से सेती पड़ी थी* और उसका उसने पूर्ण निर्वीह किया था । महाभारत में ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ राजा गद्दी से केवल इस लिए उतार दिए गए और उनका कब कर दिया गया क्योंकि उन्होंने इस शपथ के प्रतिवन्द्य को छोड़ दिया था । राजा वेन इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । यह शपथ परम्परागत थी । बाह्यरा ग्रंथों में आज भी इस शपथ की सम्भावसी ज्यों की त्यों प्राप्त है । ऐतरेय ब्राह्मण में राजा के लिए जो शपथ दी हुई है उसका शाब्दिक अर्थ इस प्रकार है—जिस रात्रि में मैं उत्पन्न हुआ हूँ और जिस रात्रि में मैं मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँगा, इस मध्य में जो कुछपुण्य मैंने किए हों, मेरा स्वर्ग, मेरा जीवन और मेरी सन्तति नष्ट हो जाए यदि मैं तेरा (प्रजा) द्रोह करूँ ।†

महाभारत में भी राजा की शपथ दी हुई है । यह भी समझ इसी प्रकार है—इसमें राजा शपथ करता है—मैं जगत को ब्रह्म का स्वरूप मानकर उसकी सर्वथा रक्षा करता रहूँगा तथा जो दण्डनीति के अनुसार निरुपलब्ध महर्षियों ने कहा है, मैं उसका सर्वथा निःशंक होकर पालन करूँगा और कभी उच्छृंखल न होऊँगा ।‡

*—प्रतिष्ठां चाभिशेहस्य मनसा कर्मणा विरा ।

पाञ्चविष्याम्बहं ब्रह्म इत्येव चास्मकम् ॥

श्लोक १०६ अ० ५६, शर० प० १

†—यच्च रात्री आवेऽहं वा ऽ देवास्मि तबुभयमन्तरत्येता पूर्व जोकं सुकृत भगवुः प्रजां वृजीया यदि तेऽङ्ग वासिनि ॥

शर्ता १ अ० ६६ कण्विका १५, ऐतरेय ब्राह्मण ।

‡—प्रतिष्ठां चाभिशेहस्य मनसा कर्मणा विरा ।

पाञ्चविष्याम्बहं भीमं ब्रह्म इत्येव चास्मकम् ॥

भृगुवाच भर्तुः निधोक्तो दण्डनीति न्यपाक्षयः ।

तमग्रजः करिष्यामि स्वयमो न कदाचन ॥

श्लोक १०६-१०७ अ० ६६, शर० प० १

यहाँ तक कि इस अवसर पर उन प्रतिद्वन्द्वों की सूचना समस्त जनता के सामने प्रजा की भी जाती थी जिन पर राज्य भावी राजा को सौंपा जाता था। मजबूत में इन प्रतिद्वन्द्वों का उल्लेख इस प्रकार है—यह राज्य तुम्हें (राजा की) कृपिकार्य के लिए (कृपाय)। प्रजा की सेवा कृष्ण के लिए (सेवाय) और सर्वांग समृद्धि और सम्पन्नता (पोष्यय) के लिए प्रदान किया जा रहा है।

इन वैधानिक प्रतिद्वन्द्वों के प्रतिरिक्त भावी राजा को राज्याभिषेक के अवसर पर दिग्विजय के लिए प्रस्थान करना पड़ता था। सम्भवतः इस योजना की व्यवस्था इसलिये की जाती होगी कि यह जाना जा सके कि जो व्यक्ति राजा बनाया जा रहा है वह वीर है और जो राज्य उसे सौंपा जा रहा है उसकी रक्षा करने में वह समर्थ है। महाभारत में युधिष्ठिर की दिग्विजय का वर्णन मिलता है। अपने राज्याभिषेक के अवसर पर युधिष्ठिर ने अपने चारों भाइयों ■ दिग्विजय के लिए भेजा था और उन्होंने लगभग सारा भारत विजय कर युधिष्ठिर के अधीन कर दिया था।

इस प्रकार वीर बनाने में जन्म, ज्येष्ठता का सिद्धान्त, वंश परम्परागत अधिकार, सार्वभौमिकता, सत्ताधार की निर्धारित मात्रा, प्रजा की अनुमति, राज्याभिषेक संस्कार और राजकीय सपन ऐसे प्रतिबन्ध थे जो परम्परागत पक्षों या दलों से और जिन्होंने वैधानिक रूप धारण कर लिया था कि किसी प्रकार भी टांसे नहीं जा सकते थे। इन्हीं प्रतिद्वन्द्वों के अनुसार उस काल में राजा की नियुक्ति होती थी यतः राजा की नियुक्ति की यह प्रथा प्रजातन्त्रवाद की पोषक कही जा सकती है और प्रजातन्त्रवाद के प्रचलन तत्त्वों में से यह भी एक तत्व किसी घंटा तक माना जा सकता है।

तृतीय अध्याय

मंत्रिपरिषद्

रामायण तथा महाभारत और निर्कुश शासनः—रामायण और महाभारत के पढ़ने से पता चलता है कि यह दोनों ग्रंथ निर्कुश शासन का विरोध करते हैं। यह दोनों ग्रंथ ऐसे राजा की निन्दा करते हैं जो कुशल और योग्य मंत्रियों की सहायता और सहयोग के बिना शासन करते हैं। महाभारत के सभापर्व में नारद ने दुर्योधन से यह प्रश्न किया है क्या तुम केवल अपने ही लो मंत्रणा नहीं कर लेते ?* क्या तुमने आत्मा के समान कुछ समझने में समर्थ, कृतीन, प्रेमी, दृढ़ मंत्री नियुक्त किए हैं ?†

यही प्रश्न रामायण ॥ यदोष्मा काष्ठम् मे राम ने भरत से किये हैं—राम भरत से पूछते हैं—क्या तुमने अपने समान विषयसमीय, दूर, विद्वान्, जितेन्द्रिय, कृतीन और अभिप्राय समझने वाले पुरुषों

*—कविचर्मप्रपञ्च मेधा ॥

स्लोक ३१ अ० २, सर्मा प० १

†—कविचर्मप्रपञ्च मेधा ॥ स्लोक ३२ अ० २, सर्मा प० १

स्लोक २७ अ० २, सर्मा प० १

• कुलीनाश्वाश्वत्थसुरक्षाय कृतस्ते पीर १ मंत्रिभ्यः ॥

स्लोक २८ अ० २, सर्मा प० १

को अपना भौती बनाया है ?* क्या तुम किसी बात का निष्काप प्रवेश तो नहीं करते ?† यह भारत को समझाते [] सचेत करते हैं कि श्रेष्ठ राजाओं की विजय का मूल है। इसी कारण शास्त्रज्ञ और मंत्र की गुप्त रक्षामेवासे भौती राजा की रक्षा करते हैं।‡

महाभारत में भी इसी प्रकार के विचार दिए गए हैं। राजा पर्व में नारद युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं—राजन् ! राजाओं की विजय मंत्रियों के परामर्श पर ही आश्रित है।+ भीष्म भी युधिष्ठिर को यही उपदेश देते हुए कहते हैं—कि मंत्रियों की उत्तम मंत्रणा ही राज्य की वृद्धि का कारण है।× राज्य का भार अत्यन्त गुरु है। अकेला राजा उसके बहन करने में समर्थ नहीं [] सकता। कौटिल्य महोदय ने इसी सिद्धांत की पुष्टि करते हुए अर्थशास्त्र में लिखा है—राज्य का रथ अकेले राजा के एक पहिए से नहीं चला करता। उसको सचिव रूपी दूसरे चक्र की प्राबल्यकता है। यह सब बलि सोच कर राजा को मंत्री अवश्य रखने चाहिए और उनकी मंत्रणा अवश्य लेनी चाहिए।‡ कौटिल्य का मत है कि समालोचन राजा को विपत्ति से

*—कश्चिदात्मसमाः पूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः ।

शुचीवस्त्रेष्विस्त्रिणाभ कृतास्ते पाठ मंत्रिणः ॥

श्लोक १८ सर्ग १००, अश्वमेध का० ।

†—अधिकमार्गवसे नैकः ॥

श्लोक १८ सर्ग १००, अश्वमेध का० ।

‡—मनो विजयमुखं हि राजा भवति शयक ।

सुसंयुतो मंत्रिपुरैरमात्यैः शास्त्रज्ञेभिरेः ॥

श्लोक १६ सर्ग १००, अश्वमेध का० ।

+—विजयो संक्रम्यते हि राजा भवति भारत ॥

श्लोक २८ सर्ग ५, सभा १० ।

×—मंत्रिणा मंत्रमुखं हि राजे राज्यं विवर्द्धते ॥

श्लोक ४८ सर्ग ८७, शा० १० ।

‡—सङ्गावसाध्यं राजत्वं पश्येकं न वर्तते ।

कुर्वीत सचिवास्तस्मात्तर्वा यः श्रुत्वात्मनः ॥

वार्ता १५ अष्टाध्याय ७ अधि० १, अर्थशास्त्र ।

कहाते हैं। यह ही लोग समयविभाग के बाबुक से एकान्त रमिवास प्रादि में प्रवादपूर्वक समय बिताते हुए राजा को सबैत करते हैं।* सुक्राचार्य भी कौटिल्य महोदय के इन विचारों से सहमत हैं। यह इस विषय पर सुक्रमीति में लिखते हैं—यद्यपि कोई कार्य बहुत छोटा है, तथापि यह भकेसे श्राद्धमी से नहीं किया जा सकता है। जब छोटे से कार्य को भी भकेसा मनुष्य नहीं कर सकता तो फिर विद्याल राजा को असहाय पुरुष कैसे चला सकता है? यद्यपि राजा सारी विद्याओं में कुशल हो, संन करना भी जानता हो, तो भी मंत्रियों के बिना उसको भकेसे कभी संन को नहीं विचारना चाहिए।† राजा को सर्वथा अपने सभासद, अधिकारी, प्रमात्यादि—प्रकृति और प्रजा के मध्य लोगों की सम्मति से कार्य करना चाहिए। राजा कभी अपने मत के पीछे न चले।‡ जो राजा शक्तिवासी हो और स्वेच्छाचारी हो जाए, तो उस पर विपत्ति पचवय आएगी।+ युवराज और प्रमात्यागण

*—य एकमपायस्थानेभ्योवास्तवेयुः ॥

वाता १२ अध्याय ७ अधि० १, अर्थराजः ।

क्षुशानाशिका प्रतोदेन वा रहसि प्रमात्यभिमुखः ॥

वाता १४ अध्याय ७ अधि० १, अर्थराजः ।

†—यद्यप्यहर्तां कर्म तदप्येकेन धुष्करम् ।

पुरुषेवासाहायेन किमुराभ्यं महोदयम् ॥

श्लोक १ अध्याय २, सुक्रमीति ।

सर्वं विद्याशु कुशलो नृपोऽपि सुमंत्रविद् ।

मन्त्रिमिन्तु विनामंत्रं नैकोर्ध्वितयेत्यवधिम् ॥

श्लोक २ अध्याय २, सुक्रमीति ।

‡—सम्भाधिकारि प्रकृति सभासेस्तु मतेस्विकः ।

सर्वदास्याम्नयः प्राज्ञः स्वमतेन कदाचन ॥

श्लोक ३ अध्याय २ सुक्रमीति ।

+—प्रभु स्वार्तव्य मापन्नो हानवद्वैषकल्पते ॥

श्लोक ४ अ० २, सुक्रमीति ।

राजा के घाएँ बाएँ सेज और कर्ण सामे गए हैं । इनके भित्ति राजा बाहु, कर्ण और घाँवों से रहित समझा जाता है ।*

महाभारतकार ने भी राजा के लिए मंत्रियों की आवश्यकता अनिवार्य बतलाते हुए लिखा है कि यज्ञियों के अधिव सेज स्थियों के रत्नक पति, ब्राह्मणों के सम्भव वेद और राजा के सम्भव मंत्री होते हैं ।† रामायण में राजा के चौवह घोष दिए गए हैं उनमें से एक घोष यह भी है कि राजा किसी बात का निर्णय अपने भाए ■ कर ले । इस विषय में राम भरत से पूछते हैं—तुमने राजा के चौवहों घोषों का त्याग ■ कर दिया है न ? इन घोषों को दिखाते हुए यह एक घोष यह बतलाते हैं कि ककैसे राज्य की बातों का निश्चय करना ।‡

हिन्दू सम्राट्मक राज्यः—आधुनिक युग में राज्य निर्माण में चार मूल तत्त्वों की आवश्यकता पड़ती है । यह तत्त्व भू-भाग, जन, राजनीतिक संगठन, और राज सत्ता हैं । इन चारों तत्त्वों के संयोग से आधुनिक राज्य का साक्षात्कार होता है । इन तत्त्वों में से एक का भी अभाव राज्य के अस्तित्व को कष्ट कर देता ।

परन्तु हिन्दू राज्य का निर्माण सात तत्त्वों के संयोग पर अवलम्बित था । इसीलिए हिन्दू राज्य सप्तात्मक राज्य के नाम से प्रसिद्ध था । राज्य के यह सात तत्व राजा, अमात्य, कोष, बल, मित्र, पुर और राष्ट्र थे ।+ हिन्दू राजनीतिक विचारधारा के अनुसार इनमें से एक तत्व का भी अभाव राज्य के अस्तित्व को मिटा देता था ।

*—सुवराजोभय गन्धो बुजावेतौ महीभुजः ॥

ॐ ॐ ॐ बाहु कर्णघाँवोना स्वादिना सम्भारलोभुः ॥

श्लोक १२-१३ अ० २, सुक्रमीति ।

†—स्वैरन्य नाभाः पतयो राजागो मंत्रिर्वाधवाः ।

पतयो ब्रह्मन्वाः स्त्रीणां नाह्व्या मेघवाग्धवाः ॥

श्लोक ३८ अ० १४, उद्यो० १० ।

‡—एकचित्तव्रतमर्थात्ममर्थक्षेत्रम् ॥

श्लोक ६३ सर्ग १००, अयोध्या अ० ।

+—भारतसमात्मात्वन क्षीपात्वन द्रवदो मिश्राणि चैव हि ।

इसलिए हिन्दू राज्य में मंत्रि परिषद् का होना अनिवार्य था । यह केवल शाहजहाँ, राजा के गौरव का प्रतिष्ठा बढ़ाने मात्र के लिए न थी । हिन्दू राज्य में मंत्रिपरिषद् अपना निजी अस्तित्व रखती थी और उसकी उपयोगिता महान् थी । राज्य में शासन सम्बन्धी कर्तव्य संचालन में मंत्रिपरिषद् का प्रमुख स्थान था । यह राजा की स्वेच्छाचारपूर्ण एवं निरंकुश श्रेयनाओं की प्रतिबन्ध लगाकर उसे अपनी उचित मंत्रणा के द्वारा सद्मार्ग पर लधाती थी ।

मंत्रि परिषद् और उसका निर्माणः—रामायण और महाभारत काल में मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति राजा के अधीन थी । मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति करना तथा उन्हें मंत्रिपद से विमुक्त करना राजा का एक प्रधान कर्तव्य समझा जाता था । परन्तु हम मंत्रियों की नियुक्ति एवं उनके पदच्युत करने से सम्बन्धित अधिकारों पर वैधानिक प्रतिबन्ध थे । रामायण और महाभारत में इस सम्बन्ध में जिन प्रतिबन्धों का वर्णन है उनका उल्लेख नीचे किया जाता है ।

(क) वैत्रिक अधिकारः—रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में इस विषय ■ प्रमाण प्राप्त है कि मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति के समय राजा को इस ओर विशेष ध्यान देना पड़ता था ■ जिस मंत्री की नियुक्ति होने जा रही है वह परम्परागत मंत्रिकता से सम्बन्धित है । मंत्रिपद के लिए पिता के उपरान्त पुत्र का अधिकार उचित समझा जाता था । कदाचित् यह नियम इसलिए था कि चरित्र निर्माण में रक्त का प्रभाव बड़ा महत्वपूर्ण समझा गया होगा ।

तथा उपपद्मस्यैव पुत्रं च पुत्रं जन्मन ।

एतस्मात्तमर्कं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥

स्क० ६२ अ० ६३, सू० ५० ।

एवाभ्यमाल्यजनपददुर्गकोट द्वादशभिर्नाभिं प्रकृतयः ।

बार्ता । अथवा १ नाभिः ६, अर्धराजः ॥

एवाभ्यमाल्य दुर्गकोटराज्यं दुर्गं बह्वारि च ।

सहासं सुध्वते राज्यं + + + + + ॥

स्क० ६१ अध्याय १, सूत्रोक्तिः ।

रामायण में इस सिद्धान्त की प्रुष्टि करने के लिए कई स्थलों में इस सम्बन्ध के वर्णन प्राप्त हैं । भरत अपने बड़े भाई राम की मनाने के लिए चित्रकूट गए थे । भरत को व्याकुल एवं चिन्तित देखकर राम ने उनसे उनकी परिस्थिति से परिचय प्राप्त करने के लिए अव्योधा राज्य के शासन सम्बन्धी प्रश्नों बातें पूछी थीं । उनमें से एक प्रश्न मंत्रियों वा समास्थों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भी था । इस विषय में उन्होंने भरत से इस प्रकार पूछा—क्या तुमने अपने समस्त विषयसनीय सूर, विद्वान, जितेन्द्रिय, कुलीन, और मन्त्रिण्य समझनेवाले को भ्रष्टा मंत्री बनाया है न ?* राम का भरत के प्रति यह प्रश्न क्या भरत ने कुलीन वंश के व्यक्ति को मंत्री बनाया है ? इस बात को बतलाता है कि रामायण काल में मंत्रिपद के लिए छूट रहत का विचार किया जाता था । चाहे जिसकर राम ने भरत से फिर पूछा—क्या तुम पिता पितामह से आए श्रेष्ठ समास्थों को उत्तम कामों में नियुक्त करते हो ?† राम का भरत के प्रति यह प्रश्न स्पष्ट बतलाता है कि समास्थों की नियुक्ति के समय वैधिक अधिकार पर विशेष महत्त्व दिया जाता था ।

महाभारत ग्रंथ भी इसी सिद्धान्त को निर्धारित करने में बड़ी महत्ता देता है । इस ग्रंथ में कई स्थलों पर राजा के लिए यह बतलाया गया है कि वह कुलीन वंश में उत्पन्न एवं पिता पितामह से बने आए मंत्रि-वंश से अपने मंत्रियों की नियुक्ति करे । शान्ति पर्व में ऐसे कई पक्षीक उपसम्य हैं जिनमें इन्हीं विचारों को प्रस्तुत किया गया है ।‡ महाभारत के सभा पर्व में भी इसी सिद्धान्त की प्रुष्टि करते हुए नारद ने युधिष्ठिर से इस प्रकार प्रश्न किया है—हे युधिष्ठिर ! छत्र रहित

*—कुलीनारण्य + + + मंत्रिणाः ॥

स्क० २५ सर्ग १००, श्लो० ५० ।

†—अमास्यापुत्रधातीपाम्पितृपैतामहाम्कुलीनः ॥

स्क० २६ सर्ग १००, श्लो० ५० ।

‡—कुलीनं कुत्र सम्यगाः ॥

स्क० १६ अ० ८३, शान्ति० प० ।

विद्यपैतामहोवा स्वात् स + + + ॥

स्क० ४३ अ० ८६, शान्ति० प० ।

पिता पितामह आदि कुल क्रम से चले आए हुए पवित्र आचरण वाले, श्रेष्ठ मंत्रियों को तो श्रेष्ठ कर्मों में लगासे रहते हो ।*

इस प्रकार राजा को अपने मंत्री नियुक्त करते समय सर्व प्रथम इस बात का ध्यान रखना पड़ता था कि जिस व्यक्ति को वह मंत्रिपद देने जा रहा है वह मंत्रिवंश से सम्बन्धित है । वास्तव में ज्ञात तो यह भी कि यह मंत्रि-वंश वैदिक युग से परम्परागत चले आ रहे थे । रामायण और महाभारत में जिन मंत्रि-वंशों की ओर इस सम्बन्ध में संकेत किए गए हैं उनका सम्बन्ध वैदिक काल के राजकर्त्ताओं के वंशों से था जिन्हें वैदिक काल में रत्न के नाम से सम्बोधित किया गया है । इसलिए ■■■ मंत्रिवंशों का सम्बन्ध वैदिक युग के मंत्रिपरान्तों से था जिन्होंने उस युग में राज्यों के चरस करने में प्रमुख भाग लिया था ।

परन्तु इसका यह भ्रमिक्रम कदापि नहीं है कि राजा को अपनी मंत्रि-परिवर्त के मंत्रियों की नियुक्ति के लिए केवल इसी एक सिद्धान्त की ओर ध्यान देना पड़ता था । ऐसा समझ लेना कि मंत्रिपद के लिए मंत्रिवंश में जन्म लेना अनिवार्य था भारी भूल होगी । यह सिद्धान्त कभी तक लागू रहता था जब तक कि मंत्रिवंश में मंत्रिपद के सर्वथा योग्य व्यक्ति सुलभ था । यदि मंत्रिवंश में मंत्रिपद के सर्वथा योग्य व्यक्ति होता तो उसी के समान योग्य अन्य व्यक्तियों की प्रतीक्षा कर उसे सर्वप्रथम प्रवेश दिया जाता था । परन्तु यदि मंत्रिपद ■■■ लिए वास्तव में उपयुक्त व्यक्ति के न प्राप्त होने पर राज्य के अन्य किसी सुयोग्य नागरिक की (जो कि उस पद के सर्वथा योग्य होता) शोच करनी पड़ती थी और उसे मंत्रिपद पर प्रवेश नियुक्त कर दिया जाता था । यही कारण है कि रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में जहाँ यह लिखा गया है कि पिता के उपरान्त पुत्र को मंत्रिपद देना चाहिए, वहीं मंत्री के लिए शूद्राकरण एवं अन्य योग्यताओं पर विशेष महत्व दिया गया है ।

(ख) नारिन्त्रिक अधिकारः—इस बात पर ऊपर भली भाँति प्रकाश डाला जा चुका है कि कुलीन वंश में जन्म तथा पैतृक अधिकार का ध्यान

*—अमान्याहु पशोर्दीक्षाम्पितृ पैतामहान्पुत्रीष्व ॥

इसी सीमा तक रहा जाता था जब तक पुराने संविधान में संशोधन सम्पन्न होकर व्यक्ति मिल जाता था। कुलीन वंश में उत्पन्न होने और शिवाय पाला में दक्ष होने पर भी अनुभव रहित व्यक्ति संविधान पर नियुक्त करना शक्ति था।* मंत्री का दायित्व इतना सुदृढ़ होना अनिवार्य था कि उसके सामने बाहेरी ऐसी परिस्थिति कभी न उत्पन्न हो जाती परन्तु वह अपने कर्तव्य पथ से संयमाज भी विचलित न होता। कान, शोध, सोभाविक विकारों के प्रभाव से वह कभी पथभ्रष्ट न होता।† महामारज के शासित्व में भीष्म ने युधिष्ठिर को इसी विषय पर उपदेश देते हुए कहा है कि सूर, महान अनुभवी, संतुष्ट, महान उत्साही और बाह्य स्वभाव का मंत्री होना चाहिए।‡ मंत्री को देश काल के अनुरूप कुशलतापूर्वक कार्य करने की योग्यता होनी चाहिए।+ मूर्ख, दरिद्र स्वभाव, गहंकारी, शत्रुप्रेमी, वाचास, क्रूर स्वभावशोभी और लोभो ॥ मंत्री पद कभी देना ही नहीं चाहिए।- जो मंत्री इस बात का आश्चर्य करते हैं कि वह राजा ॥ शिवाय हैं

*—यस्य भ्रतो मंत्री कस्याप्यविज्ञोऽप्युत ।

अर्थात् काम संयुक्तो गच्छ मन्त्रे परीक्षितं ॥

रजो० २६ अ० ८३, शा० १० ।

†—सो न कामाद् भवात्करोभान् कोपाद्वाधर्ममुत्सृजेत् ॥

रजो० २७ अ० ८०, शा० १० ।

‡—अमात्यान्वाति सूरारिच, बाह्यवांश्च, परिशुतरम् ।

सुसंयुप्ताश्च कीन्देव महोत्साहारेण कर्मसु ॥

रजो० ३ अ० ८३, शा० १० ।

+—वेदा काल विधा ज्ञानमित् $\times \times \times \times \times$ ।

नित्यमर्थेषु राजा कुर्वति यन्निष्ठाः ॥

रजो० ८ अ० ८३, शा० १० ।

-—अविज्ञानद्विष्टः स्वयः शत्रुसेवी चिकरपन्थः ।

अशुद्धय कोचनो कुक्षो न भवे शत्रुमर्हति ॥

रजो० ३० अ० ८३, शा० १० ।

परन्तु हृदय से सच्चे नहीं हैं उन्हें राजा को गुरज परच्युत कर देना चाहिए ।*

रामायण में भी मंत्रियों के चरित्र पर बड़ा महत्व दिया गया है। रामायण के बालकाण्ड में लिखा है कि राजा दशरथ के मंत्री ध्वष्ट भूषा ग्रहण करते थे, प्रसिद्ध पराक्रमी थे, विदेश में भी उनकी ख्याति थी तथा उनके विचार निश्चित होते थे। वह सभी तरह गुणवान थे, कोई गुणहीन न था, सन्धि-विग्रह के रहस्यों के जानने वाले थे। प्रजा जनमें अनुरक्त थी और वह धन, धान्य से युक्त थे।† प्ररम्पकाण्डम् में मारीच ने उन मंत्रियों को प्राणदण्ड की व्यवस्था की है जो कुमार-शायी बनने राजा को कुमारों में जाने से नहीं रोक सकते। मारीच‡ विचार से मंत्री ऐसे निर्भीक होने चाहिए जो अपने स्वैच्छाचारी राजा को वध में रख सकें।‡ प्रयोध्याकाण्ड में भी मंत्री के चरित्र पर बड़ा महत्व दिया गया है। राम मंत्रियों की निपुणता के सम्मुख में मदत से प्रश्न करते हुए पूछते हैं—क्या तुमने अपने समान विरवसनीय गुर विद्वान, जितेन्द्रिय, कुलीन और अनिग्रह समझनेवाले मंत्री बनाए हैं ? +

*—अक्षितं च द्विषा क्षीरं धाम्पदरैः क्षयन्ति ये मराः ।

अनर्थं मंत्रं श्रद्धास्ते कर्तव्याः कुप्य हृदयैः ॥

स्क० ३८ अ० ८३, श्ल० ५० ।

†—गुरोर्गुरुगुरोत्तरं प्रक्याहारं पराक्रमैः ।

विदेशेष्वपि विजिताः सर्वतो जुहि निरचयाः ॥

स्क० १० सर्ग ७, श्ल० ८२ ।

‡—अमितो गुणचन्द्रकं न चासम्पुष्य पर्वितः ।

सन्धिविग्रह तावताः प्रकृत्या संपदाम्बिताः ॥

स्क० १८ सर्ग ७, श्ल० ८२ ।

‡—कथाः कालं न वयस्ये सचिवास्तव राजन् ।

ये श्वाभुस्तथामासं न विपुक्कुम्भिः सर्वतः ॥

स्क० १ सर्ग ४३, अरव्य० का० ।

+—अक्षिवायं सदा गुराः कुरवरो जितेन्द्रियाः ।

कुलोनायवेक्षितारं हृदास्ते तत्र मन्त्रिणैः ॥

स्क० १५ सर्ग १००, अयो० ८२ ।

राज का यह कथन भी इस बात को सिद्ध करता है कि राजा के मंत्रियों का चरित्र बहुत ऊँचा होना चाहिए।

सबभग सभी हिन्दू राजनीति विचारकों ने मंत्रियों में बुद्धि बल और चरित्रबल के उच्च मावकों का समावेश किया है। मंत्रियों में इन अनिवार्य गुणों का अभाव राज्य को नष्ट कर देता है। वास्तव में मंत्रिमंडल के मंत्रियों के ही कंधों पर राज्य का सारा भार होता है। यही राज्य संचालन करते हैं न कि राजा। राजा का तो केवल यही कर्तव्य रह जाता है कि वह अपने कुशल एवं योग्य मंत्रियों की मंत्रणा-नुसार कार्य कराने का आदेश दें।

(४) राज्य में निवास का अधिकार:—चरित्र तथा प्रतिभा-सम्बन्धी गुणों के अतिरिक्त अन्य विशेषताओं की भी आवश्यकताएँ मंत्रि-पद ॥ लिए वांछनीय थीं। इनमें उसी राज्य में निवास का अधिकार भी एक विशेषता थी। इसीलिए महाभारत और रामायण में मंत्रिपद के लिए इस प्रतिबन्ध की ओर संकेत किए गए हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि में महाभारतकार ने खान्तिपर्व में लिखा है कि चाहे जितना योग्य और सहाचारी विदेशी मंत्री न हो परन्तु उसे मंत्री पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए।* केवल वह व्यक्ति मंत्री बनाना चाहिए जो उसी राज्य का नागरिक हो।†

रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों को पढ़ने से चिदित होता है कि उस युग के मुख्य राज्यों में मंत्रिपद अपने राज्य के निवासियों को ही दिए गए थे। महाराज दशरथ ॥ मंत्रियों के अयोध्या नगरी में ही वासस्थान थे। वह अयोध्या राज्य के ही निवासी थे। किष्किन्धा राज्य के मंत्री उसी जाति के थे जिसके कि स्वयं किष्किन्धा के राजा थे और अश्विक्का उसी प्रदेश के निवासी भी थे। रावण के मंत्री भी लंका के निवासी थे और उसी राजस जाति के थे जिसका कि राजा रावण स्वयं था।

महाभारत में भी ऐसा ही है। हस्तिनापुर राज्य के प्रमुख मंत्री प्रायः

*—आगांतुराजानुरक्तोऽपि काममस्तु बहुभुवः ।

अनुक्तः सम्बन्धको वा न मंत्र्ये श्येतमर्हति ॥

॥ श्री० ३८ अ० ८३, का० १० ।

†—स्वदेशजैः ॥

॥ श्री० १३ अ० ८३, का० १० ।

सभी राज्य के थे । बिहुर ग्रीर संभव दोनों मंत्री थे । ये दोनों हस्तिनापुर राज्य के ही नागरिक थे । शकुनि जो दुर्योधन का मामा था ग्रीर जिसने कुछ काल तक मंत्रिपद पर काम किया था वह बिलेखी था ग्रीर गान्धार देश का रहने वाला था । परन्तु यह दुर्योधन का केवल सम्मतिदाता था । कृत्तवर्म ने राज्य के विषय में उसका कभी विश्वास नहीं किया ग्रीर इसीलिए उसने शकुनि को हस्तिनापुर की मंत्रिपरिवर में स्थान नहीं दिया था ।

मंत्रियों की नियुक्ति में पैतृक अधिकार का सिद्धान्त भी इसी विचार का प्रतिपादन करता है । उदाहरण के लिए भावी मंत्री का पिता मंत्री होने के नाते प्रथमा प्रथमा प्राप्त मंत्री होने के कारण स्थायीरूप से उस राज्य का जिसका कि वह मंत्री है प्रथमा रह चुका होगा, राजधानी का निवासी अवश्य होगा । यदि ऐसा नहीं है तो राज्य की प्रत्येक आवश्यकता तथा निर्माण पर वह कैसे उपस्थित हो सकेगा ? मंत्री को तो समासवन के समीर ही किसी न किसी एक कोठे में रहना ही होता होगा । अतः इस प्रकार के मंत्रियों के पुनः स्थायीरूप से ही राज्य के नागरिक हो जायेंगे ।

मंत्रिपद के लिए राज्य का निवासी होना आवश्यक था यह विचार कई हिन्दू राजनीति विचारकों ने व्यक्त किए हैं और मंत्रिपद के लिए उन्होंने भी यह प्रतिबन्ध लगाया है । ऋग्वेद भी इस और कुछ संकेत करता है । ऋग्वेद राजा के लिए तो यह स्पष्ट कहता है कि हम लोगों को अपने ही देशवासी की राज पद पर अभिषिक्त करना चाहिए ।* जब ऋग्वेद राजपद के लिए यह प्रतिबन्ध लगाता है तो यह भी सम्भव है कि यही प्रतिबन्ध मंत्रिपद पर भी लगाया जाता होगा ।

कौटिल्य महोदय अपने अर्थशास्त्र में ऐसे ही विचार प्रकट करते हैं । उनका कहना है कि मंत्री उसी राज्य का जिसका कि वह मंत्री बनाया जा रहा है निवासी होना आवश्यक है ।†

*—अस्मैवंतः संवृण्वते ॥

ऋग्वेद १

†—जायपदो अभिजात्य ॥

पार्थ १ अ० ६ अधि० १, अर्थशास्त्र १

इस सिद्धान्त के मूल में यह रहस्य है कि राज्य का नागरिक होने के नाते उसे अपने राज्य के प्रति विशेष भक्ति होगी। वह अपनी मातृभूमि के प्रति विश्वासघात न करेगा। दूसरे राज्य का निवासी विदेशी होने के नाते सासन कार्य में सर्वत्र विश्वास करने योग्य नहीं होता। विशेष कर राज्य के उस विभाग में जिस पर कि राज्य का जीवन ही निर्भर हो। उसका अपने राज्य के राजा से मिल जाना स्वाभाविक है। ऐसे मंत्री से राज्य का किन्तना अनिष्ट हो सकता है कल्पना की जा सकती है। प्राधुनिक राज्यों में यह प्रतिबन्ध लगाया जाता है। वर्तमान युग में तो इस सिद्धान्त का इतना महत्व बढ़ गया है कि राज्य में किसी भी पद की प्राप्ति के लिए उस राज्य का नागरिक होना एक अनिवार्य प्रतिबन्ध माना गया है और जो इस युग में प्रत्येक स्वयं राज्य में रहता ■ साथ बरता जा रहा है।

(घ) प्रजा के विश्वास का अधिकार:—महाभारत ग्रंथ के अनुसार मंत्रिपद के लिए प्रजा उस पर विश्वास रखती हो यह प्रतिबन्ध भी अनिवार्य समझा जाता था। महाभारत के खान्तिपर्व में यह स्पष्ट लिखा हुआ है कि मंत्रिपद उसे देना चाहिए जिसमें उस राज्य के राष्ट्र और पुर की जनता का विश्वास स्वाभाव से हो हो।* जिस व्यक्ति में पुर और राष्ट्र की जनता का विश्वास न हो उसे कदापि मंत्री न बनाएँ। इसलिए राज्य के मंत्रियों के लिए यह बात आवश्यक थी कि वह राज्य की प्रजा के हृदयों में अपना विश्वास जमा लेते। यह सम्भव है कि मंत्रिपद अभी तक अपने पद पर रह सकते होंगे जब तक कि राज्य की जनता उन पर विश्वास रखती होगी। इसलिए राजा को मंत्री की नियुक्ति वा उसे पदच्युत करने के समय इस और विशेष ध्यान रखना पड़ता था कि उस राज्य में इस सम्बन्ध में लोकमत जलके साथ है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उस युग में यह परिपाटी बन चुकी थी कि राजा उन व्यक्तियों में से अपने मंत्री चुनता था जिनके लिए प्रजा की सम्पत्ति, यदि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष, अवश्य होती थी।

*—दौराजान पद्माक्षिन् विश्वास धर्मतोमगा: ॥

(५) **आयु का अधिकार**—मंत्रियों की नियुक्ति में आयु का विचार जगत् स्वाम रक्ता वा । राज्य के मंत्रिपद के लिए बहुत धड़े अनुभव की आवश्यकता पड़ती थी । यही बात इस सिद्धान्त की पोषक है । क्यों कि शासन सम्बन्धी बड़े अनुभव प्राप्ति के लिए ऐसा अवश्य हुआ होगा कि राज्य के अन्य पदों पर रहकर मंत्री बनने के पूर्व उसने शासन सम्बन्धी अनुभव को प्राप्त किया होगा । इस बड़े अनुभव के प्राप्त करने के लिए उसे अपनी आयु का बहुत बड़ा भाग मंत्रिपद के प्रतिष्ठित राज्य के अन्य क्षेत्रों में क्रियाशील होकर काम करने में लगाना पड़ा होगा । सामान्य रीति से पहले वह स्थानीय संस्थाओं में रह कर क्वालिफ़िकेशन करेगा, फिर वह प्रांतीय संस्थाओं में भाग लेगा तत्पश्चात् वह केन्द्रीय शासन कार्य में भाग लेने योग्य बन सकेगा । यही भी अब वह अपने विशेष अनुभव एवं प्रतिभा तथा कौशल के लिए प्रसिद्धि पा लेने पर मंत्रिपद के योग्य समझा जा सकेगा । इस प्रकार उसकी आयु का बहुत बड़ा भाग अनुभव प्राप्ति के कार्यों में व्यतीत हो जाना सम्भव है । इसलिये मंत्रिपद पर पहुँचने समय वह अपनी आयु का अधिक भाग भोग चुकेगा । इस दृष्टि से भी आयु सम्बन्धी सिद्धान्त स्मिर हो जाता है ।

महाभारत पर श्री नीलकण्ठ ने जो अनुकूलिका लिखी है उसके अनुसार मंत्री की आयु न्यून से न्यून पचास वर्ष होनी चाहिए । इस सम्बन्ध में भान्तिपर्व के पञ्चाशीर्वे अध्याय के श्लोक संख्या ११ पर उन्होंने जो टिप्पणी दी है उसमें यह स्पष्ट लिखा है कि मंत्रि-वर्गिक **प्रत्येक मंत्री की आयु न्यून से न्यून पचास वर्ष होनी चाहिए ।***

महाभारत के समापर्व में नारद ने मंत्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में बर्णन करते हुए युधिष्ठिर से पूछा है—**क्या तुमने प्राप्ता के समान सुद, समकाले में समर्थ, कुलीन, प्रेमी और बृद्ध मंत्री नियुक्त किए हैं ?** नारद का यह कथन भी इसी बात का साक्षी है कि महाभारत

*—**पंचाशत वर्षवयः सन्निवेककल्पः ॥**

नीलकण्ठ टिप्पणी श्लोक संख्या ३ अ० २२, अ० १० पर ।

†—**अर्जुनात्मजना वृद्धाः युद्धाः सम्बोधनं वनाः ।**

× × × × **कृपास्तेष्वीर । मंत्रिणः ॥**

श्लो० २७-२८ अ० २, अ० १० ।

काल में मंत्रियों को नियुक्ति के समय प्रायः का भी विचार किया जाता था। राज्य के विचार से मंत्रियों को चुना जाता चाहिए।

रामायणकार ने भी दशरथ के कुछ मंत्रियों के लिए कुछ शब्द का प्रयोग किया है। राजा दशरथ के कम से कम सुमंत्र और सिद्धार्थ नाम ■ दो मंत्री बृद्ध अवस्था में थे। क्योंकि रामायण में उन्हें बृद्ध शब्द से सम्बोधित किया गया है।* राजा के मंत्री परिषद में भी बृद्ध मंत्री थे। मंका में सीता की मन्दी अवस्था में सरमा नाम की एक स्त्री रक्षिका सीता की देखभाल के लिए रावण द्वारा रखी गई थी। उसने सीता से यह कहा था कि आपको छोड़ देने के लिए रावण की भाता ने उसे बहुत खदखदाया, रावण के हितैषी बृद्ध मंत्री ने भी उससे बहुत कहा।† परन्तु वह इस बात पर सहमत न हुआ। मिथ्याराज गुह ■ मंत्री भी रामायण में बृद्ध ही बताए गए हैं। वनवास की अवस्था में वह अपनी जाति के लोगों तथा बृद्ध मंत्रियों के साथ राम से मिला था।‡ किष्किन्धा राज्य के मंत्रियों पर भी यही बात लागू थी। वस, नील, ममन्द प्रभृति मंत्री निश्चित रूप से बृद्ध थे।

महाभारत में भी ऐसे राजाओं की संख्या अधिक है जिनकी मंत्री-परिषद में बृद्ध मंत्री थे। महाराज शान्तनु की मंत्री-परिषद में एक बृद्ध मंत्री था। राजा शान्तनु सत्यवती से विवाह करना चाहते थे। परन्तु सत्यवती का पिता जिस प्रतिष्ठा के साथ अपनी कन्या का विवाह करना चाहता था वह शान्तनु को प्रिय न था। इसीलिए वह चिन्तित रहा करते थे। शान्तनु पुत्र देवव्रत ने अपने पिता की चिन्ता का कारण

*— स १ पूर्वोक्तिं बृद्धं क्रारस्या राजसंमतः ॥

श्लो० ५४ सर्ग १४, अयो० क० १

तत्र बृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम तत्पुत्रः ॥

†—अवस्थां राक्षसेन्द्रो दैत्यलोकायै हृदयः ॥

अथ स्निग्धेन वेदेहि मन्त्रिद्वयेन चोदितः ॥

श्लो० २० सर्ग १४, बुद्ध का० १

‡—बृद्धैः पारुष्येण अत्यैहोपि निदधन्पुत्राग्रजः ॥

श्लो० ३४ सर्ग २०, अयो० क० १

अपने पिता के वृद्ध मंत्री से पूछा था ।* सम्बरण नामक राजासराज का मंत्री भी वृद्ध था । अपने राजा को पृथ्वी पर मुद्रित पड़ा हुआ देखकर जैसे पुत्र को पिता उठावे उसी भाँति, बुद्धि, आयु, कीर्ति और नीति में वृद्ध मंत्री ने राजा (सम्बरण) को भीम से उठाया और स्वल्प हुआ ।† दैत्यराज के मंत्री भी वृद्ध थे । महाभारत ॥ आदिपर्व में एक कथा है जिसमें दैत्यों की विजय का वर्णन है । इस सम्बन्ध में नारद ने इस प्रकार कहा है कि मैतोनन्द की विजय की इच्छावाले दैत्यों ने मंगला करके अपनी सेनाओं को भ्राता दी । मित्र तथा वृद्ध दैत्य मंत्रियों ने भी इनको अपनी प्रभुवर्ति दे दी ।‡ महाभारत में रामायण की कथावस्तु का भी वर्णन है । इस कथा के भन्तर्गत ऐसा वर्णन दिया हुआ है कि रावण की मृत्यु के पश्चात् उसके वृद्ध एवं भोम्य मंत्री भद्रिष्य ने राम के पास आकर सीता उन्हें समर्पित की ।५ यज्ञ देश के राजा भरतवर्ति ने अपनी पुत्री सावित्री को अपने वृद्ध मंत्री के साथ उठी ॥ अनुरूप पर कूँदने के लिए भेजा था ।४ धृतराष्ट्र का मंत्री विदुर उतना ही वृद्ध था जितना कि स्वयं धृतराष्ट्र । संजय उसका बूँसरा मंत्री भी वृद्ध ही था :

उपरोक्त वर्णनों के आधार पर जो कि रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में दिए हुए हैं वह निश्चित है कि मंत्रि परिषद का मुख्य

*—सम्बरण्यतदैवाऽऽनुवृद्धामात्यं पितुर्हितम् ।

अमपृच्छतदाऽभ्योष पितुस्तच्छोककारणम् ॥

श्लो० ७६ अ० १००, आदि० २० ।

†—अथवा वयसा वैच वृद्धः कीर्तिवामयेन च ।

अममथस्तं ससुरायाश्च वधूश्च विगतवयसः ॥

श्लो० ६ अ० १३२, आदि० ५० ।

‡—पुत्रवृत्तिरप्यनुजगती दैत्यैर्हृदैर्यमंजिभिः ॥

श्लो० २ अ० १२२, आदि० ५० ।

४—अकिञ्चिद्विनाम सुप्रतो वृद्धमत्यो विमिर्यते ।

श्लो० ६ अ० २६०, अ० ५० ।

५—पुत्रवृत्तिरप्यनुजगती दैत्यैर्हृदैर्यमंजिभिः ।

श्लो० ३६ अ० २६२, अ० ५० ।

मंत्री तो बूढ़ होता ही था। यद्यपि ऐसा कोई स्पष्ट उदाहरण नहीं है जिसके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए केवल अधिक आयुवाले व्यक्ति ही नियुक्त किए जा सकते थे। फिर भी रामायण और महाभारत के मुख्य राजाओं के मंत्री बूढ़ बताए जाने के कारण यह सम्भव है कि इन राजाओं के समस्त मंत्री अधिक प्रवस्था के हों और उनकी नियुक्ति के समय भीष्म के कथनानुसार कम से कम पचास वर्ष की आयु के प्रतिबंध पर विचार किया जाता होगा। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि उस युग में मंत्रियों की नियुक्ति के समय आयु का विचार भव्यत्व किया जाता होगा।

मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या—मंत्रिपरिषद् में मंत्रियों की संख्या कितनी होनी चाहिए, इस विषय पर हिन्दू शास्त्रकारों में मतभेद है। कौटिल्य महोदय ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए भिन्न शास्त्रकारों के मत अपने प्रसिद्ध ग्रंथ अर्थशास्त्र में दिए हैं। उन्होंने लिखा है—मनु के मत के माननेवालों ने मंत्रिपरिषद् में बारह मंत्री रखने का विधान किया है।* बृहस्पति के मतानुयायियों ने सोलहों और धुमकाचार्य के मत के माननेवालों ने बीस सदस्य रखना स्वीकार किया है।† परन्तु कौटिल्य का मत है कि जैसा समय वैसे उतने ही सदस्य मंत्रिपरिषद् में रखने चाहिए।×

मनु ने मानव धर्मशास्त्र में मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की संख्या निर्धारित करते हुए लिखा है कि मूल में चिन्तने शास्त्रों का अध्ययन किया है, धीरे, उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ कुसीन बंध में उत्पन्न और सुपरीक्षित

*—मंत्रिपरिषद् द्वावयमात्राभ्युपैति मानवाः ।

वाता ५३ अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र ।

†—चौदोतिवार्हस्पत्याः ।

वाता ५३ अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र ।

‡—विशतिमित्वैश्वसताः ।

वाता ५५ अ० १२ अधि० १, अर्थशास्त्र ।

×—यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः ।

वाता ५५ अ० १२ अधि० १, अर्थशास्त्र ।

सात व आठ मंत्री होने चाहिए ।* खुक ने खुकमीति में आठ वा दस मंत्रियों की नियुक्ति की व्यवस्था की है ।† राजा सम्राट के मंत्रियों की संख्या आठ थी । इससे पता चलता है कि शास्त्रीयिक भी आठ मंत्रियों के रखने के समर्थक थे ।‡

महाभारत में मंत्रिपरिवर के सदस्यों की संख्या नहीं अधिक मतलाई गई है । शान्ति पर्व में भीष्म द्यूमिष्ठिर से कहते हैं कि राजा को अपने मंत्रिपरिवर में सैंतीस सदस्यों की नियुक्ति करनी चाहिए । यह अवश्य चारों वर्गों के प्रतिनिधि स्वरूप होने चाहिए जिससे राज्य की जनता के प्रत्येक वर्ग एवं हितों की भली भाँति रक्षा हो सके । इन सदस्यों की नियुक्ति इस प्रकार होनी चाहिए—चार आह्वय सदस्य हों जो महान् पंडित वेद वेद वेद वेद वेद और सामान्य ज्ञान में कुशल हों ।× सत्रिय वर्ग के आठ सदस्य होने चाहिए जो अपने शरीर एवं बुद्धि बल के लिए प्रसिद्ध हों । इन्कीव घनी वैद्य तथा तीन आह्वयपरचारी गुरु इस परिषद में सदस्य होने चाहिए । इन सदस्यों के अतिरिक्त आठों मुखों से युक्त एवं पुराणवेत्ता एक सूर सदस्य होना आवश्यक है । यह सदस्य जन्म से सूर होना चाहिए ।†

मंत्रिपरिवर में मंत्रियों की इतनी बड़ी संख्या रखने की आवश्यकता पर भीष्म महोदय ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है—एक ही मनुष्य में साधन-सम्पन्नी सारे साम्प्रतीय गुरु पाए नहीं जाते अतः

*—मीमांसासूत्रिः शूरैश्चक्षत्राणां कुम्भीरुगणान् ।

सन्निवांससह चाष्टौ प्रकुर्वीतपरीक्षितान् ।

स्त्रो० ६५ अ० ७, भागवतमहापुराण ।

†—अमरस्योदय इत्येवाराजः प्रकृतिबोद्ध ।

स्त्रो० ७० अ० २, खुकमीति ।

अथ प्रकृतिभिर्बुद्धेः नृपः केशिवास्तुतः सदा ।

स्त्रो० ७१ अ० २, खुकमीति ।

‡—अष्टौ बभूवुर्भीरस्तस्यासामानाः ।

स्त्रो० अ० ७, भा० प० ।

×—स्त्रो० ७ अ० २२, भा० प० ।

†—स्त्रो० ८ अ० २२, भा० प० ।

राजा को कई ऐसे व्यक्तियों को अपना मंत्री बनाता चाहिए जो भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञ हों ।* इस सम्बन्ध में कौटिल्य का भी कथन है कि राज्य का रथ प्रत्येक राजा के एक पहिये से नहीं चलता करता इसलिए भगवद्गीता में दूसरे चक्र की आवश्यकता पड़ती है ।† कुञ्जबर्म ने शुक्नीति में लिखा है—भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार का बुद्धि वैभवं देखा गया है । प्रत्येक मनुष्य सब कुछ जान लेने में समर्थ नहीं है; इसलिए राजा को विज्ञान और बुद्धिमान पुरुषों की प्रशंसात्मक के कार्य में अवश्य सहायता लेनी चाहिए ।‡ इन्हीं विचारों का मानव धर्म-शास्त्र में दूसरे खण्डों में इस प्रकार वर्णन किया गया है—जब कि सुगम काम भी एक व्यक्ति से होना कठिन है तो विशेषकर बड़े काम का देखेवाला राज्य सम्बन्धी काम एक व्यक्ति के द्वारा कैसे पूरा हो सकता है । ×

इस प्रकार महाभारतकार ने मंत्रिपरिषद् में सदस्यों की इतनी बड़ी संख्या इसलिए रखी थी कि जिससे विभिन्न विषयों में विशेषज्ञ मंत्रिपरिषद् में स्थान पा सकें और जिससे राजा को हर विषय पर ध्येयतम सलाह मिलने का सुभवसर प्राप्त हो सके ।

*—कुञ्जभः पुरुषः कश्चिदेभिर्वर्जैः शुभैः ।

श्लो० २ अ० ८६, भा० ५० ।

न कस्मिन्पुत्रे क्षेपेति धर्म इति मे मतिः ।

श्लो० ४ अ० ८६, भा० ५० ।

†—सहाय सार्वं राज्यं नृपतेन न वर्तते ।

कुर्वते सविधास्तथातेषां न क्षुद्रपाप्मणम् ।

श्लो० १६ अ० ५ अधि० १, अर्धशास्त्र ।

‡—पुरुषे पुरुषे सिम्बद्वयते बुद्धि वैभवम् ।

न हितस्तस्मै वातुं नरेक्षेत् ॥

श्लो० ४-५ अ० २, शुक्नीति ।

×—अदि वायुकरं धर्मं तप्येकेन युष्करम् ।

विशेषतोऽन्धायैव किन्तु राज्यं महोदयम् ॥

श्लो० १६ अ० ७, अर्धशास्त्र ।

इस सम्बन्ध में वृद्धी बात यह है कि महाभारत काजीम मंत्रि-परिषद में वीर्य मर्त्य के सदस्यों की संख्या सबसे अधिक निर्धारित की गई है । इससे मुख्य कारण यह था कि हिन्दू समाज के मरण-योद्धा का भार वीर्य वर्ण पर ही था । कृषि, पशुपालन और धन के लेन-देन का सारा कार्य इसी वर्ण के हाथ में था और यही तीन कार्य हिन्दूसमाज की आधार शिला थे । इसलिए राज्य ■ शासन की मुख्य शाखा में वीर्य वर्ण का प्रतिनिधित्व इस मात्रा में होना न्यायसंगत ही था ।

मंत्रि परिषद की अंतरंग समिति—महाभारतकार ने, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, राजा की मंत्रि परिषद में सैंतीस सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था की है । परन्तु इतनी बड़ी परिषद के लिए राज्य के गहनपूर्ण विषयों के रहस्यों को गुप्त रखना एवं शासन कार्य संचालन में विशेष कौशल का होना असम्भव है । इस बात को महाभारत-कार ने भी भाँति समझ लिया था । इसलिए इस गहन समस्या का सुलझाना परमावश्यक था । महाभारतकार ने इस परमावश्यक समस्या को सुलझाने के लिए यह उचित समझा कि राजा को मंत्रि परिषद के सदस्यों में से सर्वश्रेष्ठ आठ सदस्यों की एक समिति का निर्माण कर लेना चाहिए । इस प्रकार बड़ी मंत्रिपरिषद में से आठ सर्वश्रेष्ठ सदस्यों की समिति बनाने का विधान महाभारत के शान्ति पर्व में है ।*

वाल्मीकीय रामायण में इतनी बड़ी मंत्रि परिषद का जिक्र कि मल्लं महाभारत में है, उल्लेख नहीं किया गया है ।† राजा दशरथ एवं भरत दोनों के मंत्रियों की संख्या आठ बताई गई है । रामायण में वर्णित अन्य राजाओं जैसे रोबण, जनक, वालि, सुग्रीवादि के मंत्रियों की संख्या ठीक-ठीक नहीं दी गई है । इसलिए निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि राजा दशरथ तथा भरत की मंत्रिपरिषद के यह आठ सदस्य किसी बड़ी मंत्रिपरिषद से चुने हुए थे अथवा केवल यही आठ सदस्य मंत्रिपरिषद का निर्माण करते थे ।

*—अष्टाशौ मंत्रिणां मध्ये सर्वं राजोपधारयेत् ॥

इच्छो० ११ अ० ८२, शा० प० १

†—पृथिव्यान्तो विजय सुराष्ट्रो राष्ट्रध्वजः ।

अज्ञेयो धर्मपातरथ सुसंहरत्पापसोऽर्धवित् ॥

इच्छो० १ सर्ग ७२, अक्षर ४० ।

मंत्रियों की परस आंदोलन समिति:—मंत्रिपरिषद के सर्वश्रेष्ठ याठ सदस्यों की समिति से एक छोटी समिति के निर्माण की ओर रामायण और महाभारत दोनों संकेत करते हैं। इस छोटी समिति के सदस्य राजा के वास्तविक मंत्री थे और उन्होंने पर राजा की मंत्रणा का भार निभेरा था। यह मंत्री मंत्रिपरिषद के आन्दोलन समिति के सर्वश्रेष्ठ सदस्य थे। आत्मीक के मतानुसार इस समिति में तीन या चार सदस्य होने चाहिए।* जिससे शासन सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर सम्मिलित का प्रश्न-प्रणव सम्मति लेना राजा का कर्तव्य था। महाभारत में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है और उसमें भी यही कतसाया गया है। इस समिति में तीन सदस्य होने चाहिए किन्तु राजा को प्रश्न का संयुक्त परामर्श लेना अनिवार्य था।†

मनु ने सात या आठ मंत्रियों की समिति में से केवल एक सर्वश्रेष्ठ मंत्री को इस स्वातंत्र्य के लिए उचित समझा है। उन्होंने मानव-धर्मशास्त्र में लिखा है कि उन सब (सात या आठ) मंत्रियों में से सबसे श्रेष्ठ बाह्य मंत्री को राज्य राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।‡ परन्तु कौटिल्य ने इस भ्रम का ओर विरोध किया है। इस सम्बन्ध में उनका मत इस प्रकार है—को राजा एक ही मंत्री के साथ मंत्रणा करता है उसको मत भेद के स्थानों में ठीक-ठीक रत्न का निदधय नहीं हो सकता है। यदि राजा ने एक ही मंत्री विचार के लिए रखा है। § वह अपनी इच्छानुसार बिना किसी शेष विचार के उच्छलन नीति से भी चल

*—मंत्रिमित्रं यथोचितं कर्तुमितिनिश्चयः ।

रक्त० ७१ सर्ग १००, अयो० का० ।

†—कचित्समस्तैर्बलैश्च संभ्रं मंत्रय सेवया ॥

रक्त० १७ सर्ग १००, अयो० का० ।

‡—तेषां प्रजायां विविधि विमर्शं विदुर्ह्य न

रक्त० ११ अ० ८३, सर्ग १० ।

§—सर्वेषां सुविशिष्टेन माह्वयेन विपदिभ्यः ।

मंत्रोत्तरसं मंत्रं राजा बाह्यमुख संयुक्तम् ॥

रक्त० १८ अ० ७, मानव धर्मशास्त्र ।

सकता है ।^{१०} जो राजा अपने राजनीति के निषयों का वो मंत्रियों के साथ निवार करते हैं वह भी ठीक नहीं है । यदि दोनों मंत्री मिल जायें तो राज्य का मंत्र उचित रूप से सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि वो का मिल् जाया बहुत सम्भव है ।^{११} यदि दोनों मंत्रियों में मतभेद वा असममत हो जाय तो किसी बात का निर्णय ही न सकेगा और कार्य का सर्वथा नाश हो जायगा ।^{१२} यदि तीन वा चार मंत्री हों तो इस बात के मतभेद के घाने की बहुत ही कम सम्भावना होती है । कार्य ठीक-ठीक चलता रहता है ऐसा ही देखा गया है ।^{१३} यदि चार से अधिक मंत्री नियुक्त किये गये तो फिर किसी भी कार्य का निरन्तर करना कठिन हो जाता है और मंत्र की रक्ष्य नहीं हो सकती है ।^{१४}

इस प्रकार कीटिल्य ने भी मंत्रिपरिषद के सदस्यों में से सर्वश्रेष्ठ तीन वा चार मंत्रियों की समिति का विधान किया है । इस नाते से कीटिल्य और रामानुज तथा महाभारतकार में समानता पाई जाती है ।

•—मंत्रयमाक्षो द्वे केतव्यं कृष्येयु निरक्षयं माक्षिगम्येत् ॥

वार्ता १८ अ० १२ अक्षि० १, अर्थशास्त्र ०

एकरक्षसो दयेष्टममपमहुरक्षरति ॥

वाता ३६ अ० १२ अक्षि० १, अर्थशास्त्र ०

†—ह्यम्वं मंत्रयमाक्षो ह्यम्वं संहृष्टमममममृष्टते ॥

वार्ता ३० अ० १२ अक्षि० १, अर्थशास्त्र ०

‡—विगृहीताम्यो विगारयते ॥

वाता ४१ अ० १२ अक्षि० १ अर्थशास्त्र ०

×—त्रिषु चतुर्षु वा त्रैकान्तं कृष्येयुषपपते महा दयेत् ॥

वार्ता ४२ अ० १२ अक्षि० १, अर्थशास्त्र ०

अपक्षस्तु भवति ॥

वार्ता ४३ अ० १५ अक्षि० १, अर्थशास्त्र ०

†—यतः परेषु कृष्येयुष निरक्षयो मम्यते ॥

वार्ता ४४ अ० १२ अक्षि० १, अर्थशास्त्र ०

मंत्रो नद रक्षते ॥

वाता ४५ अ० १२ अक्षि० १, अर्थशास्त्र ०

मंत्र गुप्त रखने तथा कार्य कुराकुराता का ढंग—मंत्र परिषद के अन्तर्गत अन्तरंग समिति एवं उससे छोटी समिति का निर्माण इस आशय से किया जाता था कि मंत्र गुप्त रह सके और शासन-कार्य में सुचारुता या संचले। शासन-सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर मंत्रिपरिषद के प्रत्येक सदस्य से सर्वत्र परामर्श लेना न सम्भव हो ही और न उचित ही। ऐसा करने से व्यर्थ के लम्बे बाद-विवाद में समय नष्ट होता है और कार्य-संचालन में बाधा उपस्थित होती है। विशुमाचार्य के मत की प्रालोचना करते हुए कोटिस्म ने ठीक ही लिखा है—‘यदि प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध के साथ मंत्रणा की जाएगी तो मंत्रणा कहीं तक लम्बी की जाय। इस प्रकार अनवस्था हो जाएगी। प्रत्यः तीन वा चार मंत्रियों के साथ राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।’*

रामायण तथा महाभारत दोनों इस विषय पर एकमत हैं कि बड़ी संख्या वाली समिति व परिषद के मध्य की गई मंत्रणा गुप्त नहीं रह सकती। परन्तु दोनों ग्रन्थ अनमत की उपेक्षा करने के भी पक्ष में नहीं हैं। दोनों का ही विश्वास है कि मंत्र गुप्त रहना चाहिए। मंत्रियों के द्वारा ही उत्तम मंत्रणा पर ही राज्य निर्भर रहता है। इसी सहारे राजा लोक कल्याण का बुद्धिपूर्वक प्रारम्भ करने में सफल होता है। मंत्रियों के द्वारा निश्चित किया हुआ मंत्र तब तक

*—मंत्रि कोटिस्मः ॥

वाता ३३ अ० १२, अधि० १, अर्चशास्त्र।

अनवस्था हो वा ॥

वाता ३३ अ० १५, अधि० १, अर्चशास्त्र।

अभिनिविष्टमित्रकृतमित्रो मंत्रयेत् ॥

वाता ३७ अ० १, अधि० १, अर्चशास्त्र।

†—अभिनिविष्टमित्र से मैत्रः अक्षिप्त बहुमित्रः सह।

अक्षिप्ते मंत्रितो मंत्रो राष्ट्रं न परिधाधति ॥

श्रुति० १८, सर्ग १००, अमो० का०।

श्रुति० ३१ अ० २, समा ५०।

‡—मंत्रिणा मंत्र मूर्धं हि राजा राष्ट्रं विचरतिः

श्रुति० ४८ अ० ८१, शास्त्रि ५०।

मुक्त रहना चाहिए जब तक कि उसे क्रियात्मक रूप न दे दिया जाए । केवल भवसर के फाटा होने पर इसका भेद सुसना चाहिए । मंत्रियों को मंत्र गुप्त के लिए कष्ट की तरह काम सेना चाहिए ।* जिस प्रकार कछुआ अपने शरीरों को छिपाकर रहता है । वह उन्हें तब तक दिखाए रहता है जब तक वह उन्हें बाहर निकालने की आवश्यकता अनुभव नहीं करता ।

अतः मंत्रगुप्ति एवं कार्यकुशलता दोनों की दृष्टि से मंत्रपरिषद से भर्त्तरंग समिति और फिर उससे तीन वा चार सदस्यों की छोटी समिति का निर्माण करना अत्यधिक युक्तिसंगत था । आधुनिक काल में भी समभव इसी प्रणाली से शीतल जैसे राज्य में काम लिया जाता है । यह विश्व उस युग में उत्तम समझी गई थी । भर्त्तरंग परिवद से राज्य के छोटी के व्यक्ति संवत्स होते थे । उनमें से सर्वश्रेष्ठ सात वा आठ सदस्य चुनकर भर्त्तरंग समिति बनाई जाती थी । फिर इन सात वा आठ सर्वश्रेष्ठ सदस्यों में से तीन वा चार श्रेष्ठतम सदस्यों की एक छोटी समिति बनाने की प्रथा थी । इस विधि से राजा को राज्य के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ पुरुषों से राज्य संचालन में हर समय परामर्श मिलता रहता था ।

इस प्रकार रामायण और महाभारत-काल में बड़ी परिवद से छोटी समितियों का क्रमानुसार निर्माण करना, कार्य में सुचारुता एवं कुशलता तथा मंत्र को गुप्त रहने के विचार से एक उत्तम साधन समझा गया था । इस प्रणाली से राजा को हर समय उत्तम से उत्तम मंत्रियों से शासन सम्बन्धी विषयों पर परामर्श करने का अवसर मिलता था । अन्त में प्रत्येक आवश्यक विषय राजगुरु के समक्ष उसकी सम्मति के निमित्त प्रस्तुत करना जचित समझा जाता था । राजगुरु राज्य का योग्यतम तथा महान् व्यक्ति समझा जाता था ।

कार्यप्रणाली—तीन वा चार मंत्रियों की छोटी समिति का राजा से अनिवार्य सम्बन्ध होता था । यह तीन वा चार सदस्य राजा के मंत्री कहलाते थे । इनसे परामर्श किए बिना कोई भी योजना राजा

*—गुह्यकुर्म इव संतामि ॥

द्वारा कार्य में परिणत नहीं की जा सकती थी। इस समिति का प्रधान राका स्वयं होता था। राजा इन मंत्रियों से वृथक्-वृथक् या सामूहिक दोनों रूपों में मंत्रणा कर सकता था। अत्यन्त गोपनीय एवं विषय-सन्धीय महत्वपूर्ण विषय इस समिति के समक्ष प्रस्तुत किए जाते थे। प्रत्येक विषय पर जो कि इस समिति के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता था विवाद विवेचना की जाती थी। मंत्रियों के व्यक्तिगत एवं सामूहिक निर्णय तथा प्रपन्ना स्वयं मत राजा राजगुरु के समक्ष प्रस्तुत करता था।* राजगुरु का निर्णय लेकर राजा उस निर्णय को मंत्रिपरिषद के समक्ष उसकी स्वीकृति के हेतु रखता था।

महाभारत में मंत्रियों की इस छोटी समिति की बैठक होने के उचित स्थान का भी बर्णन दिया गया है। इस बर्णन में किया गया है कि इस समिति की बैठक सुले मैदान में या राजनवन के ऊपरी खण्ड में होनी चाहिए। यदि मैदान में बैठक की जाए ■ इस बात का ध्यान रहे कि मंत्रणा-स्थल के समीप लम्बी-लम्बी घास, झाड़ियाँ, बुझा या भस्म छिपने के स्थान नहीं होने चाहिए जहाँ कोई व्यक्ति छिपकर मंत्रियों का शोक-विवाह सुन सके और समिति की मूल मंत्रणा को जान सके। वह स्थान जन-साधारण की पहुँच के बाहर होना चाहिए। गूँबे, बहरे, मण्डक तथा ऐसे ही अन्य व्यक्तियों ■ ऐसे स्थल पर भ्रान्ति की आजा नहीं देनी चाहिए।† राजा तथा मंत्रियों के मध्य जिस स्थान पर गुप्त मंत्रणा हो रही हो वहाँ पक्षियों को भी न भ्रान्ति दिया जाए। शोक-विवाह इतना सान्त्व रूप से होना चाहिए कि बाहरी व्यक्ति उसे सुन न सके।

मंत्रिपरिषद की इस छोटी समिति से ऊपर सात वा आठ सदस्यों की शल्लरंग समिति थी। यह मंत्री राज्य संचालन करते थे। राज्य

*—लेको प्रमाणां विविध विमर्श, विबुधस्य चित्तं विनिवेद्यतः ।

स्व निश्चयं लब्ध्वा निश्चयं निवेद्यन् ॥ गुह्यं ॥

स्क० १३-१४ अ० ८१, श्रुति ५० ।

†—आख्या ४ वेदम तपेव गुरुं स्वर्गं प्रकाशं कस्यचिदपराधम्-

दीवाग्निसिद्धयः सचान् । समग्रयेत्यर्थमहीनकाक्षम् ॥

स्क० ४ अ० ८३, श्रुति ५० ।

का समस्त शासनकार्य विभिन्न शासन विभागों के अनुसार कई विभागों में विभक्त किया जाता था। प्रत्येक विभाग एक मंत्री के अधीन रहता था। रामायण में इस बात का उल्लेख किया गया है कि सुयोध के मन्त्रिणी धीर प्रभाव नाम के मंत्री ने मन्त्राः धर्म तथा धर्म विभाग के अध्यक्ष थे।* प्रहस्त नाम का रावण का एक मंत्री था जो उसके सेना-विभाग का अध्यक्ष था।†

सात व आठ मंत्रियों की ■■■ समिति कार्यकारिणी समिति थी जिसका मुख्य कर्तव्य शासन सम्बन्धी योजनाओं को रचनात्मक रूप देना था। इस प्रकार यह समिति मंत्रियों की छोटी समिति से मिली थी। छोटी समिति का मुख्य कर्तव्य मंत्र का निश्चय करना था। परन्तु यह समिति राज्य की शासन सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्विष्ट करती थी। इस समिति का भी प्रधान राजा होता था।

रामायण भी लगभग इसी कार्यप्रणाली की पुष्टि करती है। राजा दशरथ ने, जरायुस्था को प्राप्त हो जाने पर, अपने अष्ट पुत्र राम की युवराज पद देने का स्वयं निर्णय कर सुमंत्र से परामर्श किया। सुमंत्र ने राजा द्वारा प्रस्तुत किए गए विचार की सराहना की और अपनी सम्मति ■■■। तत्पश्चात् ■■■ प्रस्ताव मंत्रिपरिषद् के समक्ष प्रस्तुत किया गया और मंत्रिपरिषद् द्वारा स्वीकृति पा देने के उपरान्त वह प्रस्ताव सभा के समक्ष रखा गया। सभा ने भी उसे सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। फिर राजा की आज्ञा से सभाद्वारा स्वीकृत किए गए प्रस्ताव को रचनात्मक रूप देने के निमित्त राजा ने पुनः उसे अपने मंत्रियों का सौंप दिया।

रामायण के पढ़ने से पता चलता है कि संसार राज्य में भी लगभग इसी प्रणाली से काम लिया जाता था। सरमा नाम की नारी-रक्षिका सीता को सम्भ्रांती हुई कहती है—आपके मुक्त कर देने के लिए रावण के द्वितीय बड़े मंत्री ने उसे बहुत समझाया। इस प्रकार बूढ़े

*—प्राच्यसैन्य प्रभावधर्म मंत्रिणाधर्म धर्मयोः ॥

रामो० ३३ सर्ग ६१, किष्किन्धा का० ।

†—प्रहस्तमन्त्रिणीपतिम् ■■■

रामो० १ सर्ग १९, दुष्ट का० ।

मंत्रियों ने उसे बहुत समझाया परन्तु वह तुझे लौटाना नहीं चाहता मैंने
घन का लोभी घन छोड़ना नहीं चाहता । युद्ध में बिना मेरे वह तुम्हें
लौटाना नहीं चाहता यही क्रूर रावण तथा उसके मंत्रियों का निश्चय है ।*

इस प्रकार रावण ने जीता सम्बन्धी समस्या अपने मंत्रिपरिवर्ग के
समक्ष विचारार्थ रखी थी । मंत्रिपरिवर्ग ने रावण द्वारा रक्ष गए
प्रस्ताव को बहुमत से स्वीकार किया था । उसके पश्चात् रावण ने उसे
क्रियात्मक रूप देने की आज्ञा दी थी ।

महामास्त्वकार ने तैत्तिरीय संहितों की जिस मंत्रिपरिवर्ग का उल्लेख
किया है उसका वर्णन रामायण में कहीं नहीं मिलता और न इसमें
कहीं भी उसके कार्यक्षेत्र या कार्यपद्धति का ही उल्लेख मिलता है ।
परन्तु दूसरे साधनों से इस और कुछ सहायता मिली है । कौटिल्य ने प्र-
शास्त्र में लिखा है कि कठिन समस्या के प्रस्तुत होने पर राजा को
मंत्रिपरिवर्ग बुलानी चाहिए । उस समय जिस बात की अधिकांश लोग
पुष्टि करें उसी कार्य के सिद्ध करने का उपाय करना चाहिए ।†

कौटिल्य के इस कथन से पता चलता है कि मंत्रिपरिवर्ग बहुमत
द्वारा निर्णय पर राजा को निर्भर रहना पड़ता था ।

मंत्रिपरिवर्ग का महत्व महान था इस विषय पर अशोक के शिला-
लेख भी संकेत करते हैं । अशोक के एक शिलालेख में ऐसा भ्रष्टाचार
प्राप्त हुआ है कि वह इस परिषद की प्रत्येक कार्यवाही से भली भाँति
भिन्न रहने के हेतु बड़ा चिन्तित रहता था । उसने इतनी (प्रतिनिधियों)
से स्पष्ट कहा है कि मुझे परिवर्ग की दैनिक कार्यवाही से हर समय
परिचित रहना चाहिए ।‡

*—एवं स मंत्रिबृहत्तम मावा च बहुबोधितः ॥

स्क० १३ सर्ग ३४ सु० का० ।

नोत्सङ्गत्वमृते मोक्षं युजे त्वामिति मैत्रिणि ।

सामात्यस्यमूर्धसस्य मित्रयो शोध वर्तते ॥

स्क० २४ सर्ग ३४ सु० का० ।

†—सामयिके कार्ये मंत्रियो मंत्रिपरिवर्गं काङ्क्षन् भूयात् ।

तत्र बहुभूमिभ्यः कार्यसिद्धिकरं वा न युक्तकृषीत् ॥

चार्त्त ६३-६४ अ० १२ अभि० १ अर्थ याज्ञा ।

‡—अशोक के शिलालेख संख्या ६ ।

राज्योक्त के इस कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है ■ परिवर्तन की बैठकें स्वतंत्र रूप से होती थीं। इसके सदस्यों को शासन सम्बन्धी विषयों पर विचार करने तथा उन पर निर्णय देने का पूर्ण अधिकार था।

इस प्रकार मंत्रिपरिषद् अपनी छोटी समितियों की सहायता से राजा की स्वेच्छाधर पूर्ण योजनाओं पर नियंत्रण रखती थी। यह अपनी श्रेष्ठ मंत्रणा के द्वारा राजा को पथ प्रदर्शन करती थी। उसके समस्त दैनिक कार्यों की देख रेख कर राजा के कार्यक्षेत्र को सीमित कर देती थी। इसी कारण उस युग में राजा अपने स्वतंत्र विचारों को कार्यान्वित करने में स्वच्छन्द न था। उसे मंत्रिपरिषद् द्वारा किए गए निर्णय के अनुसार आचरण करना पड़ता था। मंत्रिपरिषद् राजा के हाथ का शस्त्र मात्र न थी बल्कि वह राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग थी, जिसके बिना राजा सदैव प्रसह्य या और शासनकार्य में निराल प्रभवर्ध था। इस परिषद् का निर्माण प्रजातन्त्रवाद के मौलिक सिद्धांतों के आधार पर होता था। इसके सदस्यों की नियुक्ति करते समय राजा को परम्परागत कतिपय प्रतिष्ठानों की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता था और यह प्रतिष्ठान वैधानिक होने के कारण राजा द्वारा उपेक्षा की दृष्टि से कदापि नहीं देखे जा सकते थे। इस मंत्रिपरिषद् की कार्य-प्रणाली भी प्रजातन्त्रवाद के मौलिक सिद्धांतों पर आश्रित थी। शासन सम्बन्धी विषयों पर स्वतंत्र विवेचन करने का प्रत्येक सदस्य को अधिकार होना, बहुमत से निर्णय पर पहुँचना एवं इस निर्णय के अनुसार शासन किया जाना आदि ऐसे सिद्धांत हैं जो प्रजातन्त्रवादी राज्य के मुख्य तत्व रहे जा सकते हैं। इस दृष्टि ■ रामायण और महाभारतकालीन मंत्रिपरिषद् प्रजातन्त्रवादी राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग समझी जाएगी।

ब्राह्मणपरिषद्—रामायण के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अयोध्या राज्य की राजधानी में एक ब्राह्मणपरिषद् भी थी जिसका कहीं के राजा से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस ब्राह्मणपरिषद् में राज्य के छोटी के ब्राह्मण सदस्य थे जो अपने बुद्धिबल एवं उन्माचरण के लिए विख्यात थे। इन ब्राह्मणों की संख्या भी थी। उनके नाम शशिष्ठ, शान्देय, कश्यप, काश्याप, मार्कण्डेय, मोद्गस्य, विजय, शीतल और

जावामि ये ।* इतमें मुख्य वसिष्ठ थे । राजा दशरथ ने राम की युवराज्य पद देने के निमित्त प्रजा की स्वीकृति लेने के लिए जिस बड़ी परिषद की आयोज्यता नगरी में बुलाया था उसमें इस ब्राह्मणपरिवार ■ सदस्य भी सम्मिलित हुए थे । यद्यपि इन ब्राह्मणों ■ नाम इस अवसर पर नहीं दिए गए हैं परन्तु इस प्रकार में जो वरदान दिया गया है उसके पढ़ने से इनकी उस परिवार में उपस्थिति की ऐसा बोध होता है । राजा अपने किशोर परिषद के समक्ष रखते हुए कहते हैं—मुझे यह प्रिय है कि राम आयोज्यता के युवराज्य बनाए जाएँ क्योंकि मैं अब पुरा हो गया हूँ । राम मेरे अग्र्य और अग्र्य पुत्र ■ । परन्तु यह सभी हो सकता है जब कि मेरे समीप बैठे हुए यह ब्राह्मण इस बात की अनुमति दे दें कि राम आयोज्यता के युवराज्य बनाए जाएँ ।†

राजा के इस कथन से ब्राह्मण परिवार के भक्ष्य का बोध होता है और यह पता चलता है कि इस परिवार की स्वीकृति बिना प्राप्त किए हुए नये राजा की नियुक्ति नहीं हो सकती थी । इस प्रकार इस ब्राह्मण-परिवार को राज्य के वास्तविक अधिकार प्राप्त थे ।

राजा दशरथ की मृत्यु के उपरांत वही ब्राह्मण परिवार अमला के सामने उपस्थित होकर भावी राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध में चर्चा करती हुई दिखाई गई है । इस स्थान पर यह ब्राह्मण राजकर्ता के नाम से सम्बोधित किए गए हैं ।‡ राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् भीरु विलम्बित हो जाने पर यह राजाकर्ता एकत्र होकर अस्त की आयोज्यता का

*—मरुते योज्य मीरुगस्थो कामवेदस्थ च कश्यपः ।

कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महा यताः ॥

श्लो० ३ सर्ग १७, अयो० अ० ।

पते द्विजाः सहामात्यैः पुण्याचारमुदीरितम् ।

वसिष्ठमेवानियुक्ताः श्रेष्ठं राजपरोक्षितं ॥

श्लो० ४ सर्ग १७, अयो० अ० ।

†—सन्निवृत्ताभिसाम्प्रदायानुमान्य द्विजर्षयान् ॥

श्लो० १० सर्ग २, अयो० अ० ।

‡—समेत्य राज कर्तारः समामीयुर्द्विजातयः ।

श्लो० १ सर्ग २०, अयो० अ० ।

रिक्त राजपद प्रदान करते हैं। इस स्वतन्त्र पर भी वह राजकर्ता के नाम से सम्बोधित किए गए हैं।*

यही बाह्यराज्य भारत के साथ राम की मत्ताने के लिए विच्छेदित गए थे। तहाँ उन्होंने मयोध्या का राज्य राम को सौंपने का प्रयत्न किया था। उस समय राम और भरत दोनों मयोध्या का राज्य ग्रहण नहीं करना चाहते थे और इसी विषय पर दोनों माइयों में मतभेद था। वसिष्ठ ने दोनों के बीच समझौता कर इस मतभेद को दूर कर दिया था।

चौदह वर्ष वनवास व्यतीत कर जब राम मयोध्या लौट आए थे उस समय भी बाह्यराज्यपरिवर्त के वह स्वस्थ उपस्थित थे। उन्होंने राम के राज्याभिषेक में प्रमुख भाग लिया था। वसिष्ठ, नामदेव, विजय, जाबालि, कश्यप, कात्यायन और गौतम ने पवित्र जल से राम का अभिषेक किया था।† इस स्वतन्त्र पर रामायणकार ने लिखा है कि बाह्यराज्यों ने राम का राज्याभिषेक उसी प्रकार किया था जैसे ■ इस का राज्याभिषेक देवों द्वारा हुआ था।‡

*—उत्तम प्रजापतिमये दिवसेऽयं चतुर्विंशे त

समेत्य राजकर्तारो भरतं पादपमण्डलम् ॥

स्क० १ सर्ग ७२, पद्य० का० ।

एतस्य भव नो राजा राजपुत्र महावशः ॥

स्क० २ सर्ग ७६, पद्य० का० ।

राज्यं गुह्यतमं भरतं पितृपितामहं भुञ्जतः ॥

अभिषेक्य चोत्सर्गं पादौ चास्त्रमकरदंभ ॥

स्क० ५ सर्ग ७८, पद्य० का० ।

†—वसिष्ठो विजयकश्यपं जाबालिरथ कश्यपः ।

कात्यायनो गौतमस्तथ नामदेवस्तथैव च ॥

स्क० १० सर्ग १२८, पद्य० का० ।

अभिषिञ्चन्त्याग्रं मसन्नेन पुष्पविना । सन्निभेन × × × ॥

स्क० २१ सर्ग १२८, पद्य० का० ।

‡—सहस्रवार्कं वसन्तो वासवं वया ॥

स्क० ३२ सर्ग १२८, पद्य० का० ।

इस प्रकार यह ब्राह्मणपरिवर्ध राजा पर अपना महान् प्रभाव रखती थी । राजा को इसके द्वारा अतिसाधु गण पथ पर चलना पड़ता था ।

अतः मंत्रिपरिवर्ध और ब्राह्मण परिवर्ध के होते हुए राज्य के शासन क्षेत्र में शासक ही राजा को कोई ऐसा भवसर भिषता होगा जब ■ भवने स्वेच्छाचार पूर्ण विचारों के अनुसार कोई कार्य प्रारम्भ करता ■ । इन संस्थाओं के गहन प्रभाव, एवं इसके संरक्षण तथा निबंधन के कारण राज्य में राजा का स्थान एक प्रतिष्ठित सेवक का स्थान बन गया था । इन परिवर्धों का निर्माण इसी उद्देश्य से किया गया था कि राजा की शासन सम्बन्धी स्वेच्छाचार पूर्ण योजनाओं पर निबंधन समाकर उसे अग्रगण्य पर ले जाना चाहिए जिससे राजा लोककल्याण के नुस्तर भार को कुशलतापूर्वक वहन कर सकता है ।

इसलिए यह परिवर्ध प्रजातन्त्रात्मक राज्य के मुख्य ऋण मानी जाएंगी और इन्हें प्रजातन्त्रात्मक राज्य के मूल तत्वों में सम्मिलित करना उचित ही होगा । इन संस्थाओं ने रामायण और महाभारत काल में प्रजातन्त्रात्मक राज्य के विकास एवं उसके संस्थापन में बड़ा सहयोग दिया है ।

चतुर्थ अध्याय

सभा

रामायण और महाभारत में सभा शब्द का प्रयोग:—रामायण तथा महाभारत शब्दों में सभा शब्द का प्रयोग सभामन्त्रण तथा सभामण्डपों की बैठक दोनों के लिए किया गया है । रामायण ■ प्रयोध्या काण्ड में एक स्थान पर इस प्रकार का अर्थ न मिलता है—राजा वसन्त ने अपनी प्रजा के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों की एक परिषद सभामन्त्रण में अपने पुत्र राम को युवराज बनाने की स्वीकृति देने के हेतु बुलाई थी । इस परिषद की बैठक हो जाने के उपरान्त राजा वसन्त ने राम को सभामन्त्रण में बुलाकर इस बात की सूचना दी थी कि प्रजा ने स्वयं उन्हें प्रयोध्या का युवराज करार किया है ।*

राजा वसन्त की मृत्यु के उपरान्त राजसूय दक्षिण और राजकर्ता-गण सभामन्त्रण में एकत्र हुए थे और उन्होंने भावी राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध में अपने-अपने मत प्रदर्शन किये थे ।† वसिष्ठ ने इस सभा में प्रवेश किया था ।‡

*—तेन विशाखितं तव सा सभापि व्यरोचत ॥

श्लोक ११ सर्ग १, पद्यो० का० ।

†—समेत्य राजकर्तारः समामीयुर्निजमतयः ॥

श्लो० २ सर्ग १७, पद्यो० का० ।

‡—सभामिच्छाकुमारस्य प्रविष्टो महात्मनाः ॥

श्लो० १ सर्ग ८१ पद्यो० का० ।

रामायण के युद्ध काण्ड में यह वर्णन दिया हुआ है कि राजा रावण की सभा उसके राजमन्वन से कुछ दूरी पर स्थित थी। राजा अपने रथ में बैठ कर सभासवन को गया था। उस समय सभा की बैठक नहीं हो रही थी।*

महामारुतकार ने भी सभा शब्द का प्रयोग इन्हीं दो अर्थों में किया है। नारद ने राजा मुद्गिष्ठिर के पास जाकर कई प्रकार की समारोहों की चर्चा की है। उन्होंने इन्द्र, वरुण आदि के समारोहों का विस्तृत वर्णन किया है जिसमें उनके आकार-प्रकार एवं सजावट आदि विशेष उल्लेख है।† वृष्णिणों की सभा सुधर्मा के नाम से विख्यात थी।‡ भयदानव ने राजा मुद्गिष्ठिर के लिए अत्यन्त रमणीय एवं विद्याल सभा बनाई थी।× इन्द्र ने राजा नल को आदेश दिया था कि वह दमयन्ती की इस बात की सूचना दें कि इन्द्र, वरुण, यम और कुवेरादि दिग्पाल उनके स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए सभा (समारोह) में पहुँच चुके।+

इन उदाहरणों के अतिरिक्त कुछ ऐसे उदाहरण भी रामायण

*—समास्थाम रथश्रेष्ठं महामेघसमस्वनम् ॥

मगधी रथ सां श्रेष्ठो दग्धधीयःसमाप्रति ॥

रघो० ४ सर्ग ११, युद्ध का० ।

सर्मा गच्छति राखी ॥

रघो० ॥ सर्ग ११, युद्ध का० ।

†—महामेघ सभायां ॥

रघोक २ अ० १२, सभा व० ।

रघुस्य तु सभामां तु देवाः ॥

रघो० १ अ० १२, सभा व० ।

‡—ते समासाद्य सहितः सुधर्मानमिताः सभाम् ॥

रघो० ११ अ० २२०, आदि व० ।

×—न दासार्थं सुधर्मा या महामो बाध्य तादृशी ।

सभा ह्येषा सम्पन्ना या चक्रे मतिमान्मया ॥

रघो० १० अ० ३, सभा व० ।

+ —श्रीधर्मा महेन्द्रासाः सर्मा यान्ति दिग्पतयः ॥

रघो० १ अ० ६२, वन व०

तथा महाभारत में मिलते हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि यह राज्य लोगों की बैठक के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त उनके मंत्रियों तथा राजकन्याओं ने यह उचित समझा कि श्वशुर के रिक्त राजपद पर वृत्तरा राजा नियुक्त होना चाहिए। इस स्थान पर उन समस्त आपत्तियों एवं विपत्तियों का जो राजा रहित राज्य के लोगों को भोगनी पड़ती है, बड़ा रोचक वर्णन किया गया है। इन आपत्तियों एवं विपत्तियों का वर्णन करते हुए रामायणका ने लिखा है कि राजाहीन राज्य में समाए नहीं की जा सकती।* महाभारत में वर्णन मिलता है कि इक्ष्वाकुपुर की राजगद्दी के लिए युधिष्ठिर के राज्याधिकार की पुष्टि करने के हेतु राजधानी की समस्त सभाओं (लोगों की बैठकों) में युधिष्ठिर के गुणानुवाद करती थी।† वृत्तियों की सभा (सदस्यों की बैठक) को समापास ने सुभद्राद्वारा सम्बन्धी सम्वाद दिया था।‡

इस प्रकार रामायण एवं महाभारत में समा राज्य समाभवन एवं सदस्यों की बैठक इन दोनों ग्रंथों में प्रयुक्त किया गया है।

महाभारतकार ने समा शब्द का प्रयोग सार्वजनिक स्थानों जैसे धर्मशाला तथा टिकावरों के लिए भी किया है। धृष्टा तथा दुष्य से कीर्तित गल धोर समयकी बककर सभा (धर्मशाला) में पहुँचकर एक रात उठरे थे।४ यह समा गहन जंगल में थी। दुर्योधन ने नकुल तथा सहदेव के नामा खल्य को प्रसन्न करने के निमित्त उनके स्वागत के लिए उनके मार्ग में स्थान-स्थान पर टिकासरे बनवाए थे जिनका महाभारतकार ने समा के नाम से उल्लेख किया है। इन समाओं में उत्तम प्रकार के भोजन तथा खीने धादि का विलेय प्रबन्ध किया गया था।

*—राजाके उपपदे कारयन्ति सभां मरान् ॥

रजो० १२ स्तो १०, अथो० का० ।

†—कथयन्ति ह्य संसूय ज्येष्ठेण सभासु च ॥

रजो० २४ अ० १४३, आदि ५० ।

‡—तेषां धृष्टा समापासो मेरीं सानत्विर्जीवता ॥

रजो० १२ अ० २२२, आदि ५० ।

४—श्रुतिपासा परिग्रह्यन्ती सभां कश्चिदुपेयता ।

रजो० २ अ० १२ अ० ५० ।

इन सभाओं में कुर्मा, असाधारण, स्नानागार आदि का भी आयोजन किया गया था। अस्य इन टिकासरो में ठहरकर बड़ा प्रसन्न हुआ था।* इस प्रकार की सभाएँ कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए दुर्वीचन ने भी ठीक समय कृष्ण के मार्ग में थोड़े-थोड़े अन्तर पर इनमाई भी जब वह दुर्वीचन को अग्रिम तार समझने के हेतु हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान कर रहे थे।†

सभा में बैठने का प्रसङ्ग:— राजा दशरथ की सभा सोने-चाँदी की बनी हुई थी। यह सोने के अम्में पर स्थिर थी। यह सम्मे राम-अटित थे। वसिष्ठ सभा में एक विशेष आसन पर बैठते थे। यह आसन सोने का बना हुआ था।‡ विभिन्न सदस्यों ■ समुद्र रूप छोटे-बड़े आसन होते थे। इन आसनों पर सभासद राजा की ओर मुख करके बैठते थे।+

राज्य की सभा में सोने चाँदी के छोटे-छोटे ऊँचे आसन थे। सभाभवन का धरातल संगमरमर का बना था। राजा का आसन वैदूर्य मणि का था जिसपर सोने का काम किया गया था। इस

*—तत्र माक्ष्याणि मोक्षानि भव्यं येयं च सत्कृताः ॥

स्क० २ अ० ८, उद्योग प० ।

कूषारचविनिधाकरा सबोद्धर्षविकर्षणाः ।

वाचस्पत्य विविधकारा शौचकानि गृहाणि च ॥

आजगाम सभामन्थी देवायतनवर्चसम् ॥

स्क० १०-१२ अ० ८, उद्योग प० ।

†—सती देवेषु शमनीयेषु भागवतः ।

सर्वरत्नसमाकीर्णः सभासद्वरुनेकशः ॥

स्क० १३ अ० ८१, उद्योग प० ।

‡—भातकुम्भमयी रम्या मण्डिदैवसमाकुलाम् ॥

स्क० १० सर्ग ८१, अयो० का० ।

सकाङ्क्षमयं पीठं स्वस्वास्तरणसंयुतम् ॥

स्क० ११ सर्ग ८१, अयो० का० ।

+—अथ राजविहीन्येषु विविधेष्वासनेषु च ।

राजान्मेषाभिमुखान् मियेदुर्निवृत्ता नृपाः ॥

स्क० १० सर्ग १, अयो० का० ।

भासन पर मूल्यवान् गद्दा पड़ा रहता था जिसके ऊपर मृगचर्म बिछा रहता था । सभासद राजा की ओर मुखा करके अपने पूर्व निर्धारित भासनों पर बैठते थे ।* इस सदस्यों के सम्मत् राजा वेदों के अध्ययन सम्मान शोभित होता था ।†

महाभारत में भी सभामवन एवं उसके भासनों का सगमग इसी प्रकार का वर्णन किया गया है । महाभारतकार ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि सभा में श्वत्सुओं के स्थान नियत थे । राजा विराट की सभा में राजा युधिष्ठिर राजविराज के भासन पर बैठ गए थे । ऐसा देखकर राजा ने उनसे पूछा ■ वह राजवंश सम्बन्धी भासन पर कैसे बैठ गए थे ?‡ इस सभा ■ वषय में विभिन्न प्रकार के भासनों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया हुआ है । सगमग इसी प्रकार का वर्णन कुशवर्षों की सभा में भी मिलता है ।

सभा की देख-रेख—रामायण और महाभारत काल में सभामवन को अध्यक्षी दद्या में रखने के लिए विशेष ध्यान दिया जाता था । सभा की रक्षा के निमित्त कुछ सेवकों की नियुक्ति की जाती थी । वह सेवक समयानुसार सभामवन के विकास एवं वीर्योद्धार का प्रबन्ध करते रहते थे । युधिष्ठिर की सभा का निर्माण ममदाग्न की वेद-रेख में हुआ था । इस सभामवन की रक्षा के हेतु बहुत से सेवक नियत थे ।४ रावण की सभा की रक्षा का भार छः ही पिशाच सेवकों ■ निर्भर था ।‡ जिनकी नियुक्ति राज्य की ओर से हुई थी ।

*—भाससाव महावेद्यः सभां विरचितो तदा ।

सुवर्च रजतास्तीक्ष्णविद्युच्च स्फटिकान्तराम् ॥

श्लो० १४ सर्ग ११, बुद्ध का० ।

विराजमानो वपुर्वा समपश्येत्तरण्युदारम् ॥

श्लो० १५ सर्ग ११, बुद्ध का० ।

†—अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्य संज्ञकः ॥

श्लो० ७ अ० ७०, विराट ५० ।

‡—अथ सभे मयेभोक्तुं शक्यं च बहुमति च ।

सभामहो सद्भावि किंवा नाम राक्षसाः ॥

श्लो० २८ अ० ३, सभा ५० ।

४—अथ विद्याय शतेः पद्मिनरभिपुता सदा प्रभातम् ।

श्लो० १२ सर्ग ११, बुद्ध का० ।

सभा में अनुशासन—रामायण और महाभारत में सभा के सम्बन्धों का पालन करना पड़ता था। रामायण की सभा का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि सभा के सभासद एक दूसरे को पुकारते नहीं थे और बहू चित्वाकार बोलते भी नहीं थे। उनमें से कोई भी झूठ नहीं बोलता था।* महाभारती मतस्वी सत्समाचारियों की सभा में रामायण अपनी सभा के दलुओं की सभा में इन्द्र के समान कोभित हो रहा था।†

राजा विराट एवं कुरु-सभाओं में भी अनुशासन की मात्रा रामायण की सभा से किसी प्रकार कम नहीं थी। सभाभवन के द्वार पर एक सरकारी अधिकारी बैठता था जो द्वारपात्र कहलाता था। उसकी आज्ञा के बिना कोई व्यक्ति सभाभवन में प्रवेश नहीं कर सकता था। हनुमान रामायण की सभा में राम का संवाच सुनाने के लिए प्रवेश करना चाहते थे परन्तु द्वारपाल ने उन्हें द्वार पर ही रोक दिया था। सुषमा-हरण सम्बन्धी संवाद इसी अधिकारी ने सभा को दिया था।‡

सभा के सदस्य सभासद कहलाते थे। रामायण और महाभारत दोनों में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। राजा बलरव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को कुवराज पद देने की सूचना देने के लिए उन्हें सभा में बुलाया था। उन्होंने राजगुरु वसिष्ठ के साथ सभा में प्रवेश किया। सभा के सभासद राजगुरु तथा राम को सभाभवन में प्रवेश करते देखकर अपने-अपने आसन के समीप जाड़े हो गए।§ पयोध्या-काण्ड के एक स्थल पर भरत तथा राम के वनगमन सम्बन्धी बहस है

*—न शुक्रशुभानुत्तमाः करिष्मन्मांसदो नापि जलपुच्छयः ।

श्लो० ६० सर्ग ११, सुख का० ।

†—तस्यां सभायां प्रभवत् शक्रो सर्वे दक्षतामिव वज्रहस्तः ।

श्लो० ११ सर्ग ११, सुख का० ।

‡—सभाप्राजसः सत्सर्वमाचक्षुः पार्थविक्रमम् ।

श्लो० ११ अ० २२२, भावि प० ।

§—तेन तब तदा सुखं महासीमाः सभासदः ।

वासनेभ्यः समुत्पद्युः पूज्यभ्यः पुरोहितम् ॥

श्लो० २४ सर्ग २, अयो० का० ।

प्रपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए बार-बार स्पष्टीकरण करते हुए यह वक्तव्य दिया कि राम को मनाने के लिए उन्हें मन जाना चाहिए । भारत के इस प्रस्ताव को सुनकर शर्मिष्ठा भी सभा के सभासद आनन्द के पास बहामें संधे :*

महाभारत के समापन में नारद ने सभा के सदस्यों को सभासद के नाम से सम्बोधित किया है ।† राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करने का निश्चय कर लिये। यह निश्चय सभा के सभासदों के समक्ष प्रस्तुत किया ।‡ श्रीकृष्ण ने कौरव और पाण्डवों के मध्य शान्ति स्थापित करने के लिए कुरुसभा में स्वयं जाकर इन समस्त परिस्थितियों का विश्लेषण सभा के सभासदों (सभासदेषु) का कराने के हेतु अत्यन्त सौजन्यपूर्ण व्याख्यान दिया था जिसका कुरुसभा के सभासदों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था ।

सभा का प्रधानः—राम को दुःखराज बनाने के प्रस्ताव की स्वीकृति देने के निमित्त राजा दशरथ ने जिन बड़ी परिश्रम को बुराया था उसमें उन्होंने स्वयं प्रधान का भासन ग्रहण किया था । परन्तु इस परिश्रम में सभा के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य लोगों के भी व्यक्ति उपस्थित थे । अतः राम को दुःखराज बनाने से सम्बन्धित प्रस्ताव पर विचार करने के हेतु सभासद अन्यत्र एकत्र हुए थे । सभासदों ने प्रपने-प्रपने विचार प्रकट किए थे अतः मैं सर्वसम्मति से यह निर्णय हुआ कि राम दुःखराज बनावे अथवा । अतः यह प्रश्न होता है कि सिवा प्रथम के सभासदों को यह बैठक कैसे हुई होगी और किस प्रकार राम के दुःखराज बनाने का प्रस्ताव सभासदों के समक्ष प्रस्तुत किया गया होगा और उस पर कैसे विचार हुआ होगा ? इसलिए यह निश्चिन्त है कि सभासदों की इस बैठक में जहाँ में से ही एक सभा-

*—कृष्णार्क धर्मसंयुक्त श्रुत्वा सर्वे सभासदः ।

हर्षांमुमुक्षुरभून्नि शनैर्निहितचेतसाः ॥

श्लो० १७ सर्ग ८२, अयो० का० ।

†—यते चाऽप्ये च महयः कुरुसभासदः ।

श्लो० ३३ सर्ग ८, सभा ५० ।

‡—युधिष्ठिरस्तत्रा सर्वानर्चयित्वा सभासदः ।

श्लो० ४ सर्ग १३, सभा ५० ।

सद ने प्रभाम का आसन ग्रहण किया होगा । रामायणकार ने इस सभा-सद को मध्यस्थ के नाम से संबोधित किया है । *

संका राज्य की सभा को जब बैठक हुई थी तो राजा रामाय ने प्रभाम का आसन ग्रहण किया था । जिस समय बौद्धाय ने शांति-संदेश लेकर कुरुओं की सभा में प्रवेश किया था उस समय घृतराष्ट्र कुषसमा में प्रभाम का आसन ग्रहण किए हुए थे । मुर्धिराष्ट्र को हस्तिनापुर का कम-से-कम आधा राज्य दिलाने के हेतु जो प्रस्ताव राजा विराट की सभा में प्रस्तुत किया गया था उस समय राजा विराट स्वयं प्रभाम पर ग्रहण किए हुए थे ।

उपरोक्त घटनाएँ इस मिथ्यात्व की पुष्टि करती हैं कि रामायण और महाभारत काल में साधारणतया सभा का प्रभाम राजा ही होता था । परन्तु राजा की अनुपस्थिति में उसका स्थान सभा के योग्य एवं सर्वश्रेष्ठ सदस्य द्वारा ग्रहण किया जाता था । रामायण में उसी मध्यस्थ के नाम से संबोधित किया गया है । परन्तु महाभारत उसे श्रेष्ठ के नाम से संबोधित करती है ।† विशेषकर उस अवसर पर जब कि सम्राट् न्यायालय के रूप में काम करती थी । यह प्रभाम सभासदों में से किस प्रकार बनाए जाते थे ? उनकी कौन-कौन विशेष योग्यताएँ होनी चाहिए इत्यादि का उत्तर इन दोनों ग्रन्थों में कहीं भी प्राप्त नहीं है ।

सभा का संघटन—सभा के संघटन पर रामायण में पर्याप्त सामग्री प्राप्त है । भयोध्या राज्य की राजधानी में सभा थी । जनता के विभिन्न वर्गों एवं हितों के प्रतिनिधियों को सभा में सदस्यता का अधिकार प्राप्त था । इस बात का उल्लेख रामायण में उस स्थल पर मिलता है जब कि राजा ने राम को युवराज पद प्रदान करने का प्रस्ताव स्वीकृत करने हेतु प्रस्तुत किया था । इस परिषद् में भयोध्या की सभा के सभासदों के अतिरिक्त अन्य बड़े राजाएँ भी सम्मिलित थे जिनका भयोध्या राज्य से किसी प्रकार का राजनीतिक संबंध था । सभा के सभासदों में अन्यान्य एकज होकर यह निर्णय किया था कि उनका

*—मध्यस्थश्चिन्ता तु निमर्दम्यभिकीदया ॥

स्त्रो० १३ सर्ग २, भयोध्या का० ।

†—अनेन भवति श्रेष्ठो मुज्यन्ते च सभासदाः ॥

स्त्रो० ८० अ० १८, सभा० प० ।

राजा मूढ़ हो गया है ।* अतः उनके ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र राम को गुवराज पर नियुक्त करवा चाहिए । रामायण इस स्थल पर जन समासकों का वर्गीकरण करते हुए वर्णन करते हैं कि यह समासद बाह्य (बाह्यराजः), मुख्य सैनिक (सम मुख्याः) तथा पीर और जनपद के सोम (पीर जानपदः) थे ।† यह कदापि संभव नहीं था कि यद्यप्य राज्या के समस्त जनों ने एक ही समय भीर एक ही स्थान पर एकजुट हो इस विषय पर निर्णय दिया होगा । इसलिए यह निर्विवाद है कि राज्य के विभिन्न वर्गों तथा हितों के प्रतिनिधियों को यद्यप्य की सभा में बैठने का अधिकार मिला होगा । इसलिए यह स्पष्ट है कि राजा वत्स के समय में बाह्यराजों, क्षत्रियों तथा राष्ट्र एवम् पर की अन्य जनता ॥ प्रतिनिधि यद्यप्य की सभा के समासद थे ।

राजा वत्स की मृत्यु के उपरान्त भरत ने बड़ा विस्मय किया । राजगुरु कश्मिष्ठ ने सभा में प्रवेश किया और उन्होंने चतुर दूतों को यह आदेश दिया ॥ वह क्षत्रियों (क्षत्रियान्) योद्धाओं (योद्धान्) भमा-र्यों (भमासकान्) पीर भूत के प्रत्यक्षों (परावल्लभान्) की क्षीम सभा में भेजाए ।‡ इस स्थल पर भी राजा वत्स की सभा की स्वस्थता का अधिकार लोगों को जिस सिद्धान्त पर प्रदान किया गया था, उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । यहाँ पर भी बाह्यराजों, क्षत्रियों तथा भूत के प्रतिनिधियों को सभा में बैठने का अधिकार दिया गया है । दूसरे शब्दों में पुर और राष्ट्र की जनता के विभिन्न वर्गों तथा हितों के प्रतिनिधियों को सभा की स्वस्थता का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त

*—समेत ते मंत्रयिषु समपागतपुत्रवः ।

अथुत्तममन्त्राः कात्यायनः दृष्टव्यं भूपम् ॥

श्लो० २० सर्ग २, अयो० ५० ।

†—तस्य धर्मार्थविदुषो भावमात्राय सर्वशः ।

माहन्ता बलमुक्त्वापय पीरजानपदः सह ॥

श्लो० १३ सर्ग २, अयो० ५० ।

‡—अहोरात्रविश्वामित्रोऽपममत्स्यान्नाश्वत्थमात्रम् ।

विप्रमानवताम्वमाः कृत्यमाश्वयिर्कं हि नः ॥

श्लो० १२ सर्ग २१, अयो० ५० ।

वा । इन सदस्यों ■ प्रतिरिक्त राजघराने के सदस्यों को भी इस सभा में सम्मानित सदस्यों के रूप में बैठने का अधिकार था ।*

इस प्रकार राजा दशरथ की सभा की सदस्यता का अधिकार जयता के विभिन्न वर्गों तथा हितों के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर निर्भर था ।

भारतीयों ने रामायण में रंका राज्य की सभा का वर्णन विस्तार-पूर्वक किया है और इसमें प्रजातन्त्रवाद की मूलक अधिक दृष्टिगोचर होती है । राजा रावण ने अपने दूतों को आदेश दिया था कि वह राजाओं की सभा में तुरंत बुला जाए ।† अपने राजा के आदेश ■ पाकर दूत रंका में घुमने लगे । वह प्रत्येक घर, उपवन में निश्चिंत होकर जाते थे और चाहे कोई विह्वल करता हो भयवा सोटा हो सब भी वह उसे सभा में उपस्थित होने के लिए संदेश दे जाते थे ।‡ इन राजाओं में बहुत से रथ पर, बहुत से घोड़ों पर, बहुत से हाथियों पर, और बहुत से पैदल ही सभाभवन में पहुँचे ।+ उस दिन वह नगरी रथ, घोड़ों और हाथियों से भर गई । उड़ते हुए पक्षियों से भरे आकाश के समान वह नगरी उस विशेष दिन शोभित हुई ।x विभिन्न प्रकार के वाहनों की सभा द्वार पर खड़ा कर उन्होंने वरों से ही सभाभवन में प्रवेश किया जिस प्रकार सिंह पर्वत की गुफा में प्रवेश करता है । इन सामारण सभा-

*—स राजपुत्रं शत्रुर्ध्वं भक्तं च यथास्मिन् ।

दुष्प्राप्तिर्धं सुमर्त्यं च यः स तद्विदा जनाः ॥

श्लो० १३ सर्ग २१, अयो० का० ।

†—समावस्यते मे विप्रमिहैतान्द्राक्षसामिति ।

श्लो० १८ सर्ग ११, युद्ध का० ।

‡—अजुगेद्वयस्याय विहारतमयेषु च ।

उक्तयेषु च रक्षांसि मोदयन्तोऽप्यसीतवत् ॥

श्लो० १३ सर्ग ११, युद्ध का० ।

+—तेरपान्तरा एके पुराणेके वाम्बपाद् ।

नारानेकेऽविदसुजागुरुचैके पद्मदयः ॥

श्लो० २० सर्ग ११, युद्ध का० ।

x—साधुरी परमाकीर्णं दधुंवरशामिनिः ।

संपतीरीर्धकृत्वे गदम्भजिचिदम्भरम् ॥

श्लो० २१ सर्ग ११, युद्ध का० ।

धरों ॥ प्रतिरिक्त राजा के मंत्रिगण (मंत्रिगण) विभिन्न विभागों के मध्यम (मन्त्राध्यक्ष) तथा मुख्य-मुख्य योद्धागण (योद्धागण) भी सभा में सम्मिलित हुये ।* कोई पीठों पर, कोई चटाईयों पर और कोई भूमि पर ही बैठ गये ।†

उपरोक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि राजा राजा की सभा की संरक्षता केवल सत्ता नगरी की जनता तक ही सीमित न थी, संपूर्ण राज्य की जनता के प्रतिनिधियों की इसमें बैठने का अधिकार प्राप्त था । इस सिद्धान्त की पुष्टि में एक प्रमाण यह दिया जा सकता है कि सदस्यगण रथों, घोड़ों तथा हाथियों पर चढ़ कर शाये से और उस विशेष दिन सत्ता नगरी यानों और वाहनों से भर गई थी । यदि सभा में केवल सत्ता नगरी के निवासी ही गए होते तो उस दिन सत्ता नगरी में वाहनों और यानों का इतना बड़ा जमाव न हुआ होता । कवि ने वाहन तथा यानों के वर्णन सम्बन्धी उत्सुकता को सभा द्वार से वर्णन तक ही सीमित रखकर उसी द्वार पर वाहनों और यानों के समूह का विशद वर्णन किया होता और इस प्रकार अपनी उत्सुकता को तृप्त कर दिया होता कवि को सारी नगरी में भौड़-भड़के के विकाने की इतनी आवश्यकता न पड़ी होती । इसके प्रतिरिक्त सभासदों की अधिक संख्या पैदा ही सभा में घाई होती । रथों, हाथियों व घोड़ों पर बैठकर लोके से सदस्य आए होते । इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि राजा के दूत घर-घर गए थे । सभासदों को बुलाने के लिए उनके घरों में भ्रमण उपवनों में अहाँ यह काम करते होंगे उन दूतों को उस समय भेजा गया था । बाजार, दुकान भाषि में उनके जाने का कहीं भी संकेत नहीं है । इससे यह पता चलता है कि राजा के दूत सत्ता नगरी के बाहर जहाँ पर कि उपवनों में योग काम करते थे उन्हें बुलाने ॥ लिए भेजे गये इसलिए राजा की सभा में सत्ता राज्य की जनता के प्रतिनिधियों की सभा में संरक्षता

*—मंत्रिगण यथामुक्या निदिप्यतार्येषु पंक्तिषाः ।

समाध्यात्म सुखोपेताः सर्वथा शुद्धिः दर्शयः ॥

रजो० २५ सर्ग ११, पुष्प का० ।

†—पीठेष्वपि वृत्तीनरुग्ने भूमौकेण्डिपुपाधिरम् ।।

रजो० २१ सर्ग ११, पुष्प का० ।

का अधिकार प्राप्त था। परन्तु इसमें खदेह नहीं कि इस सभा में संका मंत्री की जनता अधिक संख्या में पाई होगी।

राज्य की सभा की संरचना के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि उपरोक्त वर्णन से यह पता चलता है कि संभवतः सभा की संरचना कुटुम्ब के आधार पर थी। राज्य ने अपने दूतों को सभासदों को बुलाने के लिए राज्य के प्रत्येक घर में जाने का आदेश दिया था यदि कोई कुटुम्ब प्रधान में था तो वहाँ भी दूतों को जाने के लिए आदेश दिया गया था। इससे पता चलता है कि संका राज्य में प्रत्येक कुटुम्ब को सभा की संरचना का अधिकार प्राप्त था। इसलिए यह कहना उचित ही होगा कि राज्य की सभा की संरचना में कुटुम्ब के प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त प्रचलित था। इस प्रकार यह चट्ना इस सिद्धान्त की पोषक है कि रामायण में जिस सभा का उल्लेख है वह सभा संरचना की दृष्टि से एक ऐसी संस्था है जिसमें प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों का समावेश है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उठाया जा सकता है ■ समस्त संका राज्य से सभा के सदस्यों के बुलाने के लिए अत्यन्त शल्प समय का उल्लेख है। संका राज्य के सुदूर भागों में इतने शल्प समय में सदस्यों को राज्य का संदेश कैसे पहुँचाया गया होगा? इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है, 'संभव है कि राज्य के पास कुछ विशेष साधन हों जिनके द्वारा यह संदेश सभासदों तक शीघ्र पहुँचा दिया गया हो' यमजा कवि ■ समय का विशेष ध्यान ही न रहा होगा। उसका उद्देश्य सभा के प्रभुत्व मात्र का वर्णन करना था इसलिए उसने ■ छोटी मोटी बातों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।'

रामायण में किष्किन्धा राज्य की सभा का उल्लेख नहीं है इस ओर वात्सीकि मीन ■ हैं। कवि ने मन्त्रिपरिषद् और प्रजात्य परिषद् को ओर ध्यान दे संकेत किया है परन्तु इनकी रूपरेखा का भी कुछ भी वर्णन नहीं दिया है। महाभारत में भी सभा की संरचना की ओर कुछ प्रकाश डाला गया है। सभा की संरचना के लिए महाभारत में कुछ विशेष योग्यताओं का प्रतिबन्ध लगाया गया है। भीष्म के विचार से सभा के सदस्य अत्यन्त उच्च जाति के होने चाहिए। उन्हें सज्जाशील (शुचिर्भावः) धार्मिक (धाम्नाः)

सत्यवादी भीरु सरल स्वभाव वाले (सत्यार्थैव समन्वृताः) होने चाहिए । उन्हें इतना निर्भीक होना चाहिए कि वह राजा को सत्यमार्ग बतलाने में संशयान भी संकोच न करे ।^३

इस प्रकार उच्चाचरण सभा की सत्यता के लिए एक आवश्यक प्रतिबन्ध था । यह आचरण सम्मन्धी विवेचना माहम्बर मात्र के सिधे न थी परन्तु सभासद की अपने दैनिक जीवन में इसके अनुसार आचरण रखना पड़ता था । महाभारतकार का मत है कि धर्म में से बिधा वृथा धर्म जिस सभा में होता है उसके कर्तव्य को धर्म से बिधे द्वये सभासद निकासने में समर्थ नहीं हो सकते, ऐसी सभा में जो प्रधान होता है उसकी पाप का प्राधा भाग प्राप्त होता है । पाप का प्राधा इस पाप के करने वाले को और शेष प्राधा उन सभासदों को सयता है जो निधिल पुरुष की निन्दा नहीं करते हैं ।^४ जिस सभा में निन्दा करने योग्य व्यक्ति की निन्दा की जाती है उस सभा में प्रधान भीरु सभासद पाप से छूट जाते हैं । भीरु सभा पाप कर्त्तों को ही योगना पड़ता है ।^५

महाभारत के उत्थोग पर्व में सभासद की परिभाषा करते हुए विष्णु महोदय ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—मेरी सम्झ में वह सभा नहीं मानी जा सकती जिसमें बूढ़ जन न हों, बूढ़ जन वह नहीं कहे जा सकते जो धर्म की बात न करते हों, वह धर्म

*—ही त्रिविधास्तथा क्षान्तास्तस्यार्जव समन्वृताः ।

शब्दाः कथयितुं सम्यक् तथस्तु सभासदाः ॥

श्लो० २ अध्याय ८३, शान्ति प० ।

†—विदो धर्मो ह्यधर्मेण सभां वप्रोपपद्यते ।

न चाऽस्य शब्दं कृत्स्नं विद्वास्तस्य सभासदः ॥

श्लो० ७८ अध्याय ३८, सभा प० ।

अथ इति चे मेघः पादो भवति कर्तुं दुः ।

पादुरैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥

श्लो० ७३ अध्याय ३८, सभा प० ।

‡—अनेन भवति मेघो मुच्यन्ते च सभासदाः ।

येनो गच्छति कर्तारं निन्दाहो यत्र निघते ॥

श्लो० ८० अध्याय ३८, सभा प० ।

नहीं है जिसमें सत्य का भसान हो और वह सत्य नहीं जो धर्म से रहित न हो ।*

इस प्रकार सभा की संवत्सरा के लिए महाभारत में आचरण ■ महान् महत्त्व बतलाया गया है । समासव को विद्या और धर्म दोनों में उच्च स्थान प्राप्त किए ■ होना चाहिए । साथ ही उसमें उच्चकोटि का आचरण होना परमाण्वक है । उसे निर्बल और स्पष्टकारी होना चाहिए ।

राजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते थे । उन्होंने अपने इस विचार, को अपनी सभा के समक्ष रखा । इस सभा में ब्राह्मण (ब्राह्मणः) क्षत्रिय (क्षत्रियः) और उच्च कोटि के ऋषि-मुनि (ऋषि-मुनिः) थे । कवि लिखता है कि राजा युधिष्ठिर को यह सभा इन्द्र की सभा के समान प्रकाशित हो रही थी ।† जिस सभा में दुर्गंधन ने युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए आमंत्रित किया था उसमें भिन्न-भिन्न देशों के राजा, राजमराने ■ संवत्स और सेना के बड़े-बड़े अधिकारी गए थे ।‡ एक स्वयं पर बलदेव ने पुराण की सभा के उन व्यक्तियों का उल्लेख किया है जिससे सभा बनाई गई थी । यह उस समय की घटना है जब कि राजा विराट की सभा में युधिष्ठिर को अपने पंतुक राज्य प्राप्ति ■ सम्बन्ध में संभासर्षों में वादविवाद हो रहा था । बलदेव ने युद्ध का विरोध करते हुए कहा था कि युद्ध हरनिकर सिद्ध होगा । इसलिये हस्तिनापुर को एक कुलन ब्राह्मण दूत भेजना

*—न सा सत्ता यत्र न सन्निवृद्धा न ते शूरा ये न बद्धन्ति धर्मम् ।

माज्झीमो पञ्च न सत्यमस्ति न तत्सत्यम् न धर्मो न धर्मो न धर्मो ॥

स्क० ७० अ० १०, अ० १०, अ० १० ।

†—तत्सत्यः पार्थिवः कीर्त्तयामास्यैव महर्षिभिः ।

आज्जलेस्य सदाशिवम्भकपुष्टं यथामरैः ॥

स्क० १२ अ० १५, अ० १० ।

‡—ते ह्यशूराः पृथक्चैव सिंहशोभा महौजसः ।

सिंहसनाति शूरोयि विविज्जति विमेजिरे ॥

स्क० ३ अ० १०, अ० १० ।

सर्वे चेद्विदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः ॥

स्क० ५ अ० १०, अ० १० ।

चाहिए जिसे मृतप्राय की सभा में जाकर शान्ति का सम्पादन उस समय देना चाहिए अब सभा की बैठक हो रही हो। बलदेव के कथनानुसार इस सभा में मुख्य व्यक्तावली में से भोज्य, श्रोत्र, कर्ण, मधवत्पामा, सङ्गति तथा भय जो कि सेना के अधिकारी थे { वलप्रधानाः } निगमां के प्रधान { निगमप्रधानाः } अनुभवशील { बहुवृत्त } एवं अधिक व्यवस्था वाले वृद्धाण { वृद्धाः } तथा पुर के मुखिया { पौरपुत्रैश्च } थे ।*

हारकापुत्री ने दण्ड हो जाने और कृष्ण की मृत्यु के उपरान्त धर्म्य ने युधिष्ठिर राज्य के अधिकारों से भेंट करने के निमित्त सभाभवन में प्रवेश किया था। इस सभा का नाम सुधर्मा था। इस सभा में प्रजा के प्रतिनिधि ब्राह्मणों और वैश्यों के सदस्य थे ।†

इस प्रकार महाभारत में वर्णित सभा केवल बड़े राजाओं का दरबार ही न था जिसमें छत्रप राजा एकत्र होते हों। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे भी अवसर आते रहते थे जब कि छत्रप राजा सभा में उपस्थित होते थे। परन्तु राज्य के शासन का मुख्य कार्य सभा के नियमित सदस्यों द्वारा ही सम्पादित होता था। छत्रप राजा किन्हीं-किन्हीं अवसरों पर आवश्यकता पड़ने पर भाग्यवित कर लिए जाते थे। अवसर ऐसे होने जैसे नये राजा के राजसिंहासन करने के समय, किसी विशेष यज्ञ के आयोजन करने के समय जैसे राजभूय तथा भवमेघ यज्ञादि। परन्तु शासन का दैनिक कार्य सभा के स्थायी सदस्यों द्वारा ही किया जाता था। शासक शासन में सदैव रहनी चाहिए कि सभा की किसी भी बैठक में जनता के प्रतिनिधियों से सभा कभी भी रिक्त नहीं होती थी। इस लिए महाभारत-कालीन सभा में जनता के प्रतिनिधि प्रत्येक बैठक में बने ही रहते थे। प्रवृत्त जनाः, ब्राह्मणमुखाः, पौरपुत्राः, यशस्वतन्माः।

*—समीपमाभेयं कुतः प्रकीरं ॥ १ ॥ ५ श्रोत्रैस्तुत्रं ।

५ ५ ५ निगमप्रधानाः ५ ५ ५ पौरैश्च वृद्धैश्च वृद्धैश्च ॥

श्लो० २-६-७ अ० २, अधोऽप ५० ।

†—सुधर्मा नाम्नीं सयं प्रविष्टाहूतं युधः शोचतामो महाभयम् ।

श्लो० ७ अध्याय ७, मौसल ५० ।

सर्वः प्रकृतस्तथा । नृणां नैतमास्तत्र परिचर्योप स्थिरः ॥

श्लो० १ अध्याय ७, मौसल ५० ।

आर्थवाद तथा प्रकृतिजनाः आदि सम्बन्ध रामायण तथा महाभारत दोनों में मिलते हैं। यह सम्बन्ध निश्चयपूर्वक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को प्रकट करते हैं। इसलिए इस निर्णय पर पहुँचना उचित ही होगा कि रामायण और महाभारत-कालीन सभा की प्रत्येक बैठक में जनता के प्रतिनिधि हर समय उपस्थित रहते थे।

सभा के साधारण नियमः—यह पीछे सिद्ध हो चुका है कि सभा का प्रधान राजा होता था और राजा की अनुपस्थिति में सभा का सर्वश्रेष्ठ सभासद प्रधान का भासन ग्रहण करता था। रामायण तथा महाभारत दोनों में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं है कि उस सर्वश्रेष्ठ सभासद को प्रधान का भासन किस प्रकार दिया जाता था। राजा उसे नियत करता था, यथवा सभा के सदस्यों द्वारा ही वह चुना जाता था। इस सम्बन्ध में किसी निश्चय पर पहुँचना असम्भव है। परन्तु इसका अवसर दिया हुआ है कि इस सभासद को रामायण की ओर मन्वन्तर और महाभारत में उसे श्रेष्ठ के नाम से सम्बोधित किया है।

सभासदों के द्वारा सभा में मापण देने वयथा प्रश्न करने आदि का क्या रीति या रामायण तथा महाभारत में इस बात का भी कहीं भी विरोध वर्णन नहीं मिलता है। परन्तु इधर-उधर की कुछ घटनाओं को एकत्र करने के उपरान्त पाठक एक निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं।

राज्य की सभा में सभासद, प्रधान तथा सभासदों दोनों को सम्बोधित करते ■ तथा अपने विचार प्रकट करते हुए, रामायण में बर्णित हैं। राजा वसिष्ठ की सभा में इस प्रकार की कोई भी व्यवस्था ही नहीं है। इसलिए इस विषय पर कोई ऐसी सामग्री रामायण में प्राप्त नहीं हुई है जिसके आधार पर सभा के कार्य संचालन के सम्बन्ध में किसी निश्चय पर पहुँचा जा सके। महाभारत में बर्णित सभा में भी सभासदगण प्रधान तथा सभासदों को सम्बोधित करते हुए अपने विचार प्रकट करते थे। महाभारत में ऐसा दिया हुआ है। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि रामायण तथा महाभारत-कालीन सभा में सभासदगण सभा के प्रधान एवं सभासदों दोनों को सम्बोधित कर अपने विचार प्रकट करते थे।

प्राधुनिक काल की मारालुभाओं में सभासद अपने स्थानों से ही बोलते हैं। यही प्रणाली रामायण तथा महाभारत-कालीन सभा में भी

प्रचलित थी। सभासदों को अपने भासन से कड़े होकर बोलना पड़ता था। राजा विराट की सभा में शनिपुत्र सात्यकि को अपने विचार प्रकट करने के लिए अपने भासन पर लड़ा होना पड़ा था।* (उत्पत्ति)

सभा में प्रस्ताव प्रधान की ओर से प्रथम किसी भी सभासद की ओर से प्रस्तुत किया जा सकता था। प्रस्ताव का संश्लेषण होता था, फिर उस पर वादविवाद किया जाता था और अन्त में प्रस्तावक महोदय को अपने विचार पुनः प्रकट करने एवं अन्य सभासदों के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए अवसर दिया जाता था। राजा विराट की सभा में श्रीकृष्ण ने प्रस्ताव रखा था कि घृतराष्ट्र के समीप एक योग्य युव श्व संवाद के सहित अवश्य भेजना चाहिए कि वह राज्य का कम-से-कम भाग भाग युधिष्ठिर को अवश्य दें क्योंकि वह उसका शर्मतः अधिकारी है। बलराम ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया था, फिर अन्य सभासदों को अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया गया था। अन्त में प्रस्तावक महोदय (श्रीकृष्ण) को अपने विचार प्रकट करने एवं अन्य सभासदों के द्वारा किए गए भाषणों का समाधान करने के लिए पुनः अवसर दिया गया था सभा में सभासदों का चीज रहता ही उनकी अनुमति समझी जाती थी। कौरव सभा के मध्य इस प्रश्न पर कि युधिष्ठिर ■ अज्ञ में हारने पर द्रौपदी भी हार गई थी, सीष्म चीज से। सीष्म की भोक्ता सभासदों द्वारा प्रस्ताव के पक्ष में स्वीकृति मान ली गई थी। परन्तु 'साधु' 'साधु' शब्द भी सभासदों की अनुमति प्रकट करते थे। सभासदों की अनुमति प्रकट करने के लिए शब्द को दो बार बोला जाता था। मार्यों की सभा में एलापय नामक नाग ने एक प्रस्ताव रखा था। इस सभा में मागराज वासुकि प्रधान था। इस सभा के सभासदों ने एलापय के प्रस्ताव से सहमत होकर अपनी अनुमति "माधु साधु" कह कर दी थी।†

सभा में बहुमत का सिद्धान्त प्रचलित था। यदि किसी विषय पर सभासदों में मतभेद होता, परन्तु उनकी अधिक संख्या एक पक्ष में होती

*—शनिपुत्रोवा सहस्रेत्यपि ॥

रखी० १२ अ० २, उद्योग प० ।

†—सर्वे श्रेष्ठमतसः साधु साधित्वमाप्नुवन् ॥

रखी० १ अ० ३१, आदि प० ।

तो अन्य समासदों के लिए वह निर्णय माननीय समझा जाता था। यदि समासदों में से कोई समासद भी बहुमत द्वारा किए गए निर्णय से सहमत न होता तो उसके लिए केवल एक मार्ग खुला था कि वह समासद के उस समय वह बोधित करके (कि उक्त निर्णय राजा एवं राज्य के लिए अहितकर सिद्ध होगा, इसलिए) वह समासद को त्याग कर बाहर जा रहा है।* (Principle of Walk out) क्योंकि उसे अन्य समासदों के साथ उस निर्णय को मानना ही होगा और उसका कल सबके साथ उसे भोगना ही पड़ेगा। रावण अपने सभा के समासदों में बहुमत को, अपनी ओर कर लेने के लिए प्रयत्न उत्सुक और प्रयत्नशील था। रावण का प्रस्ताव यह था कि सीता को वापस न किया जाय और रावण से युद्ध किया जाय। परन्तु विभीषण रावण के इन विचारों से सहमत न था। उसने यह भी देखा कि युवा का बहुमत रावण के साथ है और सभा का यह निर्णय रावण और सत्ता राज्य दोनों के लिए अहितकर एवं घातक होगा। अतः वह अपने बस के साथ समासदों में यह घोषणा कर सभा से बाहर चला आया था कि वह सभा के इस निर्णय से सहमत नहीं है। विभीषण सभा उसके इस के बड़े जाने के उपरान्त रावण का प्रस्ताव सभा द्वारा स्वीकृत हो गया। समासदों का एक भव उद्बुध-से-उद्बुध राजा की स्वेच्छाचारपूर्ण योजनाओं की रोकने में समर्थ था। विभीषण ने सत्ता की सभा में समासदों का ध्यान इस बात की ओर दिलाया था कि समस्त समासद एकमत होकर अपने राजा रावण को मृत्यु के मुख से बचाने का प्रयत्न करें। वह उनकी घातक योजनाओं का एक स्वर से विरोध करें जिससे रावण को विवश होकर अपनी इन योजनाओं को त्यागना पड़ेगा।† जिसका परिणाम यह होगा कि उनका उनके राजा और उनके राज्य का बड़ा कल्याण होगा।

राजा विराट की सभा के कार्यसंचालन में भी लगभग इसी प्रणाली का सहारा लिया जाता था। कृष्ण द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव का

*—उत्पत्तयः तदाप्राप्तिरुचिः सः राक्षसैः ॥

स्थो० १५ सर्ग १६, युद्ध का० ।

†—समेध सर्वैः परोर्धं कामैः ।

निष्कृतं राजा परि रक्षितव्यो मूलैर्धैर्यं भीम बहैर्धैर्यैः ॥

स्थो० १२ सर्ग १४, युद्ध का० ।

समर्पण हुआ था फिर उसपर सभासदों के विवेचनापूर्ण वाद-विवाद हुए थे और अन्त में यह प्रस्ताव बहुमत से स्वीकार किया गया था ।* हस्तिनापुर की कुरुसभा में भी इस बात की ओर संकेत मिलता है कि वहाँ भी लगभग इसी प्रणाली से काम लिया जाता था । जिस समय कृष्ण ने औरवों और पाण्डवों के बीच समझौते का प्रस्ताव कुरु-सभा में रखा था तो कुरुसभा के सदस्यों की अधिक संख्या कृष्ण के विचार से बहुमत तो थी, परन्तु कुछ महत्त्ववासी सभासदों के प्रभाव के कारण उनमें एकमत न हो सका । अतः वह दुर्योधन की सन्दी बनाकर समझौता कर लेने के प्रस्ताव पर अपनी सम्मति न दे सकें और इस प्रकार औरवों और पाण्डवों के मध्य विषमता का जन्मूलन करने में वह सफल न हुए थे । यद्यपि कृष्ण के द्वारा प्रस्तुत किए हुए इस प्रस्ताव को कुरुसभा ने स्वीकार नहीं किया था, परन्तु यह घटना इस सिद्धान्त की पुष्टि अवश्य करती है कि बहुमत का सिद्धान्त महाभारत-कालीन सभा में प्रचलित था ।

सभा में वक्तव्य का उद्देशः—राभावण और महाभारत दोनों युद्ध इस बात की पुष्टि करते हैं कि सभासदों को सभा में अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी । महाभारत के सभापर्व में धृतराष्ट्र-पुत्र भिक्षुं स्वच्छन्वितापूर्वक अपने विचार प्रकट करता हुआ दिसलगाया गया है । उसने द्रौपदी के पक्ष की पुष्टि में घोषस्वी वक्तव्य देकर सभासदों को द्रौपदी के पक्ष में करने का गयासाध्य प्रयत्न किया था ।† द्रौपदी ने दक्षयं एक गहन प्रश्न सभा के समक्ष प्रस्तुत कर सभासदों को उनके व्यक्तिगत विचारों को प्रकट करने के हेतु प्रामाणित किया था । जो सभासद इस गहन प्रश्न के उत्तर देने की क्षमता रखते थे, इन वाद-विवाद में सम्मिलित थे ।

राजा मुचिन्धिर ■ राजसूय यज्ञ के अवसर पर भी इसी प्रणाली का पालन किया गया था । भीष्म ने उदक पान के हेतु कृष्ण का नाम प्रस्तुत किया था, भीष्म ने इस प्रस्ताव का समर्पण किया, विजयपाल ने

*—कृष्ण का अध्याय ३, उद्योग पर्व में देखिये ।

†—यदि द्रौपदी वाक्यमुक्तव्यसकृन्नुभा ।

विशुद्ध कस्य कः पक्षः पार्थिवः बहुतोत्तरम् ॥

इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया। इस विषय पर सभासदों के अपने-अपने विचारपूर्ण वक्तव्य स्वच्छन्दतापूर्वक होते रहे। राजा विराट की सभा में श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के हितों का पोषण करते हुए सभा में उपस्थित विभिन्न राजाओं के समक्ष एक सम्भा व्याख्यान दिया था। उसमें उन्होंने यह प्रस्ताव किया था कि एक योग्य दूत कौरवसभा में भेजा जाय * और वह कौरवसभा में पहुँचकर सभासदों के समक्ष कृष्ण के यह विचार प्रभावशाली व्याख्यान द्वारा प्रस्तुत करे, जिससे कौरव भीरों के विचार बदल सकते थे। इसके उपरान्त बलदेव ने इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए इसना पेश मौलिक प्रस्ताव में जोड़ने का प्रस्ताव किया था कि क्षात्रि से ही काम लिया जाय, युद्ध करना प्रहितकर होवा। उनका कहना था कि युद्ध से ही सदैव उचित निर्णय होता है यह सर्वदा सत्य नहीं हो सकता। शान्ति द्वारा अनुप्य जिष्ठ निर्णय पर पहुँचना है वह भवान् कल्याणकारी होवा है।†

बलदेव ■ यह वचन सुनकर सनिपुत्र सात्यकि ने सड़े होकर बलदेव के वचनों का घोर विरोध किया।‡ सात्यकि के वक्तव्य के उपरान्त राजा द्रुपद ने उनके विचारों का समर्थन करते हुए अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया कि आगामी युद्ध के लिए भारत के मुख्य-मुख्य राजाओं की शीघ्र अपनी घोर कर संने के लिए उन्हें प्रार्थनित कर देना चाहिए।+ श्रीकृष्ण जिन्होंने सर्वप्रथम प्रस्ताव रखा था अन्त में सड़े हुए भीर सभासदों का अपने वक्तव्य द्वारा उन्होंने समाधान किया और इस प्रकार उनके प्रस्ताव सभा ने स्वीकार किया।

सुधर्म नाम की यादवों की सभा में सुभद्राहर्ष पर घोर वाद-विवाद हुआ था। सभासदों ने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार विचार

*—उद्योग पर्व अध्याय १।

†—साम्बाकितोर्ध्वोर्ध्वकरोभवेत् ॥

रथो० १३ अ० ९, उद्योग प०।

‡—एवं वृक्षस्येव मयुष्यधीरे तिमि प्रधीरः सहस्रोत्पलः।

सत्यपि वाक्यपरिमित्त तस्य समाह्वे वाक्यतिर्द समग्युः ॥

रथो० १४ अ० २, उद्योग प०।

+—तत्त्वार्थं भवेद्गृह्या पूर्वमेव प्रचोदते ॥

रथो० १० अ० ४, उद्योग प०।

प्रकट किए थे । समस्त समासद हस्त निर्णय पर पहुँच रहे थे कि अर्जुन को बन्दी बना लेना चाहिए परन्तु वन्देय ने कड़ु होकर अर्जुन द्वारा किये हुए अनुचित कार्य की ओर निन्दा करते हुए यह सुझाव रक्खा कि इस विषय पर श्रीकृष्ण के विचार जान लेने चाहिए । इस सुझाव की भोज, शृण्वि और अन्वयक जाति के प्रभासदों ने स्वीकार किया । शृण्वि सब होकर अर्जुन के कार्य की सराहना करने लगे और उन्होंने यह सतलाया कि अर्जुन ने उनका अपमान कदापि नहीं किया बल्कि उनसे सुभद्रा का विवाह हो जाने से उन सबका बौरस बढ़ गया है । उन्होंने यह प्रस्ताव किया ■ अर्जुन की मादरपूर्वक युवाकर उनसे सुभद्रा ■ विवाह कर दिया जाय ।* यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ और इसी के अनुसार काम किया गया ।

नागों की सारा कद्रु के द्वारा समस्त नाग जाति के नाग के हेतु राग दिए जाने का समाचार सुन कर नागराज वासुकि के अभाषितत्व में नागों की एक बड़ी सभा हुई । वासुकि ने यह कह कर वाद-विवाद प्रारंभ किया कि हम सबको जममेजय द्वारा किए जानेवाले नागघ्न के रोकने का उपाय सोचना चाहिए ।† समस्त नाग इस सभा में उपस्थित थे, परन्तु जिन नागों ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करना उचित समझा उन्होंने एक-एक करके अपने-अपने विचार सभा में प्रकट किए । अन्त में एसापत्र नाभ के माग ने अपने विचार सभा के समक्ष प्रकट किए । समस्त नागों ने एसापत्र द्वारा प्रस्तुत किए हुए सुझाव को सर्वसम्मति से स्वीकार कर दिया । उन्होंने साधु-साधु चन्द्रवर्णि करके अपनी सम्मति प्रकट की ।‡

राधायण भी इस प्रणामी की पुष्टि करती है—राजा दशरथ ने अपोष्या की सभा में अपने पुत्र राम को युवराज पद देने के प्रस्ताव को

*—उक्तु त्वा वासुदेवस्य तथा चक्र उर्जाक्षिप ।

इको० १२ अ० २२३, आदि प० ।

†—समस्तसंभवमोक्ष मुञ्जनाममासिदम् ।

यथा भवेद्भि सर्वेषां माना काकोज्यगद्भवम् ॥

इको० ७ अ० १७, आदि प० ।

‡—सर्वे महामनसः स्राष्टु सान्निदाय्याम्भुधम् ॥

इको० १ अ० १६, आदि प० ।

अस्तुत किया और सभासदों से उनके इस प्रस्ताव से सम्बन्धित विचारों को प्रकट करने के लिए प्रार्थनित किया। राजा ने इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया कि मेरे विचार एक पक्ष के हैं परन्तु मध्यस्थ का विचार भिन्न होता है वह उत्तर-प्रत्युत्तर से मिला होने के कारण अधिक उपज्ज्वल होता है।* मैंने जो यह विचार आप लोगों के सम्मुख रक्खा है वह यदि विचारपूर्ण हो और उससे आप लोगों का भी साथ हो तो आप लोग इस विचार को स्वीकार करें। राम को क्षयोष्मा राज्य का मुखरत्न बनाने के प्रस्ताव को स्वीकृति सभा के सदस्यों द्वारा हुई थी।

राजा दयारथ की मृत्यु के उपरान्त सभा के संभासद समाभ्यक्ष में एकत्र हुए, और अपनी-अपनी योग्यतानुसार प्रत्येक समासद ने एक-एक करके उस विषय पर अपने विचार प्रकट किए थे।† राजगुरु वसिष्ठ के मौखपूर्ण वक्तव्य ने सभासदों को एक निश्चय पर पहुँचा दिया और वह विशुद्ध सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ :

इस विषय पर लंका राज्य की सभा में अधिक प्रकाश डाला गया है। राम लंका पर आक्रमण करनेवाले थे, ऐसा समाचार भुव रावण ने भयभीत होकर अपनी सभा की बैठक की। रावण सभा में जिस प्रस्ताव को रखना चाहता था उसे सभा के समक्ष प्रस्तुत करने के पूर्व अपने कार्य की न्यायसंगत सिद्धि का न के लिए सभासदों के समक्ष अपना स्पष्टीकरण किया था। सम्भव है, रावण को यह भय था कि शायद उसके समासद उसके इस शैथिल्यपूर्ण कार्य की निन्दा करते हुए उसका विरोध करेंगे। इसीलिए उसने उस दिन के कार्य प्रारम्भ होते ही अपनी स्थिति का पूर्ण परिचय सभासदों ■ देना उचित समझा था। यह कहता है—मैंने बहुत पहले, इस बात की सोचा था कि मैं इस कार्य की सूचना आप सभासदों को दे सकूँ कि राम के मुँह पर कुद होने का क्या कारण है, परन्तु मैं सभा को बुला न सका, क्योंकि और कुम्भकर्ण उस समय, गाढ़निद्रा में गड़ा हुआ था, वह गत छः मास से

*—वितर्कान्वयिकोदया ६।

स्क० १६ सर्ग २, अयो० का० १।

†—एते क्रिआः सहास्येः प्रसंगाच्चमुदीरयन् ॥

स्क० ४ सर्ग ६०, अयो० का० १।

निद्रामग्न था ।* इतना कहने के उपरान्त वह क्षमा ॥ प्रत्येक सदस्य से सहायता और विश्वास प्रकट करने की प्रार्थना करता हुआ कहता है—
महानुभावो धर्म, धर्म और काम विषय सम्बन्धी कठिनाई उपस्थित होने पर प्रिय-अप्रिय, साम-असाम, सुख-दुःख, हित-अनहित का निर्णय आप लोग करते हैं । परामर्श के द्वारा कर्तव्य निर्णय करके आप लोगों ने मेरे जितने कार्य प्रारम्भ किए हैं वह कभी विफल नहीं हुए हैं । जिसको जो ठीक भावूक पड़े वह कैसा कहे ।†

रावण का ऐसा वचन सुनकर कुम्भकर्ण प्रावेश में आकर इस प्रकार बोला—तक्षमण रक्षित राम की प्रीति को आप जब मही साए थे, उसी समय इस बात का विचार भी करना था । महाराज आपने जो कुछ यह किया है सब धर्मवार्तिक (सर्व एतन् महाराज कृतम प्रतिमम) है ।‡ यह कार्य करने के पूर्व ही आपको हम लोगों से परामर्श करना उचित था । जो राजा स्वामपूर्वक राज्य-कार्य करता है उसे भक्त में पक्कासाप मही करना पड़ता । जो राजा इस सिद्धान्त के विपरीत व्यवहार करता है वह अवश्य नष्ट हो जाता है । जो पहले किए जानेवाले कार्य का पीछे करना चाहता है और पीछे किए जानेवाले कार्य को पहले करता है ऐसे व्यक्ति की नीति-धनीयता का कुछ भी ज्ञान नहीं

*—महं तु बाहु सर्वाङ्गः समर्थविशुद्धयता ।

कुम्भ कर्णस्य तु स्वप्राज्ञे मतस्योद्ययम् ॥

श्लो० १० सर्ग ११, बुद्ध का० ।

अर्थ हि सुतः कथमासाङ्कुम्भकर्णो महत्त्वकः ॥

श्लो० ११ सर्ग १२ बुद्ध का० ।

†—मृत बल्य मथा मति ॥

श्लो० २२ सर्ग १२, बुद्ध का० ।

अदेवा च पया सोता पम्भी दशरथात्मजौ ।

भवतिर्जन्मार्था मंत्रः सुनीलं पामिधोपता ॥

श्लो० २२ सर्ग १२, बुद्ध का० ।

‡—सर्वमेतन्महाराज कृतममतिमं तव ।

अर्थादेव सहास्रमतिभिरावापेयस्य कर्मणः ॥

श्लो० २३ सर्ग १२, बुद्ध का० ।

सीता :* भावने बिना परित्याग समझे यह बहुत बड़ा कार्य श्रावण कर दिया है। यह हर्ष का विषय है कि विषमिधित शत्रु के समान राम ने तुमको मर्त्य नहीं कर दिया। यतएव तुमने श्रवण शत्रु से अनुचित कार्य श्रावण किया है। परन्तु मैं तुम्हारे शत्रुओं को मार कर मार्य कर पूंगा। निशाचर ! तुम्हारे शत्रुओं को मैं मारूँगा चाहे वह इन्द्र हो, सूर्य या धनि हो, पवन महाबाहु केर वा मरुत् में उससे युद्ध करूँगा।

कुम्भकर्ण के बैठ जाने के उपरान्त महाबली महापार्श्व रावण के कार्य को सहायता करता हुआ रावण की सम्मति देता है कि वह शत्रु का घर भुक्तकर सीता के साथ रमण करे। जिस प्रकार मूर्ख कुल से मूर्ख घर भ्रामकण करता है और उसे वस्त्र में कर सेता है उसी प्रकार वह सीता पर वस्त्रपूर्वक भ्रामकण करे। अन्त में वह कहता है भीति-निपुण के द्वारा किए राम, दाम, मेव को छोड़ कर केवल दण्ड के द्वारा ही कार्य सिद्ध करने की बात मुझे रुचिकर है।†

रावण, कुम्भकर्ण और महापार्श्व के वीरतापूर्वक वक्तव्यों को सुन कर विमोघण रावण के प्रस्ताव की ओर विवेचना के निमित्त खड़ा हो जाता है।‡ वह सीता को रावण के लिए कौनसा शौच समझता है और इस बात का अनुरोध करता है कि सीता को आश्रयपूर्वक राम के समीप भेज देना चाहिए वह रावण को सूचित करता है कि उसकी सेना के वीर-वीर योद्धा भी राम के समक्ष टिक नहीं सकते। इसलिए उसके लिए एक ही मार्ग सुझा है और वह यह है कि सीता को उनके पति के पास सम्मानपूर्वक भेज दिया जाए (प्रदीपशाम वासरावण वैधिसी)

*—अपारेण राक्षकार्पाणि यः करोति दशरजम् ।

न स सम्पद्यते पदवाग्विशिष्टपर्यभतिर्दुःखः ॥

श्लो० ३० सर्ग १२, बुद्ध का० ।

यः परचातुर्बर्कावांश्चि कर्मावयमिच्छीर्यति ।

पूर्वे चापरकर्पाणि स य वेद नयानमी ॥

श्लो० ३२ सर्ग १२, बुद्ध का० ।

†—दुर्वेगसिद्धिमर्थेषु रोचये ॥

श्लो० ७ सर्ग १३, बुद्ध का० ।

‡—विभीषणोराकलशत्रुमुक्ताश्रय वाक्यं विप्रमर्थयते ।

श्लो० १ सर्ग १४, बुद्ध का० ।

विभीषण ॥ वचन सुनकर सेनापति प्रहस्त बोला—हम लोग किसी से करते नहीं । देवताओं, राज्यों और न अन्य किसी का हमें भय है । यक्ष गन्धर्व, भदक रस्य और बह्व से भी हमें भय नहीं है । फिर राज-पुत्र राम से युद्ध करने में मुझे किस बात का भय है ? *

प्रहस्त के वचन सुनकर विभीषण पुनः लड़े होकर अर्धयुक्त वचन बोले । इस अवसर पर विभीषण ने जो वक्तव्य सभा में दिया था वही मर्म-भेदी एवं पर्ययुक्त है । उसने सम्राटों से अनुरोध किया कि वह अपने राज्या की सर्वनाश से बचाएँ । उसने यह सम्मति दी कि समस्त सदस्य एक-मत होकर कभी भूतों ॥ प्रहोत पुष्प के समान कल्पपूर्वक राजा को रोके और तनु द्वारा उनके केश गहण न होने दें । यह राजा लक्ष्मण के उसन भरिज कपी सागरमें डूबने जा रहा है और उसके पश्चात् बड़वानस कपी रामचन्द्र के पराक्रम में जलने जा रहा है । आप सब लोग एक होकर (समेत्य) इसे रोकिए । इसी समय रोकने से काम बन सकता है । ऐसा करने से ही राजा, नगर, मित्रों और हम सबका कल्याण हो सकता है । +

इसके उपरान्त विभीषण और रावण के पुत्र इन्द्रजीत के मध्य उग्र विवाद प्रारम्भ हो गया । विभीषण ने इन्द्रजीत को राजनीति के ज्ञान से बावक समझाते कहा कि वह व्यक्ति दण्ड का भागी है जो ऐसी अपरिपक्व बुद्धिवासे व्यक्ति को इस सभा में बुलाकर लाया है । ऐसे

*—विशम्य दानव्यं तु विभीषणस्य ततः प्रहस्ती वचनं वभावे ॥

श्लो० ७ सर्ग १४, युद्ध का० १

कथं तु रामाज्ञविपरा मर्मं नो नरेन्द्रपुत्रात्समने कवारिम् ॥

श्लो० ८ सर्ग १४, युद्ध का० १

†—यावद्वि केययुहवात्सुहृन्निःसमेत्य सर्वैः परिपूर्व कायेः ।

निगुह्य राजा परिचितम्नो मूलैर्यथा भसीषज्ञैर्दृष्टीतः ॥

श्लो० १६ सर्ग १४, युद्ध का० १

‡—बुधस्त्वयं तारविजुं समेत्य काकुत्स्थ पाताजसुखे पवभतः ।

श्लो० २० सर्ग १४, युद्ध का० १

+—इदं पुरस्तात्प सरावतस्व शठद्वेष पथं सुहृज्जनस्य च

श्लो० २१ सर्ग १४, युद्ध का० १

अपरिपक्व बुद्धिवाले व्यक्ति के परामर्श पर आस्था नहीं की जा सकती ।*

रावण के भक्तितम वक्त्ररूप में बाद-विवाह को समाप्त कर दिया । रावण ने विभीषण के आचरण पर अविश्वास करते हुए कहा कि विभीषण स्वार्थी है । वह मेरी उन्नति नहीं देख सकता । वह राक्षस जाति का पाशु है और स्वयं संका का राजा होने का हकदार है ।

रावण द्वारा कहे गए इन कठोर वचनों ने विभीषण के हृदय को बेधित कर दिया । न्याययुक्त वचन बोलनेवाले विभीषण ने ऐसे कठोर वचन सुनकर अपने दिल के चार राक्षसों के साथ संभावना को छोड़कर आकाशमार्ग की ओर से प्रस्थान कर दिया ।† वसंते समय उसने चोपण कर रावण को संकेत कर दिया कि उसका सर्वनाश होनेवाला है । उसने घन्ट में यह भी कहा कि आपको बड़ा समझकर हितकामना से जो मैंने आपसे कहा है उसके लिए आप मुझे क्षमा करें । अब आप राक्षसों के साथ इस नगरी की तथा अपनी रक्षा करें । आपका कल्याण हो में आ रहा है । निशाचर हितैषी, मेने आपको रोका परन्तु मेरी बात आपको रुचिकर प्रतीत नहीं हुई, क्योंकि गतायु मनुष्य मृत्यु के समय मिर्चों का कहना नहीं मानते । ऐसा वचन कहकर विभीषण संभावना छोड़ कर चला गया ।‡

विभीषण का संभावना छोड़ने से सम्बन्धित यह कार्य प्रजा-तन्त्रवाद के मूल तत्वों के अनुकूल है । आधुनिक युग में भी इस प्रणाली का प्रचलन प्रजातन्त्रवादी राज्यों की धारासमाधियों में देखा जाता है ।

सभा में सभासदों को अपने विचार प्रकाशन की पूर्ण स्वतंत्रता थी

*—म शाव मंत्रे तव निरक्षयोरिति वरक्षस्वमद्याप्यनिरक्षयबुद्धिः ॥

श्लो० १ सर्ग १५, बुद्ध का० ।

†—उत्थपत्य गद्यापरिचित्यपुमिः सहस्रवसेः ॥

श्लो० १७ सर्ग १६, बुद्ध का० ।

‡—स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सुखी मय मया दित्वा ॥

श्लो० २५ सर्ग १६, बुद्ध का० ।

निवार्यमास्तस्य मया द्विषेयिष्या न रोषते ते वचनं निवार ।

परामर्शकाके हि गतायुषो मरा हिंस न शुद्ध्यन्ति सुहृत्प्रीतिरिति ॥

श्लो० २६ सर्ग १६, बुद्ध का० ।

इस सिद्धान्त की पुष्टि में वासुकीकीर्ण रामायण में एक अन्य स्थल पर एक पुष्ट प्रमाण प्राप्त है। यद्यपि इस स्थल पर समा का वैधानिक स्वरूप नहीं है परन्तु जिस प्रणाली का अनुसरण किया गया है वह इस प्रसंग पर इसी सिद्धान्त के प्रचलन की बोधक है। वह भटना इस प्रकार है—

विभीषण ने संका राग की समा छोड़ कर चार राक्षसों के दल के साथ राम के विचित्र के समीप पहुँचकर राम की शरण में रहने की प्रार्थना की। यह समाचार सुग्रीव के द्वारा राम तक पहुँचाया गया। सुग्रीव के वचन सुनकर समस्त जानरों को एकत्र करने का आदेश दिया गया। जानर-समूह के समक्ष विभीषण को शरण देने से सम्बन्धित समस्या उनके विचारार्थ रखते हुए राम ने कहा—मित्रों का कल्याण चाहनेवाले बुद्धिमान और मंत्रणा देने में समर्थ पुरुषों को चाहिए कि वह कर्तव्याकर्षण में संवेह उत्पन्न हो जाने पर उपदेश दें।* रामचन्द्र के ऐसा कहने पर उत्तका कल्याण चाहनेवाले उत्साहित हो प्रपना-मपना मत एक-एक करके प्रकट करने लगे।†—सर्वप्रथम भगवत् बोले—विभीषण की परीक्षा होनी चाहिए।‡ यह शत्रु के यहाँ से आया है इस लिए इस पर संवेह होना स्वाभाविक है। इस पर तत्समा विश्वास नहीं किया जा सकता। फिर शरम नाम का शस्त्र खोल-विचार कर प्रत्यक्ष दृष्टि करके विभीषण के पीछे शीघ्र § कुछ दूत नियत कर देने चाहिए।॥ इसके उपरान्त आम्बमान स्वार्थरहित एवं गुणभूत वचन बोले—इसके वक्ते भाई पर संकट आया है। इसे उसके पास उसकी रक्षा

*—सुखदामर्भकम्बे, ३ युक्त बुद्धिमता सदा।

समर्थनोपसंवेष्टु शरणार्थी भूमिनिपुणतः ॥

श्लो० ३३ सर्ग १५, युक्त का०।

†—हृत्वेवं परिहृतास्ते सर्वे स्वं भवमतीन्द्रताः ॥

श्लो० ३४ सर्ग १५, युक्त का०।

‡—हृत्पुके शपथानाम मतिमन्त्रयोऽभयः।

विभीषण परीक्षार्थमुवाच दक्षतः हरिः ॥

श्लो० ३८ सर्ग १५, युक्त का०।

§—विप्रमतिमन्त्रयोरत्र चारः मति विभावयश्च ॥

श्लो० ४३ सर्ग १५, युक्त का०।

के लिए रहना चाहिए, परन्तु यह यहाँ भासा है इसलिए इसपर सहि हो करता ही चाहिए ।* इसके बाद नीति और धनीति का जाननेवाला एवं उत्तम वक्ता मयन्द सोधकर उत्तम युक्तिपूर्ण वचन बोला—यह विभीषण रावण का छोटा भाई है अतएव भीठे वचनों द्वारा इससे रावण से सम्बन्धित प्रवण कर रावण का भेद जेना चाहिए ।† फिर हनुमान वंशित, भीमल एवं धर्मयुक्त वचन बोले—रावण की दुष्टता तथा राम का धराक्रम देख कर अपनी बुद्धि से विचारकर वह भयभीत शराव में आया है । यह उसी की बुद्धि के अनुकूल है । मन में कपट रक्तेवाला व्यक्ति निःशंक और प्रफुल्ल मुक्त होकर पास नहीं आ सकता । भाषके दमोदर को देखकर और रावण के दुर्भयहार को समझ कर, वाल्मीकि का मारा जाना और सुपीव का राजपद प्राप्ति का समाचार सुनकर, राज्य पाने की कामना से समझ-बूझ कर ही वह भाषके समीप आया है । इन बातों से तो उसे भ्रान्त्य देना ही उचित जान पड़ता है ।‡ इसके उपरान्त राम ने अपने विचार प्रकट किए ।+ राम ने हनुमान के विचारों की शराहना की और अन्त में समस्त वानर समूह ने उन विचारों को स्वीकार किया । तत्पश्चात् विभीषण को शरण दी गई । इस प्रकार लम्बे बाद-विवाद के उपरान्त वह वानर-समूह अन्तिम निर्णय पर पहुँचा और वह निर्णय कार्य में परिणत किया गया ।

उपरोक्त घटनाएँ जो रामायण और महाभारत ग्रंथों में विभिन्न

*—मदेराकावे सग्रासः सर्वथा संवक्ष्यामयम् ॥

श्लो० ५१ सर्ग १०, युद्ध का० ।

†—तुल्यं यत्ता मधुरेक्षानं तन्मैर्वरपतीश्वरः ॥

श्लो० ४८ सर्ग १०, युद्ध का० ।

‡—उद्योगं तव सम्यक्च सिध्यताम् च शक्यम् ॥

वाकिनं च इतं क्षुत्वा सुग्रीवं चाभिषेचिषिष्व ॥

श्लो० ६६ सर्ग १०, युद्ध का० ।

राम्यं प्रार्थयमानस्तु बुद्धिपूर्वमिहा गतः ।

एतावत्तु पुरस्कृत्य विद्यते तस्य संशयः ॥

श्लो० ६७ सर्ग १०, युद्ध का० ।

+—अमापि च विवक्षितं काञ्चिन्नति विभीषणम् ।

श्लो० २ सर्ग १८, युद्ध का० ।

समसों पर पाई जाती हैं इस सिद्धान्त की स्थिर करती हैं कि समा में समासमों को अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी और समासमों की सर्व सम्मति राजा की प्रबल-से-प्रबल इच्छा को रोक सकती थी ।

सभा के कार्यः—वैदिक काल में सभा और समिति मड़े महत्व की संस्थाएँ थीं । वैदिक राजा इन संस्थाओं के बिना कोई भी महत्वपूर्ण कार्य करने में असमर्थ था । ब्राह्मण ग्रंथों में उन्हें ब्रह्मा की दो समान कन्याएँ बताया है । इस प्रकार यह दोनों संस्थाएँ उस युग में महत्वपूर्ण कार्य करती जाती जाती हैं जब कि वेदों का प्राधुर्भाव हुआ था और वैदिक धर्म्यता का उदय प्रारम्भ हुआ था परन्तु रामायण और महाभारत काल में समिति अपने मौलिक राजनीतिक स्वरूप से दूर हो गई । सभा में भी उसके संघटन एवं कार्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गए । वैदिक युग में समा बड़े लोगों (Elders) की संस्था थी । तब यह समा ग्राम के बड़े लोग (Elders) एकत्र होकर देश या जाति की समस्याओं पर निर्णय देते थे परन्तु रामायण और महाभारत-काल में समा ने जनता की संस्था का रूप धारण कर लिया था ।

रामायण तथा महाभारतकालीन समा और प्राधुनिक युग की धारासभाओं में पर्याप्त मात्रा में भिन्नता है । कार्यों की दृष्टि से तो वे निराला भिन्न हैं । प्राधुनिक धारासभाओं का मुख्य कर्तव्य राजा के कल्याण के हेतु विधियों का निर्माण करना है । प्राचीन भारत में विधियों के निर्माण करने का अधिकार समा को प्राप्त नहीं था, क्योंकि उस काल में विधियों का उद्गमस्थान ऋषियों के महिम्न भवन परम्परागत प्रचलित प्रथाएँ एवं पद्धतियाँ थीं । विधि-निर्माण का कुछ घंटा विभिन्न स्थानीय संस्थाओं द्वारा होता था । इस दृष्टि से रामायण एवं महाभारत-कालीन समा प्राधुनिक धारासभाओं से भिन्न थी ।

प्रजातंत्र राज्यों की प्राधुनिक धारासभाओं का दूसरा मुख्य कर्तव्य राष्ट्रीय कोष पर नियंत्रण रखना है । इन सभाओं की स्वीकृति प्राप्त किए बिना किसी प्रकार की भी वार्षिक योजना न तो बनाई जा सकती है और न कार्यक्रम में परिणत ही की जा सकती है—इस समा की स्वीकृति के बिना राज्य की प्रजा पर किसी प्रकार का नया कर लागू नहीं किया जा सकता । इसलिए राज्य के आर्थिक-व्यवसाय का लेखा तैयार

करना, उस पर वाद-विवाद करना और उसे स्वीकार करना इन सभार्यों का दूसरा मुख्य कर्तव्य है ।

अब ऐसे उदाहरण मिले हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि रामायण एवं महाभारत-काल में आय-व्यय का लेखा रखने की प्रथा प्रचलित थी । इस सिद्धान्त को पुष्टि एक कथा ॥ द्वारा होती है जिसका विवरण महाभारत के अन्तर्गत दिया हुआ है । वह इस प्रकार है:—

सोपामुद्रा नाम की एक राजकन्या थी । उसका विवाह ऋषि भगस्त के साथ हुआ था । ऋषि-आश्रम में पहुँच कर उसने पित्रियों की धम्मा कर सोना सचिकर व समझा । वह राजकुमारियों के समान अपना जीवन व्यतीत करना चाहती थी । इसलिए भगस्त ऋषि को उसे सन्तुष्ट करने के लिए मन की आवश्यकता पड़ी । भगस्त ऋषि घन की याचना करने के लिए भुतनी नाम ॥ एक भ्रातृ राजा के समीप गए* और उनसे भ्रातृक सहयोग के लिए प्रार्थना की । राजा ने भगस्त ऋषि को आश्रम-व्यय समान है ऐसा विद्या दिया ।† अतः बिना मन्त्रे कर लगाए हुए उसने ऋषि को आश्रम सहयोग देने में अपनी सक्षमता प्रकट की । परन्तु नया कर लगाया जाय इस बात को ऋषि ने स्वाध्याय व नमस्क । इसलिए वह दोनों कश्यप नाम के दूसरे राजा के पास गए और उससे घन की याचना की । वहीं भी ऋषि को वही उत्तर मिला । राजा ने आय-व्यय समान है ऐसा ऋषि को विद्या दिया ।‡ इस प्रकार उससे भी ऋषि की आश्रम सहयोगता न हो सकी । इसके उपरान्त वह तीनों विद्वान् नाम के राजा के पास गए और उससे अपनी आवश्यकता

* — ततो जगाम कौरव सोऽगस्त्योभिनिर्गुं वसु ।

कुतर्थां महिषां वं केदम्बिकं नृपे: ॥

श्लो० १ अ० ३८, वन पर्व ।

† — तत्र आचम्य पी पूषीं तस्मै राजा न्यवेदयत् ॥

श्लो० ५ अ० ६८, वन पर्व ।

‡ — तत्र आय व्ययीं दृष्ट्वा सती सभसतिर्द्विजः ॥

श्लो० ११ अ० ३८, वन पर्व ।

प्रकट की। उसने भी शाय-व्यय समान ही ऐसा दिखा कर अपनी निवृत्तता प्रकट की।*

महाभारत में वर्णित इस कथा के पढ़ने के उपरान्त पाठक इस परिणाम पर पहुँचता है कि महाभारत-काल में शाय-व्यय के लेखा की पद्धति प्रचलित थी और इसका पाक्षक कठोरतापूर्वक होता था।

अब यह प्रश्न होता है कि इस शाय-व्यय सजा की कौन तैयार करता था ? रामायण इस बात को बतलाती है कि उस युग में शर्प-सन्निध होता था।† परन्तु रामायण और महाभारत ग्रन्थों में इस बात का कहीं भी उल्लेख नहीं है कि शाय-व्यय के लेखा को शर्पसन्निध अपना शर्पपन्थी तैयार करता था। यह सम्भव है कि जब शर्पसन्निध कुछ काल में था तो इस लेखा की तैयार करना अन्य किसी का काम नहीं हो सकता।

यह लेखा प्राचीन निर्धारित परम्परागत नियमों के अनुसार बनाया जाता था। प्रजा पशु कर लगाने, उन्हें एकत्र करने और करों द्वारा एकत्र किए गए धन को व्यय करने आदि के मौखिक सिद्धान्त नियत थे। यह नियम न तो सभा ही द्वारा और न मन्त्रिपरिषद् के द्वारा बनाए जा सकते थे। यह नियम मनु, शुक, व्यास, भरद्वाज, कौटिल्य जैसे ऋषि-मुनियों द्वारा निर्धारित किए जाते थे।

महाभारत में इन विषयों का उल्लेख है। महाभारत में कर-सम्बन्धी निर्धारित नीति का वर्णन है। इसके अनुसार कर प्रकार अग्राह्य और एकत्र किए जाने चाहिए जैसे गाय का दोहन-कार्य किया जाता है। उसे दुहने के पूर्व सूँघ खिसाना चाहिए। उसे इस प्रकार दुहना चाहिए कि वह लेखमान भी क्लेश का अनुभव न करने पाए।‡ जिस प्रकार मधुमक्खी फूलों पर घूँटकर मधु एकत्र करती है

*—तत आस व्ययी पोर्षी तेषां राजा म्यवेदपत् ॥

इको० १६ अ० ६८, बग प०।

†—अक्षरचक्रं प्रभाकरचक्रं संक्षिप्तारवर्धमानम् ॥

इको० ४३ सर्ग ११, किष्किन्धा का०।

‡—यो हि दोग्धो मुपास्ते न स नित्यं विन्दते पयः।

एवं राष्ट्रं मुपायेन मुप्यागो जयते पयम् ॥

इको० १० अ० ३१, शा० प०।

धरन्तु कुलों को इस बात का संस्मरण भी पता नहीं चलता कि उनसे शत्रु लिया गया है । राजा को प्रथा से कर एकत्र करने में इसी नीति का पालन करना चाहिए । इतना ही नहीं धरन् महाभारत में विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं एवं भूमि, उपज आदि, पर कर लगाने की वर भी की गई है ।^१ इसलिये राज्य में कर नियत करना उनका सागू करना एवं उन्हें प्राप्त करना प्रायः कार्य परम्परागत निर्धारित नियमों के आधार पर थे जो आज भी अधि-भूमियों द्वारा निर्धारित किए गए ग्रन्थों में उपलब्ध हैं । मन्त्रिपरिषद् एवं समा को इस बात का धर्मतः कोई भी अधिकार न था कि वह इन नीतिक सिद्धान्तों में सेनामान भी परिवर्तन कर सकती ।

इसलिये राज्य के आय-व्यय-सेवा पर मन्त्रिपरिषद् का अधिकार सीमित था । पूर्वनिर्धारित नियमों के अनुसार कर लगाना, उनके अनुसार धन एकत्र करना और इस प्रकार एकत्र किए गए धन को व्यय करना मन्त्रिपरिषद् का एक प्रमुख कार्य था । इसलिये जब तक मन्त्रिपरिषद् इन नियमों का उल्लंघन नहीं करती थी तथा आय-व्यय के लेखा सम्बन्धी कार्य में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझती थी । आय-व्यय के लेखा सम्बन्धी योजना में समा उस समय हस्तक्षेप करती थी जब उसे इस बात का विश्वास हो जाता था कि मन्त्रिपरिषद् परंपरागत नियमों का उल्लंघन कर रही है । रामायण और महाभारत में एक भी ऐसा उदाहरण प्राप्त नहीं हुआ है जो इस बात को सिद्ध करता हो कि [] सेवा प्रतिवर्ष लगाना जाता था, उस पर बाद-विवाद होता था और उसकी स्वीकृति होती थी जैसा कि प्राधुनिक धरा-

†—वापसित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं गोप्या चय विधिः ।

तथैतं कल्पये द्वा राजा योगदेव-सतगिरिः ॥

स्क० १९ अ० ७३, ला० ५० ।

आयदीय बर्हिर्वापि प्रजाभ्यः कुम्भनम्बुन ।

स धद्मागमपि प्राकृतासाधेवाभिगुप्तये ॥

स्क० २२ अ० १३, ला० ५० ।

यथा धर्मं गतेभ्यो यज्ञसु यज्ञसमेध न ।

तदा ऽऽदृष्टी सहसा पौराणां वदन्नाय के ॥

स्क० २६ अ० १३, ला० ५० ।

समाधों में प्रयत्नित है। परन्तु यह कहना उचित ही होगा कि समाज राष्ट्रीय कोष पर अपना अधिकार रखती थी और यह अपने इस अधिकार को उस समय बर्तती थी जब उसे यह विश्वास हो जाता था कि जनता पर अनिवारित रूप से कर लगाए जा रहे हैं जसवा राष्ट्रीय कोष अनुचित कार्यों पर व्यय होने का रहा है।

अविश्वपूर्ण राज्यों में प्राच्यनिक युग में धराधराओं का तीसरा वर्तमान कार्यकारिणी समिति का निर्माण करना होता है। इन दोनों दलों में एक भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है जो इस बात की पुष्टि करता हो। इस प्रथा का अनुसरण रामायण तथा महाभारत-कालीन काल में भी होता था। मन्त्रिपरिषद् के मन्त्रियों की नियुक्ति कुछ प्रतिबंधों के साथ राजा के द्वारा होती थी परन्तु यह प्रतिबंध सभा के बनाए हुए नहीं थे। यह सम्भव है कि सभा मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों पर अपना प्रभाव रखती हो और इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् पर सभा का किसी घण्ट तक अधिकार होता हो परन्तु यह बात निश्चित है कि मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करना सभा का धर्मतः अधिकार न था। दूसरी ओर यह बात भी है कि मन्त्रिपरिषद् के सदस्य सभा के अतिरिक्त सदस्य (ex-officio) होते थे और इस बात से यह सभा पर गहरा प्रभाव डालते थे। सभा के समस्त कार्यों में यह प्रमुख भाग लेते हुए वर्णित हैं। सभा में वाद-विवाद का मुख्य श्रेय उन्हीं पर अवलम्बित है।

राजा दशरथ की सभा में मन्त्रि-परिषद् सभा उपस्थित दिख-
माए गए हैं। राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त भागी राजा के वरण
करने सत्त्वन्व में जो प्रस्ताव सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया था
उस पर जो वाद-विवाद हुआ है उसमें मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के वाद-
विवाद का जो भाग है वह प्रमुख है। लंका राज्य की सभा में भी ऐसा
ही वर्णन मिलता है। किशोर्षण, प्रहस्त, महापावर्क क्षुम्भकर्ण आदि
प्रमुख वक्तागण राजा की मन्त्रिपरिषद् के सदस्य थे। महाभारत में
भी यही बात पाई जाती है। इस ग्रंथ में वर्णित विभिन्न राजाओं की
समाधों में अपने-अपने राज्य की मन्त्रिपरिषद् के सदस्य सभा की बैठक
में सम्मिलित होकर उनके कार्यों में महत्वपूर्ण भाग लेते हुए
वर्णित हैं।

राज्य की शासन सम्बन्धी समस्याओं पर वाद-विवाद करना और राज्य की नीति को निर्धारित करना प्राधुनिक धारासभाओं का चौथा प्रमुख कर्तव्य है। इन सभाओं के सदस्यगण इन विषयों में योग्यता-पूर्णता प्राप्त करते हैं। रामायण तथा महाभारत-कालीन सभा में भी ऐसा ही पाया जाता है। इस सभा के सदस्य भी इस ओर विशेष ध्यान रखते थे और इन विषयों से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर विशेष वाद-विवाद करते हुए विद्वत्ताएं गए हैं। सभा के सभासदों की इस ओर जो ध्यान दिखाई गई है, उसके अवलोकन करने से पता चलता है कि उस युग की सभा का यही मुख्य कर्तव्य था। शासन सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद करना और प्रस्तुत राज्य की नीति की समालोचना करना इस सभा का मुख्य कर्तव्य था। रामायण एवं महाभारत में वर्णित प्रत्येक सभा में सभासदों के मध्य इसी विषय पर वाद-विवाद होते हुए वर्णित है। इस दृष्टि से प्राधुनिक धारासभाओं और रामायण एवं महाभारत-कालीन सभाओं में पूर्ण समानता मिलती है।

रामायण और महाभारत-कालीन सभा राज्य की सर्वोच्च न्याय-सभा भी थी। स्वयं सम्बन्धी महत्वपूर्ण अभियोग सभा के सभ्य प्रतिनिधियों के हेतु प्रस्तुत किए जाते थे। इस अवसर पर सभा के समस्त सभासदगण सभा में नहीं बुलाए जाते थे केवल वह सभासद सभा में बैठते थे जो न्याय-सम्बन्धी कार्य में निपुण थे। इस दृष्टि से यह सभा ब्रिटिश पार्लियामेंट की प्रिवी काउंसिल के समान कार्य करती थी। जब सभा न्यायालय की स्थिति में बैठती थी तो सभा के प्रधान पद को राजा अथवा सभा का सर्वोच्च सदस्य जिसे महाभारत में धेष्ठ कहा गया है ग्रहण करता था।

इस प्रकार उल्लेखित वर्णन के आधार पर यह पता चलता है कि रामायण एवं महाभारत-कालीन सभा विधि (Law) निर्माण करने-वाली संस्था न थी। यह प्रस्तुत शासन-सम्बन्धी समस्याओं तथा राज्य की नीति-सम्बन्धी विषयों पर विशेष प्रभाव डालती थी और उन पर अपना अधिकार रखती थी। यह सभा सर्वोच्च न्यायालय के रूप में भी कार्य करती थी।

इसलिए प्राधुनिक धारासभाओं से रामायण एवं महाभारत-कालीन सभाओं की समानता करना एक बड़ी भूल होगी, क्योंकि दोनों में

कार्यों की दृष्टि से बड़ी असमानता है । परन्तु इस सभा की मंत्रिपरिषद् एवं राजा पर महान् प्रभाव पड़ता था जिसके कारण शासकवर्ग को मनमाने योजनाओं पर प्रतिबन्ध लगाकर उन्हें रोका जाता था । इस दृष्टि से यह सभा प्रजातन्त्रात्मक राज्य के विकास में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है । यदि राजा वा मंत्रिपरिषद् के द्वारा किए जाने-वाले किसी काम में भी परम्परागत नियमों के भंग होने की शेषमात्र भी प्राप्ति होती थी तो सभा तुरन्त इस बात का विरोध करती थी और उन्हें इसके लिए विवश कर देती थी कि वह अपनी जन निरंकुश योजनाओं को सदा के लिए त्यागित कर दें । इस दृष्टि से सभा राज्य के विधि-विधान की रक्षा के काम में सदैव कार्य करती थी और प्रजा की शसकवर्ग ■ स्वोपस्थापना से बचाती रहती थी ।

पंचम अध्याय

विधि की प्रधानता

राज्य और समाज:—अवीन भारत में राज्य और समाज की भिन्न संस्थाएँ थीं। उनमें से प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में अपने निर्धारित कर्तव्यों के पालन करने में स्वतंत्र थी। एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करती थी। प्राच्यनिक युग में कुछ परिबन्धी क्षेत्रों में ऐसा देखने में आता है कि राज्य और समाज दोनों घुस-मिश्र कर एक हो गए हैं। परन्तु रामायण और महाभारत-काल में समाज और राज्य दोनों एक ही नहीं हो गए थे। पश्चिम ■ इन दोनों में दोनों के बीच बड़ा किसी विशेष प्रकार का अन्तर नहीं रह गया है। समाज के जगमग सार मुख्य कर्तव्यों को बलपूर्वक इन देशों के राज्यों ने हृदय कर लिया है। इन राज्यों ने अपने अधिकारों की सीमा इतनी बढ़ा रखी है कि वह मात्र सामाजिक एवं शिष्टाचार सम्बन्धी जीवन के नियमों का भी स्वयं प्रावेश ■ सने हैं। इन राज्यों से कुछ ने अपने अधिकारों की सीमा यहाँ तक बढ़ा रखी है कि वह मनुष्य जीवन की प्रत्येक क्रिया पर अपना प्रभुत्व जमा बैठे हैं। वास्तव में ऐसे राज्यों में मनुष्य की सारी शक्तियों के स्वतंत्र विकास के भयसर नहीं के बराबर हो गए हैं।

रामायण एवं महाभारत में वर्णित राज्यों की ऐसी स्थिति न थी। इन राज्यों ने कभी भी इस प्रकार का साहस न किया था कि वह समाज के स्थिर संघटन में जोखमात्र भी परिवर्तन करते। क्योंकि यह कार्य राज्य के अधिकार से बाहर सम्भव जाता था। समाज ने अपने

हुंसे अधिकार राज्य को सौंप दिए गए थे कि राज्य समाज के हितों की देख-रेख करेगा और समाज ■ नियमों का जतना से पालन कराएगा और नियम भंग करनेवालों को समुचित दण्ड देगा । उस युग में राज्य का स्थान केवल एक धृति के सिपाही का था जो कि चौराहे पर बड़ा होकर इस बात को सचेष्ट होकर देखता रहता था कि उन भागों पर चमत्त-यामी जनता मार्ग पर चलने के नियमों का पालन करती है । उस काल में राज्य धन्य संस्थाओं में केवल इस दृष्टि से सर्वोच्च था कि यह परम्परागत समाज के नियमों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए जतना को वाधित करता था ।* इसके अतिरिक्त राज्य बहुत से नष्ट हुए धर्मों को पुनः प्रवर्तित करता था और ब्रह्मा द्वारा प्रचलित धर्म में लोगों को प्रवृत्त करता था ।† इसीलिए लोक में इस जायजने को सर्वश्रेष्ठ धर्म माना है । राज्य का मुख्य धर्म परम्परागत नियमों का प्रजा द्वारा पालन करना, नियम भंग करनेवालों को समुचित दण्ड देना और इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म के संघटन की सुचारु रूप से स्थिर रखना था । राज्य को समाज के इन नियमों को सफलतापूर्वक कार्य में परिणत करने ■ लिए प्रत्येक प्रकार की सुविधा देनी पड़ती थी जिससे कि वर्णाश्रम-धर्म के नियमों का प्रजा मंसी भक्ति पालन कर सफलतापूर्वक मोक्ष प्राप्त कर सकती ।

इस प्रकार रामायण और महाभारत-काल के राज्यों के कार्यक्षेत्र को समाज ने प्रत्यक्ष संकुचित और सीमाबद्ध कर दिया था । यदि समाज के प्रवर्तित नियमों में किसी प्रकार के परिवर्तन, परिवर्द्धन वा सम्मर्जन की आवश्यकता पड़ती थी तो यह किसी ऋषि-मुनि के द्वारा समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था और फिर समाज उसे स्वीकार करता था । इसलिए मनुष्य-जीवन का बहुत बड़ा भाग राज्य के अधिकार के बाहर था । मनुष्य के जीवन का बहुत बड़ा भाग राज्य के अधिकार

*—सर्वधर्मपरम् चार्त्त ओकशेर्षं सनातनम् ।

साधवद्धर पर्यस्तमद्धर सर्वतोमुखम् ॥

स्क० ३० अ० १४, श्ल० ५० ।

†—महा धर्मोः सतथा शश्वलास्तो कात्रेय धर्मोऽथ पुनः प्रह्लादः ।

दुगे पुने छात्रि धर्मोः प्रह्लाद ओकशेर्षं चार्त्त धर्मं वदन्ति ॥

स्क० २९ अ० १४, श्ल० ५० ।

के अन्तर्गत आता था । इसलिए राज्य के लिए मानव-जीवन के निमित्त यदि किसी प्रकार के नियमों के बनाने की सम्भावना हो सकती थी तो केवल यही संकुचित और सीमित जीवन का अंग उसके अन्तर्गत आ सकता था ।

वर्णश्रम धर्म का प्रभाव—हिन्दू समाज का संघटन वर्णश्रम धर्म के सिद्धान्त पर व्यवस्थित था । इस संघटन के अन्तर्गत में चार शास्त्र और चार वर्ण थे । हिन्दू समाज का यह संघटन राज्य की रीति न था । यह संघटन सार्वभौम था और परम्परागत चलता आ रहा था ।^{*} ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, हिन्दुओं की धारानुसार, ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न हुए थे । वेदों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन है । वेद इस बात को बतलाते हैं कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, श्रोत्रों से क्षत्रिय, गंगाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र वर्णों की उत्पत्ति हुई है ।[†] महाभारत-कार भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करता हुआ लिखता है कि चारों वर्ण ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न हुए ।[‡] महाभारत में इन वर्णों को संभवतः कहा है । महाभारत के भीष्म पर्व में कृष्ण भर्जुन को समझाते हुए इस बात को बतलाते हैं कि चारों वर्णों के कर्तव्य प्रकृति ने स्वयं नियत किये हैं ।[×] आगे चल कर कृष्ण ने यह भी कहा है ■ चारों वर्ण जन्हीं के द्वारा उत्पन्न किए गए हैं ।⁺ दूसरे शब्दों में विश्व ने इन

*—धर्मान्धर्माणि यावत्पान् ।

श्लो० ६ अ० ६०, तार० ४० ।

†—ब्राह्मणोऽथ मुक्तासीथ बाहू रामव्यः कृतः ।

उक्त तदर्थं तद्देवः पद्मवाक् शूद्रो भजायत ॥

अथ ११ अ० ३१, पशुपर्व ।

‡—एकदेशोजसः चर्माध्वरोऽपि चराकृते ।

श्लो० २० अ० ६१, आदि प० ।

×

वैश्य कर्म स्वभावसं शूद्रकर्म स्वभावसं
वैश्य कर्म स्वभावसं शूद्रकर्म स्वभावसं
श्लो० ४२-४३ अ० ४२, भीष्म प० ।

+

तस्य कर्तव्यमपि मा विद्व्य कर्तव्यं वयम् ॥

श्लो० १३ अ० ३८, भीष्म प० ।

बर्णों को उत्पन्न किया था क्योंकि कुछ विष्णु के अवतार माने जाते हैं। प्रत्येक वर्ण के आचरण-संबंधी नियमों के धर्म प्रसंग-मलग नियत थे और उन्हें अपनी-अपनी निर्धारित सीमा के अन्तर्गत ही कार्य करना पड़ता था। इसीलिए कृष्ण ने धर्मुन को उपदेश देते हुए स्पष्ट कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने वर्ण के अनुसार चलना और बर जाना दूसरे वर्ण के धर्म को अपनाने से कहीं हितकर होता है।* महाभारत के प्राथि पर्व में राजा युधिष्ठिर भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं—यद्यपि चारों वर्ण एक ही ईश्वर की देह से उत्पन्न हुए हैं तो भी उनके धर्म और आचार भिन्न हैं।† रामायण और महाभारत दोनों में प्रत्येक वर्ण ■ कर्तव्य अलग-अलग निर्धारित किए हैं। महाभारत ने चारों वर्णों के लिए नौ समान कर्तव्य बतलाए हैं। भीष्म के पाण्डों में क्रोधाभाव, सत्यवचन, वायभागदान, संन्या अपनी स्त्री में संन्यास, शौच, शत्रुह, सरसता, भुक्तों का भरण-पोषण ये नौ धर्म सारे वर्णों के समान धर्म माने गए हैं।‡ इनके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण के अपने-अपने विशेष धर्म बतलाए गए हैं। ब्राह्मण वर्ण के विशेष कर्तव्य भीष्म ने इस प्रकार बतलाए हैं। वे कहते हैं कि ब्राह्मणों का सर्वश्रेष्ठ धर्म मन और इन्द्रियों को वश में रखना (दम), वेद का स्वाध्याय उसका अर्हतिष्ठ अभ्यास करते रहना है। इतने

* —श्रेयाद् स्वधर्मे विगुहः परधर्मोऽस्वदुष्कृतात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।

श्लो० १५ अ० २०, भीष्म प० ।

† —एकदेवोऽज्ञा ययस्वित्तारोऽपि पराहमे ।

अयन्वर्माः प्रथक् शौचास्तेषाम्..... ।।

श्लो० २० अ० ८१, आदि प० ।

‡ —अक्रोधः सत्यवचनं सयविभागः वसा तथा ।

अशनः स्वेष्टु दारेषु शौचमश्रोहं दधे च ॥

श्लो० ७ अ० १०, शान्ति प० ।

आर्जुनं भूयःशर्षा नभैते सार्वभौमकाः ।

श्लो० ८ अ० १०, शान्ति प० ।

में ब्राह्मण के सारे कर्तव्य समाप्त हो जाते हैं।* इसी प्रकार भीष्म क्षत्रिय वर्ण के विशेष कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि क्षत्रिय वर्ण का एकमात्र कर्तव्य प्रजा का पालन करना है। यह मित्य उद्योग के साथ चौर-सूटेरों के माण में लगा रहे और जब रथ उपस्थित हो तो उसमें पराक्रम दिखाए।† वैश्य वर्ण के विधोपधर्मों की विवेचना करते हुए भीष्म महोदय कहते हैं वान, शब्दधन, यज्ञ, पवित्रता के साथ मन का संव्य करना, पिता के समान प्रपन्न सारे वसुधों का पालन करना वैश्य के सनातन धर्म हैं।‡ शूद्र वर्ण के धर्म के संबंध में उन्होंने बतलाया है कि प्रजापति ने शूद्र को सारे वर्णों का सेवक बनाया है। इससे शूद्र को सारे वर्णों की परिचर्या करनी चाहिए।‡ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा से ही शूद्र को अनन्त सुख की प्राप्ति हो सकती है। शूद्र तो इन तीनों वर्णों की क्रमशः सेवा में तत्पर रहे।

महाभारतकार ने इन चारों वर्णों के विभिन्न धर्मों या कर्तव्यों के लिए साक्षर वाक्य का प्रयोग किया है जिसका धर्म यह है कि ये धर्म सनातन माने जाते थे।× इस प्रकार इन वर्णों के विभिन्न धर्म उस

*—वधमेव महाराज धर्मेमाहुः पुरातनम् ॥

स्वाध्यायव्यसनं चैव तत्र कर्म समाचरेत् ॥

श्लो० ६ अ० ६०, शान्ति प० ।

†—यथाश्च परिपाकयेत् ॥

मित्रोद्युक्ती यस्त्वयमे रणे कुर्वन्पराङ्मनः ॥

श्लो० १४ अ० ६०, शान्ति प० ।

‡—दानमभ्यसनं यज्ञः शौचं च धर्मसंनयः ।

श्लो० २१ अ० ६०, शान्ति प० ।

वित्तकषाज्येक्षैश्चो मुक्तः सर्वान्पशूनिह ॥

श्लो० २२ अ० ६०, शान्ति प० ।

—प्रजापतिर्हि वर्णानां दातॄन्मनुजकथयत् ।

वत्साम्शूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥

श्लो० २८ अ० ६०, शान्ति प० ।

×—ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान्ब्रह्माणि शब्दवत् ॥

श्लो० ६ अ० ६०, शान्ति प० ।

प्राचीनतम काल से तिरन्तर बने आ रहे थे जिसकी स्मृति मनुष्य को नहीं है। इन धर्मों के समन के बहुत पीछे राज्य की उत्पत्ति हुई थी। राज्य की उत्पत्ति की आवश्यकता मनुष्यों को उस समय हुई थी जब मानव उस दशा को प्राप्त हो गया था कि समाज में स्वार्थवश लोगों ने इन परम्परागत प्रचलित धर्म-नियमों को भंग करना प्रारंभ कर दिया था। इसलिए ऐसे लोगों को दंड देना बर्ण्यधर्म धर्म को सुरक्षित रखने की दृष्टि से यह उचित समझ गया था कि एक ऐसी संस्था का निर्माण किया जाय जो इन अव्यवस्थाओं को दण्ड देने में समर्थ हो और उस सनातन वर्ण्यधर्म धर्म को उसी मूढ़ और स्थिर रूप में स्थिर रख सके जिसका परिष्कार यह होगा कि प्रत्येक वर्ण्य धर्म-धर्म वर्ण्यधर्म की मायता हुआ अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष को सुविधापूर्वक प्राप्त कर सकेगा।*

इसके उपरान्त धर्मों के संघटन की व्यवस्था भी बड़े महत्त्व की थी। धर्म धर्म से ब्रह्मधर्म, गृह्यधर्म, वानप्रस्थ और संन्यास। ये चार धर्म कहलाते थे। हिन्दू विचारधारा के अनुसार मानव-जीवन सी वर्ष का माना गया था। इसे चार बराबर भागों में बाँटा गया था। पहले पञ्चीस वर्ष का समय ब्रह्मधर्म धर्म के अन्तर्गत माना था जिसमें मनुष्य विद्यार्थी के रूप में अपने छात्राधिक एवं मस्तिक सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के विकास के प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। पञ्चीस और पचास वर्ष के बीच की अवस्था गृह्यधर्म धर्म नाम से प्रसिद्ध थी। गृह्यधर्म जीवन के उपरान्त मनुष्य वानप्रस्थ धर्म में प्रवेश करता था जिसमें पचास वर्ष से पचहत्तर वर्ष की आयु का भोग होता था। अन्तिम धर्म धर्म संन्यास धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रकार मनुष्य के जीवन के छोटे-से-छोटे कार्य भी धर्मधर्म के नियमों से पूर्णतया बद्ध थे। यहाँ तक कि जीवन-सम्बन्धी साधारण बातें जैसे चलना फिरना, बात करना, खाना पीना, सोना आदि विषयों के लिए भी प्रत्येक वर्ण्य और प्रत्येक धर्म के अलग-अलग धर्म बने हुए थे, जिनके अनुसार मनुष्य को धर्मधर्म रखना पड़ता था। यह धर्म भी साक्ष्य थे। इन नियमों में यदि कहीं पर भी बढ़ाने-घटाने की आवश्यकता मानव समाज को

*—स्वै स्वै कर्मव्यवहारः संतिर्हि धर्मो नरः ॥

पक्षी यी तो उन्हें नीतराग श्रमि-पुनियों की शरण लेनी पक्षी भी और वे ही इन नियमों में कुछ हेर-फेर करने के अधिकारी थे। जब हम आश्रमों की व्यवस्था को ध्यान से देखते हैं तो ऐसा विदित होता है कि ब्रह्मचर्य, व्रतप्रत्य और संन्यास आश्रमों का राज्य से कोई विशेष संबंध न था। इन चारों आश्रमों में यदि किसी भी आश्रम का राज्य से कुछ भी सीधा सम्बन्ध हो सकता था तो वह गृहस्थ आश्रम था। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि हिन्दू युग में मानव-जीवन का, साधारण रीति से केवल बहुधा ऐसा था जो राज्य से कुछ सम्बन्ध रखता था। मानव-जीवन का सोच तीन बीघाई भाग राज्य द्वारा हस्तक्षेप से मुक्त था और इस प्रकार राज्य द्वारा बनाए गए नियमों के सम्बन्ध से यह जीवन निराल स्वच्छन्द था।

अब यहाँ इस बात पर विचार करना है कि मानव-जीवन के इस अंग के नियंत्रण एवं संघटन के लिए राज्य की ओर से किस प्रकार नियम बनते थे और ये नियम किसके अधीन बनाए जाते थे।

रामायण और महाभारत काल में विधि-निर्माण के साधनः—
रामायण और महाभारत दोनों में विधि-निर्माण के कई साधनों का उल्लेख है जिनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता हैः—

(क) **देवी साधनः—**महाभारत के शान्ति एवं में यह विद्या गया है कि विधि-निर्माण का कार्य स्वयं ब्रह्मा के द्वारा हुआ था। यदि काल में मनुष्य सुखी और समुष्ट था। कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् मनुष्य में काम, क्रोध, मोहादि विकार जाग्रत हुए और उन्होंने मानव समाज में अशान्ति, विषमता, दुःख-दर्दि भावि उत्पन्न कर दिए। मानव समाज बिह्वल हो उठा। उन्होंने ब्रह्मा की शरण ली। ब्रह्मा ने एक लाख सम्भाव्युक्त ग्रंथ की रचना की।* इस ग्रंथ में मानव जीवन के प्रत्येक कार्य को नियंत्रण करने एवं उसे सुचारु तथा सुविधापूर्वक होने के लिए नियम दिए हुए थे। ब्रह्मा ने इस विधि-संग्रह को मानव जाति के कल्याण के निमित्त उसे यह आदेश देकर सौंप दिया कि वह इस ग्रंथ में दिए हुए नियमों के अनुसार अपने जीवन को चले। इसके उपरान्त समस्त जन इस ग्रंथ को लेकर वापस सीट गए। उन्होंने

*—ततोऽब्रवीत् साहस्रब्राह्मणं गतं त्वं स्वशुद्धिद्वयम् ॥

इस बात का प्रयत्न किया कि वह अपने जीवन को इन नियमों के अनुरूप बनाई। परन्तु इसमें वह सफल न हो सके क्योंकि स्वार्थ में अन्धा अनुष्ठान इन नियमों का उत्प्रेषण करने लगा जिससे मानव समाज ने इस ग्रंथ के प्राप्त कर लेने पर भी किसी प्रकार की उत्पत्ति न की। इसलिए एक ऐसे सक्तिवादी व्यक्ति की आवश्यकता हुई जो अन्त-पूर्वक मानव समाज को ब्रह्मा द्वारा निर्मित विधि-संग्रह पर बना सकता। इस प्रकार राजा व राज्य की उत्पत्ति हुई जिसका केवल यह कर्तव्य था कि वह ब्रह्मा द्वारा निर्मित इस विधि-संग्रह के अनुरूप मानव जीवन को चला सकता। इस प्रकार मानव समाज में विधि का स्थान सर्वोच्च, सर्वश्रेष्ठ, शास्त्र एवं दिव्य मानता होगा।

महाभारत के वनपर्व में श्री महाभारतकार ने इस ध्येय संकेत किया है। युधिष्ठिर और मार्कण्डेय मुनि के सम्वाद में मार्कण्डेय मुनि श्री इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि मानव जाति के लिए विधि का निर्माण भगवान् ब्रह्मा ने स्वयं किया था। उनका कहना है कि सबसे पहले उत्पन्न हुए प्रजापति ने जीवात्माओं के लिए निर्मल और शुद्ध शरीर एवं उत्तम भर्त्सनास्त्र उत्पन्न किए।* मार्कण्डेय मुनि का यह कथन इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि मनुष्य और विधि की रचना साथ-साथ हुई थी और इन दोनों की रचना भगवान् ब्रह्मा ने स्वयं की थी। इसलिए मार्कण्डेय मुनि के मतानुसार विधि-निर्माण का साधन देवी है और विधि का निर्माण उस समय हुआ था जब ■ मनुष्य सर्वप्रथम पृथ्वीतल पर उत्पन्न हुआ था।

इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए भीष्म महोदय अपने पौत्र युधिष्ठिर को समझाते हुए कहते हैं—उत्थयुग में राज्य, राजा, दण्ड वा शब्द देनेवाला ■ भी नहीं था। सारी प्रजा धर्म के अनुसार चलती थी। इससे लोग अपनी रक्षा प्राप्त ही परस्पर कर लेते थे।†

*—निर्मलानि शरीराणि विद्यानि शरीरिणाम् ॥

स्कन्ध० ६२ अ० १८३, वन० प० १

सर्वस्य धर्मसंग्रहि पुरोत्पन्न प्रजापतिः ॥

स्कन्ध० ६३ अ० १८३, वन० प० १

†—यै शैत्यं न राजाऽऽसीत् न दण्डो न दासिकः ।

धर्मैव प्रजाः सदा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

स्कन्ध० १७ अ० २६, या० प० १

इस प्रकार धादि काल ही से धर्म धनवा विधि प्रचलित था और जिसके अनुसार लोग धर्मने पावरण रख कर सुखी और सम्पन्न रहते थे। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि यह धर्म वा विधि समातन वा जिसका निर्माण मनुष्य द्वारा नहीं हुआ था। इसलिये इस धर्म वा विधि का निर्माण देवी साधन के द्वारा हुआ मानना ही होगा।

रामायण में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि में प्रमाण प्राप्त हैं। रामायण के किष्किन्धा काण्ड में लक्ष्मण सुग्रीव को राम के प्रति उसके कर्तव्य का बोध कराते हुए कहते हैं—हे मानर राज, घोड़े के विषय में झूठ बोलने से सौ घोड़े मारने का पाप होता है। गौ के संबंध में झूठ बोलने से हजार गौ मारने का पाप लगता है और पुरुष के सम्बन्ध में झूठ बोलने से मनुष्य धर्मना और स्वर्जनों का नाश करता है। हे मानर-राज, जो मित्र से पहले धर्मना मनोरथ सिद्ध कर ले और पुनः उसका बदला न चुकाए वह कृतघ्न है और सब प्राणियों से शत्रु है—यह श्लोक सर्वपूज्य ब्रह्मा ने स्वयं गामा है।*

यह कथन श्री कृष्ण सिद्धान्त को सिद्ध करता है कि धादि काल में विधि का निर्माण ब्रह्मा द्वारा हुआ था जिसका उद्देश्य लोककल्याण था। उसी समातन धर्म धनवा विधि की और यहाँ पर लक्ष्मण सुग्रीव की संनोधित कर संकेत कर रहे हैं।

इस प्रकार उपरोक्त दृष्टान्तों के द्वारा यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि लोक-कल्याण के निमित्त भगवान् ब्रह्मा ने स्वयं विधि का निर्माण किया था जो समातन काल से मानव समाज में निरन्तर प्रचलित रहे।

(ख) विधि-निर्माण का लोक सम्मति का साधनः—महाभारत के शांति पर्व में इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई है कि लोकसम्मति के द्वारा कुछ विधियों का निर्माण हुआ था। इस प्रसंग में भीष्म महोदय अपने पौत्र राजा युधिष्ठिर को समझाते हुए कहते हैं—हमने यह सुना भी है कि पूर्वकाल में राष्ट्र का कोई राजा नहीं था। उस समय प्रजा नष्ट होती रहती थी। लोग परस्पर क्रूर मयस्त्रियों को बन्धु मत्स्यों की भांति

*—शकमदवाजते इति सहस्रं तु गमावृते ।

धामार्ग स्वयं इति पुरुषः पुष्पावृते ॥

श्लो० ३ सर्ग १४, क्रि० का० ।

जा जाते थे ।* हमने सुना है कि उन लोगों ने इकट्ठे होकर यह समय (विधि) बनाए हैं कि जो हमारे शब्द में कठोरभाषी, दण्डपरायण, परस्त्री अपहरणकर्ता होगा तथा जो धन्य की सम्पत्ति का अपहरण करेगा उसे हम अपने समूह में से निकाल देंगे । यह सब कुछ इसलिए किया गया है कि सारे यहाँ की सामान्य रीति से एक बूखे का विपवास हो जाए ।† परन्तु उन लोगों ने समय (विधि) तो बना लिए परन्तु उन पर बल नहीं सके ।‡ इसलिए उन्हें राजा की भावस्यकता प्रसीत हुई जो कि इस प्रकार बनाए गए विधि का प्रयास में पालन कर सके ।§ इसलिए उन्होंने फिस्तामह ब्रह्मा के पास जाकर प्रार्थना की कि वह उन्हें एक राजा बनाने की कृपा करें ।+ ■■■ राजा की वह प्रार्थना करते हैं कि वह उनका पालन करे ।

पूर्व कृतार्थो मिश्राक्षी न तत्प्रतिकरोति यः ।

कृतार्थः सर्वभूतानां स बन्धः पारमेष्ठिनः ॥

श्लो० १० सर्ग ३४, विष्णु० का० ।

गीतोऽयं ब्रह्मया श्लोकः सर्वलोक नमस्कृतः ॥

श्लो० ११ सर्ग ३४, विष्णु० का० ।

*—सारावकाः प्रजाः पूर्वं विनेह्यदिति नः शत्रुम् ।

परस्परं नमस्मान्मो मत्स्या इव जले कृतान् ॥

श्लो० १३ अ० १७, शा० १० ।

†—समेव तास्तत्तद्वक्त्रैः संधयामिति नः शत्रुम् ।

वाक्प्राप्तो ददन् पशुवो बभूवुः स्वात्पार जायिकाः ॥

श्लो० १८ अ० १७, शा० १० ।

‡—परस्वमयात्रात्प्राप्त्याज्या नृणां नृणा इति ।

विस्वास्तार्थं च सर्वेषां बन्धुभासविशेषतः ॥

श्लो० १९ अ० १७, शा० १० ।

§—तास्तथा समर्थकृत्वा समये नापचक्षिरे ॥

श्लो० २१ अ० १७, शा० १० ।

■—अतीवृष्टा विनश्वानो भगवन्तोऽवर्द्धिषु ॥

श्लो० २० अ० १७, शा० १० ।

+—तद्यज्ञं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः ।

यथा वामरशाङ्गैश्च न मयं स्वयमेव स्मृतः ॥

श्लो० ३१ सर्ग १८ विष्णु० का० ।

इस स्थल पर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि राजा की उत्पत्ति के पूर्व विधि का निर्माण हो चुका था। लोक सम्प्रति द्वारा विधि का निर्माण हुआ था। विधि-निर्माण-कार्य में राजा का संश्लेषण भी हाथ न था। राजा की उत्पत्ति केवल इसलिए हुई कि वह इन विधियों को मानव-समाज में उनके वास्तविक रूप में प्रचार करे और अपने विशेषाधिकार से लोगों को उन विधियों के अनुकूल बनना बाध्य कराने के लिए बाध्य करे। राजा भी स्वयं इन विधियों के प्रतिबन्धों से बँधा हुआ था। उसे भी इसी के अनुसार अपना व्यवहार इतना चकता था। वह विधि निर्माण नहीं करता था। वह केवल विधि का प्रचारक था। उसे विधि के उत्संभन करने का तनिक भी अधिकार न था इसलिए राम भक्ति द्वारा किए गए भालेपों का समाधान करते हुए उससे कहते हैं—तुम्हारा यह व्यवहार की भाँसा से धर्मरक्षा के लिए हुआ है क्योंकि हम लोग (राजा) अपने अधिकार नहीं होते।

(ग) ऋषि द्वारा-विधिनिर्माणः—ऋषि द्वारा-विधिनिर्माण की दृष्टि के सम्बन्ध में महाभारत में कई उदाहरण दिए गए हैं। मानव जीवन को समय-समय पर देख, काल परिस्थिति की दृष्टि से अनुकूलित और निर्दिष्ट करने के लिए ऋषि ने समय-समय पर नियम बनाये थे जो विधि का रूप धारण कर लेते थे।

महाभारत के भाद्र पर्व में एक कथा वर्णित है। इसमें ऋषिदीर्घ-तमा और उसकी पत्नी प्रदेवी की कथा का वर्णन है। इस कथा में ऐसा उल्लेख है कि दुहस्वति के प्राप के कारण दीर्घतमा धन्या हो गया था। उसकी पत्नी प्रदेवी उसका भरण-पोषण करते-करते बक गई थी और जब प्राप इस कार्य के लिए अपने को असमर्थ समझती थी। अतः उसने अपने पति दीर्घतमा से स्पष्ट कह दिया ■ वह भविष्य में उसका भरण-पोषण न कर सकेगी (नित्यकालं भवेत्प्राज्ञा न भवेत् महातपाः)। उसने कह दिया ■ जब तेरी इच्छा में जो प्राप हो कर सुभते तो तेरा पालन नहीं हो सकता।*

अपनी पत्नी प्रदेवी के यह वचन सुनकर ऋषि ने यह घोषित कर दिया—प्राज्ञ से मैंने यह वरदान जगत में स्थापित कर दी है कि स्त्री

*—महाभारत अथर्वपर्व १०३, आदि प०।

का जीवन पर्यन्त एक ही पति हो सकता है । चाहे वह मर जाए या जीवित हो, वह दूसरा पति कर न सकेगा । यदि स्त्री ने दूसरा पति कर भी लिया तो वह पतिष्ठ समझी जाएगी । विधवा स्त्रियों को अन्य पतियों से साथ विवाह करने में आज से आगे पाप होगा ।*

इस प्रकार हिन्दू-समाज में विवाह सम्बन्धी विधि का निर्धारण हुआ स्त्री को एक ही पति करने का अधिकार है और इसके लिए विधवा-विवाह का निषेध कर दिया गया ।

इसी सम्बन्ध में आदिपर्व में ही एक दूसरी कथा भी दी गई है यह कथा इस प्रकार है—मण्डो माण्डव्य नामक एक ऋषि धर्मराज की सेवा में गए । वहाँ उन्होंने धर्मराज की वासन पर बैठे हुए देखा । उसे देख-कर ऋषि ने उत्साहना देते हुए कहा—बेटा मेरे वासन से भी कीन सा ऐसा दुष्कर्म किया है जिसके कारण मेरे शरीर में सूखी मशी गई । इसके उत्तर में धर्मराज ने कहा—तूने एक पतने की पूछ में एक सीक गड़ा दी थी । उसी कर्म का फल तूने यह फल मिला है । अग्नीमाण्डव्य के पुत्रः पूछने पर धर्मराज ने उन्हें बतलाया कि उन्होंने यह पाप कर्म वासकपन में किया था । इस अग्नीमाण्डव्य ने कहा कि वासक जन्म से लेकर बारह वर्ष तक जो कुछ कर्म करता है, इसमें कुछ अधर्म नहीं होता क्योंकि वह धर्म का मार्ग जानता ही नहीं है । तूने छोटे बपराज पर भी बड़ा दण्ड दे डाला है । इससे तू शूद्र योनि में मनुष्य बनेगा । आज से मैं संसार में कर्मफल की भरीवा स्थापित करता हूँ †—चौदह वर्ष से पूर्व किये दुष्कर्म का अधिक पातक नहीं है । इससे आगे पूर्ण पातक लगेगा ‡

*—अथकश्रुति मर्यादा मयाज्ञोके प्रतिष्ठिता ।

स्क० ३४ अ० १०४ आदि प० ।

एक एक पतिर्गामा पाण्डुराजं परायणम् ।

श्रुते जीवित वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयान्तरम् ॥

स्क० ३५ अ० १०४, आदि प० ।

†—मर्यादां स्थापयाम्यस्य ज्ञोके धर्मकञ्जोदयाम् ।

स्क० १६ अ० १०८, आदि प० ।

‡—माधतुर्वराकाशौचमभिन्विषति परतकम् ।

परतः कुर्वतामेव शौच एव अभिन्विषति ॥

स्क० १७ अ० १०८, आदि प० ।

इस कथा के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ऋषि समय-समय पर विधि-निर्माण करते थे । इतना ही नहीं वरन् व्यासजी ने प्रवेश करते से भी इस ओर ध्यान देते थे कि व्यासजी जिस विधि संवह को प्रयोग में ला रहा है वह दोषपूर्ण तो नहीं है । यदि इसमें कोई दोष उन्हें प्रतीत होता था तो वह उसे संशोधित कर नए विधि का निर्माण करते थे अथवा उसी के हुए नियम में परिवर्द्धन अथवा परिवर्तन कर देते थे । ऋषि ब्रह्मीमाण्डव्य का यह उपाख्यान इस सिद्धान्त का प्रोचक है ।

महाभारत के इसी पर्व में एक और दृष्टान्त मिलता है जो इस सिद्धान्त की बलपूर्वक पुष्टि करता है । यह दृष्टान्त इस प्रकार दिया हुआ है—वाण्ड्य अपनी विवाहिता कुन्ती को पुत्रोत्पत्ति के लिए नियोग प्रथा का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करते हुए यह कथा सुनाते हैं ।

पूर्वकाल में स्त्रियाँ सब बन्धनों से मुक्त थीं । वह अपनी इच्छानुसार विहार करनेवाली एवं स्वतंत्र थीं । यौवनावस्था के प्रारम्भ से ही वह कामभोग में लिप्त होकर अपने पतिव्रतों का अतिक्रमण करती रहती थीं । परन्तु ■■■ अथर्व नहीं माना जाता था । क्योंकि पूर्वकाल में ऐसी ■■■ व्यवस्था थी । एकबार उद्दासक नामक ऋषि पत्नी का हाथ एक बाह्य छत्र ने कामवृत्ति से पकड़ लिया । बाह्य छत्र की यह कुचोष्ठा देखकर उद्दासक के पुत्र श्वेतकेतु की ओर भा गया । पिता ने पुत्र को यह कहकर कि यह तो सनातन धर्म है बहुत कुछ समझाया परन्तु श्वेतकेतु ने इस प्रथा को दोषपूर्ण ही समझा । उन्हें यह प्राचीन पशु तुल्य व्यवस्था दखिकर प्रतीति नहीं हुई । इसलिए उन्होंने संसार में यह पर्यादा स्थापित करते हुए घोषित किया*—अबसे आगे ■■■ स्त्री अपने पति का अतिक्रमण करेगी उसके लिए शीघ्र भूणहत्या के पाप के समान दुःखदायी पातक होगा । जो पुरुष भी कुमारवस्था से ब्रह्मधर्म में स्थित पतिव्रता स्त्री का अतिक्रमण करके व्यभिचार करता है, उसको भी भूणहत्या का पाप सनेगा । पुत्र उत्पत्ति के लिए पति द्वारा वीर्य के लिए प्रेरित की हुई स्त्री यदि पति की आज्ञा नहीं मानेगी तो उसको भी वही भूणहत्या का पाप

*—ऋषिपुत्रोऽथ तं धर्मं श्वेतकेतुर्न चक्षते ।

अकार सैव मर्त्याभिमां श्रीपुत्रोर्मेभि ॥

संकेता । * उद्गातक के पुत्र श्वेतकेतु ने यह मयीया बलपूर्वक प्रपन्न दी
स्थापित कर दी है ।†

इस प्रकार श्वेतकेतु नामक ऋषि की पति-पत्नी के सम्बन्ध एक
जन्मे पवित्र प्रान्तरण से सम्बन्धित विधि-निर्माण का श्रेय प्राप्त है ।

महाभारत के आदि पर्व में इसी विषय से सम्बन्धित एक और कथा
का उल्लेख प्राप्त है । सुकाचार्य प्रसूरी के पुरोहित थे । वह धनुर्वे को
सुरापान करते देख क्रोधित हुए । उन्होंने ब्राह्मणों की हितकामना से
सुरापान करनेवालों पर कुपित हो वह व्यवस्था स्थापित करने को
कीधर्मा की—ओ मन्द बुद्धि ब्राह्मण धान से प्राणें अज्ञान से सुखपान
करेगा वह धर्म से दूष्ट होकर दण्डहस्ता का भागी होगा और इस लोक
और परलोक दोनों में निन्दित होगा । हे गुरु की सेवा करनेवाले विद्वान्
ब्राह्मणों, देवों और सारे मनुष्यों, सुन सुन लो । मैंने यह सब जगत् में
ब्राह्मणों के धर्म की शोभा बनाकर मयीया स्थापित कर दी है ।‡

*—युक्तरज्याः पतिं तार्यो जघनभृति पातकम् ।

अपराधस्थसमं कोरे मरिच्यत्यसुखाः शत्रवः ।

श्लो० १८ अ० १२२ आदि प० ॥

मोची तथा युक्तरजः कीमार महाभारतीयम् ।

शिवमहा जेतदेव अचिरात् पतकं शुचि ।

श्लो० १९ अ० १२२ आदि प० ॥

कथामिदुक्तं या चेन्न पत्नी पुत्रार्थमेव च ।

न कश्चित्पितृ तत्स्वत्वं मन्विष्यति सर्वं हि ॥

श्लो० २० अ० १२२ आदि प० ॥

†—इति तेन पुरा भीक्षु मयीया स्थापिता बलात् ।

उद्गातकत्वपुत्रेण भर्मा ये श्वेतकेतुना ॥

श्लो० २१ अ० १२२ आदि प० ॥

‡—यो ब्राह्मणो अथ प्रभृतिः कश्चिद्यथोद्गातुरा वास्यसि मन्द बुद्धिः ।

अपेक्षमर्मा ब्रह्महा चेन्न स स्वादिसिद्धौ के रक्षितः स्वात्परे च ॥

श्लो० १७ अ० ७६ आदि प० ॥

अथा चेतां विप्रजर्मोक्तिरीमा मयीया ये स्थापिता सर्वलोके ।

सन्तो विप्राः शुश्रूषासो गुरुणा देवा ओम्कारचोपमजवन्तु सर्वे ॥

श्लो० १८ अ० ७६ आदि प० ॥

इस प्रकार हिन्दू समाज में मावक द्रव्य निषेध संबंधी विधि व्रत निर्माणा हुआ जिसकी व्यवस्था सुकाचार्य नाम के ऋषि द्वारा की गई :

महाभारतकार ने शान्ति पर्व में पापों और उनके प्रायश्चित्त के साधनों के संबंध में एक लम्बी सूची दी है । शान्ति पर्व के पैंतीसवें अध्याय में इनका विस्तारपूर्वक वर्णन है । इस संबंध में जो विधि निर्धारित किए गए थे उनका निर्माण विद्वान् ऋषि-मुनियों द्वारा किया गया था :

इसके प्रतिश्रुत महाभारत के अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि धर्म के संशय उत्पन्न होने पर वेद-शास्त्र के आग्नेवासे अथवा अग्निपाठ कर या तीन ब्राह्मण जो व्यवस्था में वह मौनवीम होगी ।* महाभारत के शान्ति पर्व में ऐसे ऋषि-मुनियों के नामों भी एक सूची दी हुई है जो कि धर्मशास्त्र-प्रणेतार थे । इनमें से विद्यानाक, सुकाचार्य, भट्टेन्द्र, मनु, भरद्वाज तथा गौतमिरा मुख्य हैं †

सामायणकार ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । रामायण इस बात की पुष्टि करती है कि पापों से मुक्त होने के सिद्धे विद्वानों से प्रायश्चित्त की व्यवस्था कराई जिनकी अतिविधि से भनुसीजन करने से मनुष्य पापों से मुक्त हो सकता था । सधर्मो सुधीर को सचेत करते हुए यह बतलाते हैं कि वर्मात्मा पुरुषों ने गोघाती, मधुपेयी, बोर और अग्निघात इसका प्रायश्चित्त बतलाया है । ‡ इस कथन से यह सिद्ध होता

*—एष वा वेदशास्त्रहास्त्रयो वा धर्म पाठकाः ।

बद्धवतुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्म संक्षये ॥

स्क० २० अ० १६, शा० ५० १

†—विद्यानाकश्चैव भगवान्मन्मथश्चैव महातपाः ।

सहजानो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः ॥

स्क० २ अ० ५८, शा० ५० १

‡—भरद्वाजश्च भगवोस्तथा गौतमिवा मुनिः ।

शक्रश्चामरेश्वरौ ब्रह्मर्षा ब्रह्मर्षादिभः ॥

स्क० १ अ० २८, शा० ५० १

§—गोमे यैव सुरावे च श्रीरि अग्निघाते तथा ।

गिह्णविबिंशिता साग्निः x ■ x ॥

स्क० १२ सर्ग ३४, किष्कि० ५१० ।

हैं कि रामायण-काल में यमदण्ड पुण्य भी विधि निर्माण का कार्य करते थे ।

इस प्रकार रामायण और महाभारत के अन्तर्गत वर्णित घटनाओं एवं दृष्टान्तों में जो सामाजिक साधनों का प्रयत्न हुआ है और जिसका ऊपर विवरण हेतुओं सहित दिया गया है उसके आधार पर यह कहना उचित ही है कि रामायण और महाभारत काल में विधि-निर्माण का कार्य किसी चरम तक अधिमूर्तियों के द्वारा होता था ।

(ग) **बात पुण्यों का अनुसरण**—बात पुण्यों का अनुसरण भी विधि निर्माण कार्य में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है । रामायण और महाभारत दोनों इस सिद्धान्त ■ स्वीकार करते हैं कि बात पुण्यों का साधारण कर्त अनुसरण जनसाधारण करता था और एक साधकों के इस साधारण के उन नियमों को जो कि जन साधारण स्वीकार कर लेता था राज्य अपना लेता था और उसे मान्यता दे देता था सो वही नियम विधि के रूप में परिणत हो जाते थे । इसी कारण से महाभारत के भीष्म पर्व में कृष्ण श्रेष्ठ पुण्यों को सचेत करते हुए कहते हैं कि उन्हें जन साधारण के सामने बहुत सभ्य-बुद्धकर बसना चाहिए । उनके दैनिक जीवन में कोई भी ऐसा बात न होने चाहे जो जन साधारण के लिए दूरा उदाहरण रहे । * क्योंकि जिम-जिम बातों का श्रेष्ठ पुण्य साधारण करता है, उसी का साधारण पुण्य भी अनुसरण करता है । श्रेष्ठ पुण्य जिस बात को प्रमाण मानता है जनसाधारण भी उसी को स्वीकार करता है । इसी प्रकार में कृष्ण धर्म से कहते हैं—ओ मैं साधकों के साध-कार्यों में प्रवृत्त न होऊँ तो हे पार्थ ! यह जनसाधारण भी सब प्रकार में ही मार्ग का अनुसरण करेंगे ।† इसलिए कृष्ण अपने दैनिक जीवन में बड़े सजक रहते थे जिससे कोई भी ऐसा उदाहरण उनके जीवन से सीखी की न मिल सके जो उन्हें पदभ्रष्ट करने में सहायक बन सकता ।

*—पद्यदायति जेयस्तनदेवसरो जगः ।

स मयमात्रं कुर्वते लोकास्तदनुवर्तते ।

श्लो० २१ अ० १०, भीष्म० प० ।

†—यदि ह्यहं न धर्मेयं जानु कर्मवचतमिषतः ।

मम यत्कर्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वथाः ॥

श्लो० २३ अ० २७, भीष्म० प० ।

महामारत के अन्तर्गत एक अन्य प्रसंग में भी इस सिद्धांत की पुष्टि की गई है। यहाँ पर भी यही बतलाया गया है कि जिसने सामु पुत्र स्वीकार कर सँ वही मर्यादा कहलाती है। यह बात उस समय की है जब ■ भीष्म पाण्डु ■ विवाह के निमित्त मगध के राजा शल्य से विवाह सम्बन्धी बातचीत करते हैं। भीष्म ने बुढ़ मंत्री, बहुरि, पाण्डु तथा चतुरङ्गिणी सेना को साथ लेकर मगधपति ■ पुर में प्रवेश किया। उन्होंने अन्वदेश शल्य से उनको भगिनी भात्री को अपने भतीजे पाण्डु के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करने की इच्छा से याचना की। शल्य ने स्पष्ट कह दिया कि यह सम्बन्ध अति उत्तम होगा। परन्तु हमारे पूर्वजों ने कन्या शुल्क संभलने की ओर परिपाटी कास ली है उसका उत्खनन मैं नहीं कर सकता। भीष्म ने यह कहकर कि जिसको सामु पुत्र स्वीकार कर सँ वही मर्यादा कहलाती है।* शल्य की बात मंगीकार कर ली।

द्विपटी के विवाह के अवसर पर महामारतकार ने पुनः इसी सिद्धान्त को दोहराया है। राजा दुष्य भीर उसके पुत्र धृष्टद्युम्न द्विपटी का विवाह पाँचों पाण्डव भाइयों के साथ होना धर्म विरुद्ध समझते थे। इसलिए उन्होंने अपने इस सवैह को युधिष्ठिर के सामने रखा। युधिष्ठिर ने उनके सम्वैह का निवारण इसी प्रकार के विवाहों के कई उपाहरणों की प्रस्तुत कर किया। उन्होंने अपने इस कार्य की धर्म की दृष्टि से इस सिद्धान्त पर म्याव संगत ठहराया कि प्रचीन काल में कई प्रेष्ठ पुत्रों ने ऐसे विवाह किये सँ भीर को विवाह धर्मविहित माने गए हैं। उन्होंने कहा कि पुराणों में सुना जाता है कि भीतम भीभी अदिजा नाम की कन्या ने सात ऋषियों के साथ विवाह किया था।† इसी प्रकार वार्त्ती नाम मुनि-कन्या ने तप से बुढ़ प्राप्त एक नाम के वस आई

*—चित्तियं च ते शल्य मर्यादा साधुसम्मतः ॥

स्क० १३ अ० ११३, भाषि० प० ।

†—धृवते हि पुराणेषु जदिजा नाम गीतमी ।

आभीमन्यासितवती सप्त धर्मभूता वरा ॥

स्क० १७ अ० ११८, भाषि० प० ।

प्रचेताओं से विवाह किया था ।* पूज्यों के अचम सदा धर्मनुसार होते हैं ।†

रामायण में भी इस सिद्धान्त पर समान सहज दिया गया है । रामायण के अयोध्या काण्ड में जबालि शत्रु ने राम के समक्ष हेतुओं सहित इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि यह संसार मिथ्या है । न कोई किसी का पिता है न पुत्र और इसीलिए इसमें अधिक सिप्या न करने चाहिए । ऐसे ही अनेकों दार्शनिक विचारों को रत्नकर कह राम की अयोध्या पुनः लाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे । इसके उत्तर में राम ने उन्हें भसी मौखिक हेतुओं सहित समझाया था । इस प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा था कि आपकी आज्ञा के अनुसार चलने पर वे स्वयं स्वेच्छाचारी हो जाऊँगा । तदनन्तर समस्त लोक स्वेच्छाचारी ही जाएगा क्योंकि राजा का जैसा व्यवहार होता है वैसा ही प्रजा का व्यवहार हो जाता है ।‡ रामायणकार अपने चलकर उत्तरकाण्ड में भी इसी सिद्धान्त पर विशेष बल देता है । सीता के चरित्र के सम्बन्ध में अयोध्या की जनता में अफवाह फैल रहा था । लोगों को भय था कि उनकी स्त्रियाँ भी आचरण की पवित्रता को छोड़ विशेष ध्यान न देंगी । वह आपस में इस बात की चर्चा किया करते थे कि उन लोगों को भी अपनी स्त्रियों की ऐसी बातें (सीता के आचरण सम्बन्धी मंदिर्य बात) सहनी पड़ेगी और कह नूरी नहीं समझी जाएँगी, क्योंकि राजा जो करता है प्रजा उसी का अनुसरण करती है ।+

■ प्रकार रामायण और महाभारत दोनों इस सिद्धान्त के पोषक

*—अथैव मुनिना वार्त्ता तपोनिर्भाषितमननः ।

संगताऽमुद्वा भव मेकनाम्नः प्रचेतसः ॥

श्लो० १२ अ० १३८, आदि० प० ।

†—शुतोहिं चवर्णं प्रहृष्यन् धर्मज्ञ सत्तमः ॥

श्लो० ३ अ० १६८, आदि० प० ।

‡—यद् धृताः सन्धि राजानस्तद्वृत्ताः सन्धि हि प्रजाः ॥

श्लो० ३ सर्ग १०३, सप्तो० का० ।

+—अस्माकमपि धारेषु सहनीयं भविष्यति ।

यथा हि कुन्ती राजा प्रजास्त्वमुच्यते ॥

श्लो० १६ सर्ग ३३, उत्तर० का० ।

हैं कि आप्त पुरुषों के भावरूप तब युग में विधि निर्माण का एक महत्वपूर्ण साधन था ।

कुलधर्म का कुलविधि:—रामायण और महाभारत काव्य के हिन्दू जीवन की एक विशेषता यह भी कि हिन्दू जीवन में अपनेकी संस्थाएँ मिथ्यामानी थीं । प्रत्येक संस्था का जीवन समाज में अपना विशेष अस्तित्व रखता था, प्रत्येक संस्था के संचालन एवं अनुशासन के लिए विशेष नियम थे । राज्य जान-बूझकर कभी भी उन नियमों में तब तक हस्तक्षेप न करता था जब तक कि यह संस्थाएँ परस्परगत स्थिर समाज के नियमों को भंग न करती थीं । यह संस्थाएँ अपने सदस्यों के जीवन को संघी बनाने एवं उसे निरंतरता में खाने के लिए कुछ नियम बना लेती थीं जिन्हें राज्य अपना लेता था और मायता प्रदान कर देता था । यही नियम राज्य में विधि का स्थापन प्रकृत कर लेते थे, और समस्त प्रजा के लिए विधि का काम करने लगते थे । रामायण और महाभारत में ऐसी अनेकी संस्थाओं का वर्णन प्राप्त है । इन समस्त संस्थाओं में से कुल सबसे छोटी संस्था थी । हिन्दू समाज में यह सबसे छोटी संस्था होने पर भी बहुत महत्व की थी । हिन्दू राज्य में कुल की स्वतंत्रता को राज्य ने सदैव स्वीकार किया है । प्रत्येक कुल को अपने क्षेत्र में अपने ही नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी । कुल के कार्यों में केवल उस समय राज्य की धोर से हस्तक्षेप किया जाता था जबकि कुल समाज अथवा राज्य के नियमों को भंग करने का साहस करता था । प्रत्येक कुल के अपने निजी विधि देने से जिन्हें कुलपार या कुलधर्म* के नाम से रामायण और महाभारत में सम्बोधित किया है । कुल के विधि संग्रह की पुष्टि में रामायण और महाभारत दोनों यह कहते हैं कि यह विधि उस काल में प्रचलित अवस्था में थे ।

*—कुलपार्य या कुलधर्म ॥

श्लो० ७ अ० १०३, आदि० ५० ।

कुलधर्मः सर्वोपरि प्रसार्य परमं च तत् ॥

श्लो० ११ अ० ११३, आदि० ५० ।

स राज्यवर्मा कुलधर्ममस्तु समात्म ॥

श्लो० ३० सर्ग ११०, अ० ५० ।

विचित्रवीर्य की मृत्यु के उपरान्त कुछ राज्य का राजा सिंहासन रिक्त था। कुलवंश में कोई भी व्यक्ति ऐसा न था जो विचित्र वीर्य के स्थान में राजा बन सकता। केवल भीष्म ही ऐसे व्यक्ति थे जो इस गद्दी के नियमानुसार अधिकारी थे। परन्तु वह वचनबद्ध थे कि वह कभी भी राज्य पर अधिकार नहीं करेंगे। ऐसा देखकर भीष्म की विमाता सत्यवती अत्यन्त चिन्तित हुई। उन्हें इस बात की बड़ी चिन्ता हुई कि इस प्रकार तो बाल्य का वंश ही नष्ट हो जाएगा। ऐसा विचार कर उन्होंने सान्तनुपुत्र भीष्म को बुलाकर इस बात के लिए उनसे प्रार्थना की कि वह नियोग द्वारा अपने भाई की पत्नियों में कुलवंश को स्थिर रखने के निमित्त पुत्र उत्पन्न करें। ऐसी प्रार्थना करते समय सत्यवती भीष्म की श्रद्धा करती हुई कहती हैं—धर्म में बुद्धता के साथ स्थिर होने का जो तैरा कुलाचार है मैं इसको भी तुम में मसीमांति देखती हूँ और मातृकाल में शूद्र और वृद्धवृत्ति के समान धर्म के विरोधना की क्षमता भी तुम में अच्छी तरह विद्यमान है।*

इस प्रकार सत्यवती इस बात का प्रमाण देती हैं कि महाभारतकाल में कुल के कुलारूप से संवाहन के निमित्त विधि बने थीं जिनमें कुलाचार कहते थे और इन्हीं विधियों के अनुसार कुछ कुल का संवाहन होता था। भीष्म इस विधि संग्रह के विशेषज्ञ बृहस्पति एवं एक के समान थे।

महाराज पाण्डु के कुल में इस प्रकार के विधियों की व्यवस्था की गयी जिससे कुलधर्म के नाम से सम्बोधित किया है। भीष्म सत्य की महान भावना की पाण्डु के लिए बाधना करते हैं। इसके उत्तर में सत्य कहता है—मुझे मेरी महान भावना और पाण्डु का वैवाहिक सम्बन्ध हितकर प्रतीत होता है और इसीलिए उसके प्रदान करने में मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है परन्तु यह हमारा कुलधर्म है और यही हमारे लिए परम प्रमाण है। हे भरिष्णु ! इसलिए मैं आपसे निश्चय के साथ कोई बात नहीं कह

*—व्यवस्थान् यत् ते धर्मे कुलाचारं यः शक्यते ।

प्रतिपत्तिं यः कृच्छ्रेषु शुक्राक्षिरस्योरिव ॥

सकता है ।* यही पर राज्य ■ यह कहने से यह तात्पर्य है कि इनके कुल का यह एक धर्म था कि कन्या के विवाह के अवसर पर कन्या शूलक वर से ली जाती थी । अतः वर्य यहाँ पर उसी कुल धर्म की ओर भीष्म के समक्ष संकेत कर रहे हैं । उनका कहना यह है यदि वह वर्य के इस कुलधर्म को मान्यता देते हैं तो उन्हें वापसी प्रदान ■ सकेगी अन्यथा नहीं । भीष्म ने इसे कुलधर्म समझ कर स्वीकार किया और कन्या शूलक लेकर माद्री को पाण्डु के निमित्त यहूण किया ।

यह जटना भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है कि महाभारत काल में कुल की सुधार रीति से संचालित करने के लिए कुछ विशेष विधि प्रचलित थे जिन्हें कुलधर्म अथवा कुलाचार के नाम से सम्बोधित किया जाता है ।

महाभारत के वनपर्व में द्रौपदी और सत्यभामा का सम्वाद दिया गया है । इस सम्वाद में इस प्रसंग में सत्यभामा द्रौपदी से प्रश्न करती है कि क्या कारण है कि इससे पाँचों पाण्डव प्रसन्न रहते हैं । इस सम्बन्ध में वह उत्तर देती हुई बनेकों कारण बताती हुई एक कारण यह भी बताती है ■ वह अपने कुलधर्मों का श्रद्धा पूर्वक पालन करती थी । इस प्रसंग में उन्होंने कहा—मेरी माता ने जो कुटुम्ब कुल कमावन्त, भिक्षा बलि, धाड़, पर्व पर स्वास्ती पाक, मान्यों की पूजा सत्कार आदि धर्म अदाएँ तथा अन्य धर्म जिस किसी तरह मुझे मालूम हो गए मैं उनका रात-दिन सावधान रहकर पालन करती रहती हूँ ।†

द्रौपदी के यह वचन इस बात की मनलगे हैं कि पाण्डवों के कुल धर्मवा कुटुम्ब में कुछ विशेष विधि अथवा धर्म प्रचलित थे जिनका पालन करना कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य ■ लिए अनिवार्य था । इसलिये यह

*—कुलधर्मः सगरे वीर प्रतापं परमं च तत् ।

तेन त्वां त्वरीयतेजः सम्भिर्धन्योऽभिदधे ॥

श्लो० ११ अ० ११३, आदि० प० ।

†—ये च धर्माः कुटुम्बेषु रचन्तु वा मे कथिताः पुरा ।

भिक्षा बलिः श्राद्धमिति स्वास्तीपाकारश्च पर्वसु ॥

मान्वाणां मानसत्कारा ये पाण्ड्ये विद्विता जनाः ।

ताम् सर्वानुवर्तयामि दिवारात्रमतम्ब्रिवा ॥

श्लो० ३३-३४-३५ अ० २६२, वन० प० ।

कृष्ण भी पठक को इसी ओर ले जाता है कि महाभारतकाल में कृष्णधर्म शकबा कुलाचार प्रचलित थे जो कुल के लिए प्रभाण थे ।

इसी सम्बन्ध में इसी पर्व में एक घटना का विवरण है जो इसी सिद्धान्त की पोषक है । यह इस प्रकार है—दुर्योधन ने अपने मंत्रियों के साथ घोषों के ग्राम बैलने के लिए प्रस्थान किया । उन्होंने गौव तो देखे परन्तु इन भ्रमसर पर दुर्योधन और गन्धर्वों में झूझ खिझ गया जिसका परिणाम यह हुआ कि गन्धर्वराज बिचसेन ने मंत्रियों सहित उसे बन्दी बना लिया । दुर्योधन के कुछ बच्चे हुए जन युधिष्ठिर की धारण में गए । युधिष्ठिर ने आदेश दिया कि यह दुर्योधन को गन्धर्व राज के बन्धन से छड़ाए । ऐसे अवसर पर भीम रुष्ट होकर बोले कि दुर्योधन को बन्धन से मुक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं । दुर्योधन तो हमारा शत्रु है उसके बन्धन से हमारा काम बन जाएगा । परन्तु ऐसा उत्तर पाकर युधिष्ठिर अपने भाई से बोले—हे भीमसेन भयभीत होकर हमारी शरण में आए हुए विपत्ति प्रस्त कौरवों से तुम ऐसा कठोर कैसे बोल रहे ? हे वृकोदर बन्धुओं में फूट और कलह भी हो जाती है, वर पल पड़ते हैं परन्तु इसने कुल धर्मों का नाश नहीं हो जाता ।*

युधिष्ठिर का यह कथन इस बात की बतलाता है कि जाति वा कुल के सदस्यों में चाहे जितनी कलह वा वैर हो परन्तु कुल धर्म प्रत्येक को समान रूप से मानने होंगे । यह धर्म वा विधि कुल के प्रत्येक सदस्य के लिए धनिकार्य रूप से मानने पड़ते थे ।

महाभारत के बिराट पर्व में यह बतलाया गया है कि राज्य कुल धर्मों की प्रभाण मानता था । यह उनका उत्खनन नहीं करता था । इस सम्बन्ध में इस पर्व में एक घटना का उल्लेख है । यह घटना इस प्रकार है:—

युधिष्ठिर जुधा खेल कर समस्त राज्य-पाट हार गए थे । उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ा था कि वह बारह वर्ष बन में रहेंगे और इसके उपरान्त एक वर्ष का समय उनको गुप्त रहकर काटना पड़ेगा । बारह वर्ष की अवधि समाप्त होने के निकट उन्होंने गुप्त वास की मायोजना

*—अबन्ति मेधा ब्राह्मीना कश्चाद्वारं वृकोदर ।

प्रसन्नानि च वैराणि कुल धर्मो न नश्यति ॥

की । ऐसी स्थिति में उन्होंने अपने वेश बदले । उन्होंने अपने धर्म-धर्म एक बड़े समीप वृक्ष की शाखाओं पर पत्तों में छिपाकर रक्त दिए । उन्हें मय या कि कोई व्यक्ति उस वृक्ष के समीप जाकर भयवा उसपर चढ़कर उनके धर्म-धर्मों को जान जायगा जो उनके लिए हितकर सिद्ध न होगा । अतः उन्होंने एक मृत पुरुष के शव को उस वृक्ष की शाखा में लटका दिया जिससे कि उस वृक्ष की पुराण से कोई भी व्यक्ति उस वृक्ष समीप जाने का साहस न करेगा । परन्तु उन्हें इस बात का मय भी था कि यदि यह बात वहाँ का राजा जान पाएगा कि उन्होंने शव को वृक्ष की शाखा में लटकाया है तो यह यह सम्भवेगा कि इन व्यक्तियों में उस व्यक्ति का बध भवचय किया होगा । अतः उन्हें राज्य की ओर से उचित वृक्ष प्रवश्य भिक्षना चाहिए । इसीलिए उन्हें रास्ते में जो कोई मिला उससे उन्होंने यह कहा कि यह हमारी सौ वर्ष की माता का शव है । यह हमारा कुलधर्म है । हमारे पूर्वज भी इसी तरह मृतक को वृक्ष में लटकाते आए हैं ।*

इस प्रकार यह कथानक इस बात को सिद्ध करता है कि महाभारत-काल में कुलधर्म से शीर इन कुलधर्मों का राज्य पूर्णतः सम्मान करता था । राज्य की दृष्टि में कुलधर्म मान्य थे और उनमें राजा को हस्तक्षेप का अधिकार न था ।

महाभारतकार ने भीष्मवश में भी इसी सिद्धान्त की पुनरावृत्ति की है । महाभारत युद्ध के प्रारम्भ होने पर कुरुक्षेत्र में कौरव और पाण्डव-सेनाएँ मुख्यावृत्त हो युद्ध के लिए लड़ी थीं । दोनों शीर के सिपाही मरने और मारने के लिए उत्साहित हो रहे थे । कृष्ण ने अर्जुन को समस्त शीरों का परिचय दिया । अर्जुन ने देखा कि जहाँ के सम्बन्धी जन युद्ध करने के हेतु कटिबद्ध थे । ऐसा देखकर अर्जुन युद्ध के परिणामों को विचार कर कृष्ण से इस प्रकार बोले—हे जगन्निव ! जिन लोगों के लिए राज्य भोग और सुखों की मनिसाया की जाती है वह ही लोग

*—भाष्यं शत्रुमतेति तन्मयाभावे पृथिव्यम् ।

पृथिव्यावर्धनं माता न इति वादिनः ।।

कुल धर्मोऽयमस्माकं पूर्वैरप्यसिद्धोऽपि वा ।

समासमयमृष्टेऽस्मिन्निति वैष्णवैरपि ले ।

मपने प्राणों का मोह एवं धन का मोह छोड़ कर मुख मोह में खड़े हुए हैं। यद्यपि यह कुल-धर्म के दोष और मित्रद्वेष के पातक को नहीं देख रहे हैं परन्तु हमें तो कुल-धर्म के दोष प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। कुल के क्षय होने पर सनातन कुल धर्मों का लोप हो जाता है और जब कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं तो फिर उन कुलों की धर्मों का दबाव है।* हे कृष्ण! धर्म के भावना से कुल की स्थिति दूषित हो जाती है। जब स्थिति दूषित हो जाएगी तो वरुणसंकर सन्तान उत्पन्न होगी जो कुल-धर्म नष्ट होने-वाले मनुष्यों के कुल को नरक में गिरानेवाली होगी। जब इस प्रकार पित्रदान और जलदान की क्रिया लुप्त हो जाएगी तो उष्ण लोकों के पितर पतित हो जाएंगे। कुलधर्म नष्ट करनेवाले पुत्रों के वरुणसंकर-कारक हम दोषों से जाति धर्म और सनातन कुलधर्म लुप्त हो जाते हैं।† हे जनार्दन ! जिन मनुष्यों के कुलधर्म नष्ट हो गए उनका निवास नरक में निश्चयपूर्वक होता है ऐसा हम शास्त्रों में सुनते आए हैं। यह सब ही धर्मों की बात है कि हम सब लोग इस महान पाप के करने के लिए उत्सह हो रहे हैं, जो राज्य और सुख के मोह से अपने कुटुम्ब के लोगों को ही मारने को उत्साहित हो रहे हैं।

यह घटना इस बात की स्पष्ट करती है कि कुल-धर्म सनातन माने जाते थे। कुलधर्म को नष्ट करना लुप्त करना और पाप समझा जाता था। कुलधर्म महाभारत नाम में इस भयस्था की पहुँच चुके थे कि जन के उत्सर्जन करने का साहस कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं कर सकता था। सारे पारिवारिक जीवन का सुख और शान्ति इन्हीं कुल-धर्मों पर निर्भर था। यही कारण था कि धर्मजैसे भीरु योद्धा ने जिसकी कि पुत्र ही श्रिय या केवल इच्छित कि इस युद्ध में कुल-धर्म नष्ट हो जाएंगे अपने अपने घरों को रणक्षेत्र में लँक कर मुख से विमुख होना हितकर समझा था।

*—कुलधर्म प्रवर्धयन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।

धर्मो नष्टे कुलं हस्तमधर्मोऽभिभवत्युत ॥

श्लो० ४० अ० २२, भीष्म प० ।

†—दीपे देतैः कुलधर्माः सर्वासङ्करकारकैः ।

उत्साधन्ते जातिधर्माः कुलधर्मोश्च शारदताः ॥

श्लो० ४१ अ० २२, भीष्म प० ।

महाभारत काल में कुलधर्मों की रक्षा करना राजा का परमधर्म समझा जाता था। इतना ही नहीं बरन राजा के लिए कुलधर्म का पालन करना महान पुण्य कर्म समझा जाता था। महाभारत ॥ भाषित पर्व में भीष्म युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए इसी सिद्धान्त की ओर उनका ध्यान दिनाते हुए कहते हैं—हे पुण्य ध्यात्र कौन्तेय । जो राजा देश-धर्म तथा कुल-धर्म की रक्षा करता है वह धार्मिकों का पालनकर्ता हो जाता है।*

भीष्म के इस कथन से यह प्रकट होता है कि कुल-धर्म राज्य द्वारा प्रभावित माने जाते थे। उनकी रक्षा करना राजा का महान कर्तव्य था। इतना ही नहीं बरन इन कुल-धर्मों की उचित रीति से रक्षा करने से राजा को बड़ा पुण्य होता था।

महाभारत में कुल-धर्मों का इतना महत्व बतलाया गया है कि उन्हें शासक माना गया है, उन्हें ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किया हुआ कहा गया है। ब्रह्मा ने एक सप्त भस्मात् का जो दम्बनोति धारण रथा था और जिसमें जीवन के प्रत्येक ग्रंथ से सम्बन्धित विधियों का समावेश किया गया था उसी ग्रंथ में कुल-धर्मों को भी उँधा स्थान दिया गया है।† उन्हें देश-धर्म और जाति-धर्म की धोड़ी में बराबरी का स्थान दिया गया है।

रामायणकार ने भी इस सिद्धान्त पर इसी प्रकार के विचार प्रकाशित किए हैं। उन्होंने कुल-धर्म और कुलाचार मयों का प्रयोग रामायण के प्रस्तावत इसी धर्म में किया है।

राम के वनगमन का समाचार सुनकर भरत ने अपनी माता कोश्वती को उसका बोधी उहाराया। वह उसकी इस अनिष्टकारी कार्य की निन्दा करते हुए कहते हैं—जिन इस्वाकु वंशी राजाओं ने सदैव कुल-धर्म की रक्षा की है, जो कुलोचित आचार के पालने से प्रसिद्ध हुए हैं, उनका वह उग्रत चरित वासा कुल धर्म सेरे कारण नष्ट हो गया।‡

*—देशधर्मस्य कौन्तेय कुलधर्मस्तथैव च ।

पाण्डवपुत्रपुत्र्या राजा सर्वधर्मी भवेत् ॥

रघो० २६ भा० ३९, रा० ५० ।

†—देशजातिकुलानां च धर्माः समस्तवर्षिणाः ॥

रघो० ७१ अ० ५६, रा० ५० ।

‡—तेषां धर्मैकरुषां कुलं चारिप्रसाभिना ।

अथ चारितं शीघ्रं तेषां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥

रघो० २३ सर्ग ७३, कयो० का० ।

रामायण-काल में भी इस प्रकार कुलधर्मों का इतना मान था कि उनका मान करने से मनुष्य अधिक से अधिक स्वाति या सन्तुष्ट था । इक्ष्वाकु खंवीय राजाओं ने जो स्वाति पायी थी उसका एक बड़ा कारण यह भी था कि उन्होंने कुलधर्म का सर्वत्र प्रयोजित पालन किया था । भरत ने अपनी माता कैकेयी को इसी बात का सबसे बड़ा दोष दिया है कि वह कुलधर्म के धनुसार चलनेवाली नहीं थी । उसने कुलधर्म का स्तब्ध बन कर राम के राज्याभिषेक में विघ्न डाला था जिसके कारण प्रयोध्या में इतनी बड़ी आपत्ति आयी थी ।

रामायण के इसी काल में दक्षिण राम को राज्य ग्रहण करने का अनुरोध करते हुए समझते हैं कि वह प्रयोध्या राज्य ग्रहण न करने से कुलधर्म का नाश करेंगे । उनपर कुलधर्म मग करने का बड़ा पाप लगेगा । वह उन्हें कुलधर्म का ज्ञान कराते हुए कहते हैं—राम तुम अपना राज्य ग्रहण करो और जगत का पालन करो । समस्त इक्ष्वाकुओं में बड़ा ही पुत्र राजा होता है । बड़े के रहते छोटा राजा नहीं होता । बड़े का ही राज्याभिषेक किया जाता है । तुम अपने रघुवंशियों के सनातन कुलधर्म का विनाश न करो । पिता के समान यशस्वी होकर अनेक राज्यों और प्रभूर स्त्रियोंवासी इसी पृथ्वी का पालन करो ।†

इस प्रकार दक्षिण भी कुलधर्म के प्रवर्धन एवं उनकी मान्यता की पुष्टि करते हैं । वह इन बातों को सनातन बतलाते हैं अर्थात् यह कुलधर्म कलावत चले आ रहे थे । इन्हें राज्य के अधिकारी गणों ने नहीं बनाया था और न इस कार्य में राज्य का अधिकार ही था । यह

†—तस्ययेहोऽस्ति दास्यते राम इत्यभि विस्तृतः ।

तद्वृत्त्या स्वर्गं दास्यमयेवत्य अगन्तुः ॥

रखो० ३२ सर्ग ११०, अयो० का० ।

इक्ष्वाकूनां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।

पूर्वजे नाचरः पुनो ह्येहो राजाभिविष्यते ॥

रखो० ३६ सर्ग ११०, अयो० का० ।

स दासवाद्यां कुलं धर्ममात्मनः सनातनं नाच विद्वन्महर्षिः ।

प्रभूतस्यामनुयाजि मेदिनीं प्रभूतं दाह्यं पितृवन्महा भयाः ॥

रखो० ३७ सर्ग ११०, अयो० का० ।

सनातन धर्म होने के कारण सोप न तष्ट नहीं किए जा सकते थे ।
इन्हें भंग करनेवाला महान दोषी समझा जाता था ।

हिन्दू शास्त्रकारों ने कुलधर्म ■ महारथ को मली भीति समझा था ।
इसलिए उन्होंने अपने बनाए ग्रन्थों में इन कुलधर्मों का महत्व बतलाया
है । मानव धर्मशास्त्र में मनु महोदय ने कुल-धर्म की स्तुति करते हुए
लिखा है कि राजा का यह परम धर्म है कि वह इस ओर विशेष ध्यान
दे कि उसके राज्य में प्रजा कुल-धर्मों का विधिवत पालन करती है ।† इस
प्रकार मनु महोदय भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि कुल-धर्म उनके
समय में से थीर उनकी साम्यता राज्य की दृष्टि में बहुत बड़ी थी ।
राज्य की इन कुल-धर्मों में हस्तक्षेप करने का अधिकार न था । उसका
इस सम्बन्ध में केवल यह कर्तव्य था कि वह इस ओर सचेष्ट रहे और
बराबर इस बात की ध्यानपूर्वक देखता रहे कि प्रजा अपने कुल-धर्मों का
उचित पालन करती है और यदि उसकी दृष्टि में कोई भी व्यक्ति ऐसा
देखने में आए जो कुल-धर्म का उल्लंघन करता है तो राजा उसे तत्पक्षित
दण्ड दे और उसे कुल-धर्म पालन करने को बाधित करे ।

शापस्तम्भ की अपनी स्मृति के अस्तव्यस्त सगभग इसी सिद्धान्त
का प्रतिपादन करते हैं । वह भी अपने युग में कुल-धर्म प्रचलन की पुष्टि
करते हुए यह व्यवस्था देते हैं कि राजा को मली भीति देखना चाहिए
कि उसके राज्य की प्रजा अपने-अपने कुल-धर्म के अनुषंग अपना आच-
रण बनाती है और कुल-धर्मों का उल्लंघन नहीं करती है और यदि कोई
भी जन इसका विरोधी है तो राजा उसे तुरन्त दण्ड दे और उसे इन धर्मों
के अनुसार अपने आचरण रखने पर बाधित करे ।‡

असिद्ध याज्ञवल्क्य ऋषि भी इस सम्बन्ध में यही व्यवस्था देते हैं ।
वह भी राजा का यह प्रधान कर्तव्य बतलाते हैं कि वह अपनी प्रजा में
इन धर्मों का प्रचार करे और इन धर्मों के अनुसार प्रजा ■ आचरण
अनुष्ठान का भर पक प्रयत्न करे । इन धर्मों के भंग करने वाले लोगों को

†—जातिनाशपक्षान्धर्मानुश्रेयोधमश्च धर्मचित् ।

समीक्ष्य कुलधर्मोश्च इवधर्मं प्रति पादवेष्ट ॥

एतौ० ४१ अ० ८ मनु० ।

‡—एते च वेदकुलधर्मं आचरन्तः ॥

समुचित रण्य दे और उन्हें इस प्रकार इस बात के लिए बाधित करे कि वह अपने-अपने कुल-धर्मों के अनुसार अपने अधिकार बनाएँ।[†]

इस प्रकार रामायण और महाभारत ■ नहीं बरत लगभग सारे हिन्दू धर्म शास्त्रों ने इस बात की स्वीकार किया है कि कुल-धर्म सनतान हैं। अपने-अपने कुलधर्म का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। राज्य को इन धर्मों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इन धर्मों की रक्षा करना और राजा को इन धर्मों के अनुसार बनाया राज्य का प्रधान धर्म है। राजा को स्वयं अपने कुल-धर्म का उत्संभाल करने का अधिकार न था। कुल-धर्म के उत्संभाल से उद्योग सर्वनाश हो जाता था।

जाति-धर्मः—कुल-धर्म के प्रतिरिक्त जाति-धर्म भी थे। प्रत्येक राज्य में विभिन्न जातियाँ होती थी। प्रत्येक जाति का संगठन भिन्न होता था। प्रत्येक जाति का जीवन अपनी परिस्थितियों के अनुसार कुछ न कुछ विशेषता रखता था। इसलिए प्रत्येक जाति इस बात की पूर्ण प्रवर्तनीय रहती थी कि उसका जीवन उसकी परिस्थितियों के अनुकूल निरकर रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह जाति जीवन सम्बन्धी कुछ नियम बना लेती थी। यह नियम विधि का रूप में लेते थे। यही विधि जाति-धर्म कहलाते थे। जाति-धर्म भी सनतान कहे गए हैं।[‡] इनके निर्माण कार्य में राज्य का कुछ भी अधिकार न था। राज्य का यह एक प्रधान कर्तव्य जबतक कि वह इन धर्मों की रक्षा करे। जाति-धर्म भी कुल-धर्म की भाँति परम्परागत थे। ब्रह्मा द्वारा जो वर्ण-भेद शोक-कृत्याणु के लिए निर्माण की गई थी, जिसका उद्देश्य महाभारत के शांति पर्व में है उसमें जाति-धर्म की भी व्यवस्था की गई है।[§] महाभारत में इस ओर विशेष महत्व दिया गया है।

मनु, युक्त, भावधर्म्य प्रादि हिन्दू-विधि ग्रंथों में जाति सम्बन्धी

†—कुजावि तावीः लेखीश्च गच्छात् जन्मवृत्तया ।

स्वधर्मं धर्मात्तात् राजा विधीय स्वाधर्मेय पति ॥

मत्स्यपुराण स्पृति ॥

‡—जातिधर्माः कुलधर्माश्च सार्वभौमाः ॥

स्कन्दो २३ अ० २२, भीष्म० १० ।

§—देव जातिकुलानाम् च धर्माः समनुवर्तिताः ॥

स्कन्दो ७१ अ० २३, शान्ति० १० ।

विधियों का विधान किया है जिन्हें उन्होंने आदि वर्ग के लाभ से सम्बोधित किया है । अथवा समस्त हिन्दू विधि प्रणेतार्यों ने इन्हें प्रमाणित मानकर मान्यता दी है । इन समस्त शासनकारों ने राज्य को उन्हें मान्यता देने और उनकी विधिरत रक्षित करने का परम कर्तव्य-निर्धारित किया है । उनका कथन है कि राजा को वह सती नीति देखना चाहिए कि उसके राज्य में प्रत्येक जाति अपने अपने आतिथ्यमों के अनुसार व्यवहार धारण करती है साथ ही उसकी सरकार इन वर्गों को प्रमाणित मानकर मान्यता देती है और लोगों को हर प्रकार की सुविधा देती है जिससे कि वह अपने अपने अतिथ्यमों के अनुसार अपने जीवन चलाने में सफल हो सकें ।^१

देशधर्मः—प्रत्येक स्थान का जलवायु वहाँ के निवासियों के जीवन पर गहन प्रभाव डालता है । इसी कारण भिन्न-भिन्न भू-भागों के निवासियों के आचार-विचार में कुछ ब कुछ भिन्नता अवश्य पायी जाती है । अनुष्य अपनी रीतियों, स्वभावों, आचार-विचारों, एवं विधियों को स्वतन्त्र कथिष के अनुरूप बना देता है और इसी विधान के अनुसार वह उनके विकास में निरन्तर सहायक होता रहता है । इसलिये संसार के विभिन्न भू-भागों में लोगों के जीवन में भिन्नता होती स्वाभाविक है । मानव समाज के संगठन के मौलिक सिद्धान्तों में संसार के प्रत्येक भू-भाग में निःसंदेह समानता अवश्य मिलेगी । परन्तु इन भू-भागों के जल-वायु एवं वहाँ की भूमि ने इसे घट्टसा नहीं वही छोड़ा है । इन्होंने वहाँ के जन-समूह के जीवन संगठन पर गहरा प्रभाव डाला है । इसी कारण इन भू-भागों में निवासियों के जीवन में पर्याप्त मात्रा में अन्तर पाया जाता है । जीवन का यह अन्तर अनुष्य के लिए स्थानीय रीतियों तथा विधियों में अन्त का अवसर देता है जिसको पाकर संसार के विभिन्न भू-भागों में देश-धर्म (territorial laws) का निर्माण होता है । आज भी यह देखने में आता है कि बंगाल और हिन्दुओं के सामाजिक संगठन के मौलिक सिद्धान्तों में एकता होने पर भी उनके स्थानीय आचार-विचार एवं रहन-सहन के नियमों में अन्तर है । सिंध और बंगाल के हिन्दुओं के खान-दान में नियम इतने कठोर नहीं हैं जितने कि मुक्तप्रान्त एवं बंगाल के हिन्दुओं में इन नियमों में कठोरता पायी जाती है ।

*—देश जाति कुलधर्मोत्पत्ति वैदिकः । प्रमाणात् H

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आसक्त पहुँचते हैं कि इस विशेष जीवन के जो कि स्वामीय परिस्थितियों के अनुकूल होता है, वह प्रदर्शक करने, उसके नियंत्रण करने और उसकी रक्षा करने की परम आवश्यकता होती है और यह आवश्यकता उस समय विशेष प्रकार से अनुभव की जाती है जब कि संसार के विभिन्न भू-भागों में इसमेंवाले लोगों में आवागमन के साधनों का अभाव हो वा प्राकृतिक अस्तित्वान्तरों के कारण पारस्परिक सम्पर्क के बहुत कम अवसर प्राप्त होते हैं। लोगों की इस आवश्यकता को पूर्ति उन विभिन्न भू-भागों की विशेष परिस्थितियों के अनुकूल जीवन सम्बन्धी स्वामीय विधियों के निर्माण हो जाने से हो जाती है। इतिहास इस बात में प्रमाण देता है कि प्राचीन भारत में इस प्रकार के स्वामीय विधि विभिन्न युगों में प्रचलित थे। रामायण और महाभारत युग में इन विधियों के प्रचलन की विशेष महत्व दिया गया है। यह दोनों ग्रन्थ इस सम्बन्ध में अवसृत प्रमाण देते हैं कि यह विधि उस युग में कार्य रूप में परिणत किए जाते थे।

यह दोनों ग्रंथ इस बात की सत्यता का प्रमाण देते हैं कि उस युग में भारतवर्ष के प्रत्येक भू-भाग में अपने-अपने देवा-धर्म प्रचलित थे। इन भू-भागों के निवासियों का जीवन इन विधियों के द्वारा नियंत्रित किया जाता था। यह विधि भी भगवान् ब्रह्मा द्वारा निर्माण किए गए थे। भगवान् ब्रह्मा के द्वारा जो दण्ड-नीति निर्माण की गई थी उसमें इन धर्मों वा विधियों का भी समावेश है।[†] इसके लिए भी इतना ही आदेश-भाव दिखाया गया है जितना कि कुल-धर्मों वा जाति-धर्मों के प्रति दिखाया गया है। राज्य को इन धर्मों को भी कुल-धर्म तथा जाति-धर्म की भाँति प्रमाण मानकर मान्यता देनी पड़ती थी, भोज्य आदि पर्व में इस सम्बन्ध में कहते हैं कि जो राजादेव-धर्म तथा कुल-धर्म का ठीक-ठीक पालन करता है वह चारों आश्रमों का पालनकर्ता हो जाता है।[‡]

महाभारत के आदि पर्व में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई

†—देवजातिब्रह्मणा च धर्मो समनुवर्धितः ॥

श्लो० ७१ अ० २६, भा० ५० ।

‡—देव धर्मादिषु कोन्तेषु कुलधर्मास्तथैव च ।

परमपुण्यसम्पन्न राजा सर्वाश्रमो महेव ॥

श्लो० २६ अ० १६, भा० ५० ।

हे और यहाँ ■■■ बतलाया गया है कि महाभारत-काल में देश-धर्म प्रचलित थे । उत्तर कुट्ट-प्रदेश में वहाँ के निवासियों के लिए कुल विशेष धर्म व्यवस्था विधि थे । भारत के अन्य भागों में यह विधि प्रचलित न थे । उत्तर कुट्ट-प्रदेश को छोड़कर भारत के अन्य भागों की जनता उत्तर कुट्ट-प्रदेश के इन देश-धर्मों को घृणा की दृष्टि से देखती थी । परन्तु उत्तर कुट्ट-प्रदेश में इन धर्मों व्यवस्था विधियों को लोग स्वतन्त्रतापूर्वक मानते थे और ऐसा करने में यह इस और खेदभाव भी ध्यान न देते थे कि उनके प्रदेश के बाहर की जनता इन धर्मों या विधियों को घृणा की दृष्टि से देखती है । पाण्डु ने अपनी पत्नी कुन्ती को नियोग द्वारा सुत्ताम उत्पन्न करने के हेतु सम्मति दी । परन्तु कुन्ती इस कार्य को उचित न समझती थी । अतः कुन्ती को सम्मत्ते हुए पाण्डु कहते हैं—हे वरानने पूर्व काल में स्त्रियाँ सब वन्यता से बिल्कुल मुक्त थीं । हे चारहासिनि ! यह अपनी इच्छा के अनुसार विहार करने वाली तथा स्वतन्त्र थीं । हे सुभगे ! हे सुन्दरि ! यौवनावस्था के प्रारम्भ से ही वह काम-भोग में सिद्ध होकर अपने पतियों का अधिकमाण करती रहती थीं । परन्तु यह धर्म नहीं माना जाता था क्योंकि पूर्वकाल में ऐसी ही व्यवस्था थी । हे केले के समान जंघाशाली कुन्ती ! वह धर्मशास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध है । इसको महर्षि जनों ने बड़े भावर की दृष्टि से देखा है (धर्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः) । उत्तर कुट्ट-प्रदेश में तो इस धर्म का आज भी प्रचार है । यह धर्म तो स्त्रियों पर अनुग्रह कर प्रचलित किया गया है ।*

पाण्डु के उपरोक्त वचनों से यह पता चलता है कि महाभारत-काल में उत्तर कुट्ट-प्रदेश में, स्त्री के सतीरव-सम्बन्धी नियम लिखित थे । इस प्रदेश के राजा को स्थानीय विधियों या धर्मों को प्रमाण मानकर मान्यता देनी पड़ती थी । वह केवल इसलिए कि इन रुढ़ियों ने विश्व का स्मान ले लिया था ।

*—प्रमात्ययो धर्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः ।

उत्तरेषु च श्रमोद । कुलम्बयसि पूज्यते ॥

श्लो० ७ अ० १२२, आदि० २० ।

श्रीश्रीमनुमहर्षयः स हि धर्मः सनातनः ॥

श्लो० ८ अ० १२२, आदि० २० ।

कारणों ने भी ऐसे धर्मों की ओर संकेत किया है । उनका कथन है कि मद्रदेश और बाह्लीक देश के लोगों के आचार निन्दनीय हैं । यहाँ के निवासियों के जीवन-सम्बन्धी कुछ ऐसे विशेष नियम हैं जो भारत के अन्य प्रदेशों में नहीं पाए जाते । कर्ण ने मद्रदेश के राजा सत्य के समक्ष बाह्लीक देश में प्रचलित कुछ ऐसी विशेष प्रथाओं या रीतियों का वर्णन (जो उन्होंने एक बाह्लीक के मुख से सुनी थीं और जो अन्य देशों में नहीं पाई जाती थीं) किया है—यह बर्तान महाभारत के कर्ण-पर्व के चत्वारसीसवें तथा पैंतालीसवें अध्याय में दिया गया है । यद्यपि इस प्रसंग में कर्ण ने मद्रदेश के राजा सत्य को लज्जित करने के हेतु बाह्लीक देश के आचार की ओर निम्ना करते हुए यह सब कहा है परन्तु यह बात निश्चित है कि इन प्रदेशों में कुछ ऐसे स्थानीय धर्म थे जो अन्य प्रदेशों में नहीं पाए जाते थे । वहाँ के राजा की इन स्थानीय धर्मों या देश-धर्मों को प्रमाण मानकर मान्यता देनी पड़ती थी ।

रामायण में भी इस विषय पर अहाँ-तहाँ कुछ प्रमाण प्राप्त हैं । रामायण के भरण्य काण्ड में यह विवशताया गया है ■ राम धनुष-बाण से मुसज्जित हो वन की ओर प्रस्थान कर रहे थे । ऐसे प्रसंग पर सीता उन्हें समझाती हुई कहती हैं—अजिय इसलिए धनुष धारण करते हैं कि कोई दुसी धृकार न करे । आपको सिखा नहीं वेदी हैं, धनुष लेकर अनपराधी प्राणियों की हिंसा माय न कीजिएगा । बिना अपराध के दण्ड-कारण्य में रहनेवाले राजसों को मारने की पाप इच्छा न कीजिएगा क्योंकि वीर, बिना अपराध के जो लोग मारते हैं उनकी प्रशंसा नहीं होती । शास्त्र और वन, अजिय धर्म और तपस्या यह परस्पर विशुद्ध हैं । अतएव हम लोगों को इनका आदर नहीं करना चाहिए, किन्तु देश-धर्म का आदर करना चाहिए ।^१ अयोध्या पहुँचकर पाप अजिय धर्म का अनुष्ठान कीजिएगा ।^२

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रामायण और महाभारत-

१—अ च सत्यं क च धर्मं अ चमं तपः क च ।

आविशमिदमस्मानिदं धर्मस्तु पुण्यताम् ॥

स्क० २७ सर्ग ३, अरण्य का० ।

२—दुर्नाथा स्वरोध्वावां दान धर्मं परिम्यसि ॥

स्क० २८ सर्ग ३, अरण्य का० ।

काल में विभिन्न मू-भागों में देश-कर्म प्रचलित थे जिनको राज्य प्रमाणित मान-मान्यता देना था और जिनका उल्लंघन करना महान् पाप समझा जाता था। राज्य का यह एक प्रधान कर्तव्य था कि वह देश-धर्मों के अनुकूल अपने राज्य की प्रजा को चलाए और उन व्यक्तियों को दण्ड दे जो इन देश-धर्मों को भंग करने का प्रयत्न करें अथवा इस बात का प्रचार करें।

श्रेणि वा गणधर्मः—प्राचीन भारत में मनुष्य का जीवन अपने-की-स्थानीय संस्थाओं के अन्तर्गत बिभक्त रहता था। ऐसे बहुत से जन-समुदाय थे जो मनुष्य जीवन के विभिन्न अंगों हे सम्बन्ध रखते थे जैसे गण, श्रेणी, संध, नैगमादि। इन संस्थाओं के प्रति राज्य हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण करता था। इसी कारण रामायण और महाभारत-काल में इस प्रकार के अपने-की-ऐसे जनसमुदाय एवं संस्थाएँ बन गई थीं जिनके आन्तरिक प्रबन्ध में राज्य उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता दिए हुए था। इस नीति का फल यह हुआ कि इन जन-समूहों एवं स्थानीय संस्थाओं को अपने आन्तरिक शासन-प्रबन्ध एवं स्वयं अपनी स्थिरता के लिए कुछ नियम बना लेना और उनके अनुसार अपने संगठित समुदाय के सदस्यों का जीवन डालेना आवश्यक प्रतीत हुआ। इस प्रकार इन जनसमूहों वा संस्थाओं ने जो नियम बनाए जन्हीं को उनके राज्य ने प्रमाणित समझकर मान्यता दी जिनके अनुसार यह नियम धर्म धारणा विधि के रूप में परिणत हो गए। इन्हीं विधियों को रामायण और महाभारत ने श्रेणिधर्म वा गणधर्म के नाम से सम्बोधित किया है।†

इस प्रकार यह बात सिद्ध होती है कि कुलधर्म, जातिधर्म, वैश्यधर्म, श्रेणि वा गणधर्म राज्य के धर्मों वा विधियों के मुख्य अंग थे। राजा राज्य को विधियों की रक्षा करने के लिए हर समय कटिबद्ध रहना पड़ता था। उसे इन धर्मों को प्रमाणिक मानकर मान्यता देनी होती थी। राजा को यह वैधानिक अधिकार था कि वह उन व्यक्तियों को दण्डित करे जो इन धर्मों के भंग करने का प्रयत्न करते हों।

आपद्धर्मः—ऊपर वर्णित विधियों के प्रतिरिक्त, रामायण और महाभारत-काल में कुछ ऐसे अन्य विधि भी थे, जो विशेष परिस्थिति

† — अथर्व धर्मसूत्र ॥

के उपस्थित होने पर जब कि साधारण विधि से काम नहीं चल सकता था तबु किए जाते थे । इस प्रकार के विधियों को आपद्धर्म कहते थे ।

इस सम्बन्ध में महाभारत में कई दुष्टान्त मिलते हैं । उनमें से एक इस प्रकार महाभारत में दिया गया है—शान्तनु पुत्र विचित्रवीर्य के निःसन्तान मृत्यु के उपरान्त कुशवंश को संसार में जीवित रखने के हेतु सत्यवती से आपद्धर्म के अनुसार भीष्म से विचित्रवीर्य की विधवा पत्नी में पुत्र उत्पन्न करने के लिए प्रस्ताव रखते हुए कहा—हे भीष्म ! कुशवंश में श्रेष्ठ धर्माल्सा यक्षस्वी शान्तनु की श्राद्धादि क्रिया, कीर्ति और वंश की स्थिति सब तेरे ऊपर हो बरलम्बित है । जिध प्रकार धुन कर्म करने से स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव होती है एवं सत्य के धामन्य से दीर्घायु होती है, उसी तरह तुममें धर्म ने वृक्षता के साथ स्थिति कर रखी है । मेरे विवाह के समय जो तूने प्रतिज्ञा की थी उसका मुझे भली भाँति स्मरण है; परन्तु आपद्धर्म को देखकर अपने वंश-परम्परा की रक्षा कर ।* हे ताव ! काशिराज की यह दोनो पुत्री सुन्दरी तेरे भाई की पत्नी हैं । यह बकी रूपवती और युवती हैं और पूष की कामना रखती हैं । हमारे कुल के बसाने के लिए तू हममें पुत्र उत्पन्न कर । हे महाबाहु ! मेरी आज्ञा से इस बाधिक विधि को तुझे करना पड़ेगा ।

भीष्म ने माता के इन बचनों की इस कारण धस्तीकार किया क्योंकि वह पुत्र उत्पन्न न करने के लिए पहले से ही बचनबद्ध थे । परन्तु उन्होंने अपनी माता को आपद्धर्म का सहारा लेने के लिए इस प्रकार कहा—हे राजा पृथ्वी पर शान्तनु की संतान प्रसव हो जाए इसके लिए मैं तुझे समाप्तन शापधर्म का उपदेश करता हूँ । आपद्धर्म के आनेवाले विद्वान् पुरोहितों के साथ झुनकर और संसार की रीति को देखकर तू उसका अनुसरण कर ।†

* —आशमि चवं सत्यं तन्ममूर्धं वरुण भाचिनम् ।

आपद्धर्म रक्षमायेत्य वह पैगामहीकुम्भ ॥

उद्यो० २२ अ० १०३, आदि १० ।

†—शान्तनोरपि संतानं यदा स्याद्वर्धयन्मुप ।

तर्ह भर्मे प्रवक्ष्यामि कार्यं राज्ञि जनतनम् ॥

उद्यो० २६ अ० १०५, आदि १० ।

इस प्रकार यह कथानक आपद्धर्म के भवत्व और उसके प्रचलन के सम्बन्ध में प्रमाण का काम करता है और यह बताता है कि जब अन्य धर्म से काम नहीं चलता या तो आपद्धर्म से काम लिया जाता था। इसी धर्म के अनुसार व्यास मुनि ने विजित्रवीर्य की विधवा पत्नियों में घृतराष्ट्र और पाण्डु को उत्पन्न किया। पाण्डु कुरुवंश का पार्ष्विक एवं लोकप्रसिद्ध राजा हुआ।

पाण्डु के पाँच पुत्र भी इसी विधि ■ अनुसार उत्पन्न किए गए थे। धर्म, इन्द्र और त्रापु न कुन्ती में क्रमशः युधिष्ठिर, भर्जुन और भीम को और मदनवीर्यकुमारों ने नकुल और सहदेव की माँ में इसी धर्म के अनुसार उत्पन्न किया था। राज्य के सामान्य विधि के अनुसार इन पाण्डुपुत्रों को अपने-अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता चाहिए था। उन्हें पाण्डु के राज प्राप्ति का कोई अधिकार न था। परन्तु आपद्धर्म के अनुसार वह पाण्डु के औरत पुत्र माने गए और उनमें से ज्येष्ठ युधिष्ठिर इस बात से कि वह पाण्डु का पुत्र है अपने पिता पाण्डु के राज्य का अधिकारी बना।

परन्तु इस विधि का भी निर्वाण राजा द्वारा नहीं होता था। वह या तो ऋषि-मुनियों द्वारा कहे गये व्यवहार वह सनातन ■ बने या रहे थे। राज्य को इन विधियों को प्रमाणित मानकर मान्यता देनी होती थी।

राज्य द्वारा विधि-निर्माणः—मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन उन विधियों के घलघलता या जाता है जिसका कि ऊपर बर्णन किया जा चुका है। इन विधियों के होते हुए मनुष्य जीवन का कोई भी भग ऐसा नहीं व्यवहार रह जाता जिसके नियमबद्ध करने के लिए नए विधि-निर्माण की आवश्यकता पड़ती। इसलिए राज्य द्वारा विधि-निर्माण के लिए हिन्दू युग में कोई अवसर ही न था। रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में एक भी ऐसा स्थल नहीं मिला है जहाँ राज्य ने इस ओर पक्ष-प्रेरणा किया हो। दोनों में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं प्राप्त हुआ है जो इस ओर संकेत ही कर सके कि उस युग में एक भी विधि राज्य द्वारा बनाया गया हो व्यवहार करने इस ओर प्रयत्न ■ किया हो।

धृष्टका तं प्रति पञ्चस्य प्राज्ञैः सह पुरोहितैः ।

आपद्धर्माभिस्तुल्यैर्लोकैर्लोकप्रसिद्धैः ॥

रत्नो० २७ अ० १०३, आदि २० ।

इसलिए राज्य में विधि निर्माण, विधि संशोधन अथवा विधि विलुप्त-
कार्य करने में राज्य को नहीं ■ बराबर अधिकार था । प्राचीन भारत
में राजा विधि-निर्माता न था । वह तो केवल विधिरक्षक था । राजा
को यह परम धर्म था कि वह इन विधियों की रक्षा करे । महाभारत-
कार ने इसी सिद्धान्त की स्मरण करने के लिए यह बतलाया है कि राजा
की सर्वप्रथम उत्पत्ति के समय ऋषियों ने राजा को सपथ लेने के लिए
इस प्रकार आदेश दिया था—हे परन्तप तुम मन, वचन, और कर्म से ऐसी
शपथ लो ■ दण्डनीति ■ अनुकूल जो नित्य धर्म भूषणों में बसाए हूँ
तुम उनका सर्वदा निःशंक होकर पालन करोगे और कभी स्वेच्छावारी
न होगे ।* इसके अतिरिक्त महाभारतकार ने राजा का यह भी परम
कर्तव्य बतलाया है कि वह उन लोगों को, धर्म को और दुष्टि रक्षक,
अपनी भुजाओं के तल से रक्षित करे जो मानव जगत् में धर्म (विधि)
के पालन करने से विचलित होते हैं ।†

हिन्दू राज्य में राजा को विधिनिर्माण के अधिकार से वंचित रखने
की प्रणाली ने राज्य में राजा को द्वितीय स्थान दिया और उसे विधि के
अधीन कर दिया । विधि का सर्वोच्च स्थान हो जाने से रामायण
और महाभारत काल में प्रजातन्त्र राज्य के सिद्धान्तों के पोषण-कार्य में
बड़ी सहायता मिली है । इस प्रकार की शासन प्रणाली के निर्माताओं
का मुख्य उद्देश्य राज्य में विधि की सर्वोच्च पद देना था । इस प्रणाली
से हिन्दू राज्य को प्रजातन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित करने में बड़ी
सहायता मिली है । इस राज्य में प्रत्येक वर्ग का उत्तरदायित्व विधि पर
निर्भर हो गया ।

* अतिशय आभिरोद्धस्य मनसा कर्मणा विरा ।

पात्रविध्वान्मयं भीमं ब्रह्म शूभेय चाभ्युद ।

स्क० १०६ अ० २६, श्लो० ५० ।

यस्मात्तु धर्मो विप्रोक्तो दृष्टान्तातिशयमभवत् ।

तन्महाशुः करिष्माभि स्व वशेन कदाचन ।

स्क० १०७ अ० २ श्लो० ५० ।

†—यश्च धर्मादिव्यक्तोक्ते करचन मानवः ।

निष्क्रान्ते स्वमाहूर्त्वा शरवद्दर्शमवेक्षता ।

स्क० १०८ अ० २६, श्लो० ५० ।

इस प्रकार राज्य का समस्त उत्तरदायित्व उस विधि-समूह पर (जिसका ■ राज्य द्वारा निर्माण न हुआ था) निर्भर हो जाने से रामायण एवं महाभारतकाल का हिन्दू राज्य प्रजातन्त्रात्मक राज्य में परिवर्तित हो गया। यह राज्य प्राक्काय सिद्धान्तों के आधार पर संगठित किए गए प्राच्यनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्य से भिन्न था। रामायण और महाभारत-काल के राजा के कर्तव्यों का क्षेत्र पूर्णतः विधि के द्वारा सीमित और निर्धारित था। यह इस विधि-निर्धारित सीमा के बाहर किसी भी छोटे-से-छोटे कार्य को भी नहीं कर सकता था। यह विधि के विरुद्ध ■ भी नहीं कर सकता था। यदि यह निर्धारित विधि के विरोध में संघर्ष भी भाषरण रखने का प्रयत्न करता तो यह भी दण्ड का भागी बन जाता था और उसे भी दण्ड भोगना पड़ता था। यह प्रणाली राजा के स्वेच्छाचार एवं उसकी निरंकुशता के रोकने के लिए एक सुगम योजना थी। इसलिए शासन के इस सिद्धान्त ने प्रजातन्त्रात्मक राज्य के कुलतत्वा-पूर्वक संचालन में बड़ा सहयोग दिया है।

षष्ठम अध्याय

जन-मत

यह एक घटन सिद्धान्त है कि प्रत्येक राज्य में वहाँ की जनता का उस राज्य की सरकार पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यह अपने समय के राजा के स्वेच्छाचार को रोकने में बहुत कुछ सहायक सिद्ध होता है। जन-मत की शक्ति का यह प्रभाव पड़ता है कि देश में प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं को स्वच्छन्दतापूर्वक काम करने का अवसर मिलता है। इस लिए राज्य में उचित एवं शक्तिशाली जन-मत का होना जनतन्त्रात्मक राज्य-निर्माण में एक महत्वपूर्ण अभाव की पूर्ति करता है। यदि यह बात सत्य है कि किसी देश में जनतन्त्रात्मक शासन की स्थापना के लिए उस देश की जनता में उचित एवं शक्तिशाली जन-मत का होना अनिवार्य है, तो रामायण और महाभारतान्तर्गत वर्णित राज्यों की जनता में इस ओर उपेक्षा नहीं की गई है। इन दोनों ग्रन्थों में इधर-उधर बिखरी हुई ऐसी शान्तिपूर्ण सामग्री प्राप्त है जिसके आधार पर पाठक इस बात से भली भाँति अवगत हो जाता है कि उस युग के कई राजाओं ने ऐसे काम ठाने जिनके विरोध में उस समय का जन-मत था। अतः वह राजाएँ उन कार्यों के करने में सफल रहें। इन राजाओं में इतना सहस्र न हुआ कि वह जनता की उपेक्षा कर अपनी अभिलाषाओं को पूरा कर सकें।

इस सम्बंध में रामायण में एक कथा का उल्लेख है—प्राचीन काल में अयोध्या का एक प्रसिद्ध एवं प्रतापी राजा मगर हुआ है वह अपने

अभाव एवं बल,पौष के हेतु अगत्वसिद्ध था । उसका ज्येष्ठ पुत्र
असमंज नाम का था । वह अयोध्या नगरी के वासक और भानिकाओं
को पकड़ कर सरयू नदी के तट में फेंक देता और उन्हें असमान
होते देख आनन्द का अनुभव करता था और प्रसन्न होता था । इससे
नगरवासी बहुत क्रुद्ध हु और वह जाकर राजा से बोले—
महाराज, या तो आप एक असमंज को लेकर रहिए या हम लोगों
को । राजा के द्वारा पूछे जाने ■ प्रजा इस प्रकार बोली—हम लोगों
के छोटे-छोटे प्रज्ञान बालकों को वह पकड़ कर सरयू में फेंकता है
और तुल्यभाव इसी से प्रसन्न होता है । प्रजा की यह बात सुनकर
उस राजा ने प्रजा के कल्याण के लिए अपने अधिकारी पुत्र का स्वाग
किया । स्त्री तथा नौकर-पाकरों के साथ असमंज को रथ पर बद्ध कर
मावज्जीवन के लिए पिता ने निर्वर्तन की आज्ञा दी । कुवारी और
खाँसी लेकर सब दिशाओं में घूमते हुए वापी असमंज ने पर्वतों
को देखा ।

१—स च ज्येष्ठो नरलोकः सगरस्याससम्भवः ।

पक्षाग्न्युदीरका तु ज्येष्ठे सरय्या रघुतम्यम् ॥

स्क० १०, सर्ग ३८, अथ० अ० ।

असमंजो शुहीरका तु अधिकृतः पथिकारकान् ।

सरय्यां प्रक्षिपन्नुत्सृज्यते तेन दुर्मतिः ॥

स्क० १६ सर्ग ३१, अथ० का० १

२—अं कष्टवा नागराः सर्वे क्रुद्धा राक्षानमनुवृणु ।

असमंजं हृत्वीर्यैकमस्माभ्या राटूवर्धन ॥

स्क० २ सर्ग ३६, अथ० का० ।

चातुषाच तपो रात्रा किं निमित्तमिदं भयम् ।

सप्रेत्यपि रात्रा संशुद्धा वाक्यं प्रकृतवो अहम् ॥

स्क० २१ सर्ग ३६, अथ० अ० ।

कीदृशस्त्वेवमः पुत्राभ्याञ्चातुषाच्येवतसः ।

सप्रेत्यपि रात्रिपन्मौक्यावसुजां प्रीतिमरुतो ॥

स्क० २२ सर्ग ३६, अथ० अ० ।

स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतोर्न नराधिपः ।

अं तत्प्राप्तार्थिर्न पुत्रं वासवं प्रियकिरीर्धवा ॥

स्क० २३ सर्ग ३६, अथ० का० ।

रामायण में इसी विषय का पोषक एक और उदाहरण मिलता है यह उदाहरण इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि रामायण-काल में जन-मत का प्रभाव इतना गहन था कि इसके विरोध करने पर उसमें शासक को भी अपने पद की स्थिर रखना असम्भव था । पिता की आज्ञानुसार राम ने दण्डकारण्य के निमित्त प्रस्थान किया । सुमंत्र उन्हें रात्र पर बिठाकर कुछ दूर पहुँचाने जाते हैं । गंगा की के किनारे पहुँचकर राम ने उन्हें रात्र सहित बिदा कर दिया । पवित्र गंगा घाट पर सुमंत्र अयोध्या की ओर प्रस्थान करने के लिए सड़े हो गए । ऐसे समय में लक्ष्मण अपने भतीजों को रोक न सके वह इस अवसर पर यह अनुभव कर रहे थे कि राजा दशरथ ने प्रजा के परम प्रिय और परम हितैषी राम को प्रजा की मादनाओं की कुचल कर देश निकाला दिया है, ऐसी दशा में दशरथ प्रजा का विरोध कर अयोध्या ■ राजा किस प्रकार रह सकते हैं ? वे इस अवसर पर इस ओर संकेत करते हुए कहते हैं—रामचन्द्र सबसे प्रिय हैं, राजा ने उनका निर्वासन किया है । भले ही राजा औरों का हित करें पर उनका यही एक काम ऐसा है जिससे कोई भी उन पर अनुराग नहीं कर सकता । समस्त प्रजा के प्रिय धार्मिक रामचन्द्र को यत्न में भेज कर राजा न जनका विरोध किया है फिर, भला वह राजा कैसे रह सकते हैं ? *

दूसरे स्थल पर राजा दशरथ स्वयं अपने राज्य में विरोधी जन-मत

न भानं शीघ्रमारेष्य समाप्तं सपरिच्छिन्नम् ।

पापजीवं विहास्योऽनिति तान्मन्त्रातिपत्ता ॥

रत्नो० २४ सर्ग ३६, अयो० का० ।

स पापपितृकं गृहं गिरिगुहं विपरीतम् ।

दिशः सर्वास्तनुचरन्त्य यथा पापकर्मकृत् ॥

रत्नो० २५ सर्ग ३६ अयो० का० ।

*—सर्वलोकाधिपं त्यक्त्वा सर्वलोकाहिते गते ।

सर्व लोकोऽनुसंवेगं कथं चामेव कर्मणा ॥

रत्नो० ३२ सर्ग ५८, अयो० का० ।

सर्वप्रधाधिरामं हि रामे मत्ताञ्ज धार्मिकम् ।

सर्वलोकाहितेन कथं रामो भविष्यति ॥

रत्नो० ३३ सर्ग ५८, अयो० का० ।

से समझीत होते हुए विकसाए गए हैं। वह इस भय की ओर संकेत करते हुए अपनी राणी कैकेयी को जलाह्वान देते हुए कहते हैं—बहुत विचार के पश्चात् मैंने यह निश्चय किया है और यिों से भी सम्मति ले ली है। अब यदि मैं हटूँ तो राष्ट्र-खेद से भगी सेना के समान देश-देशान्तरों से भाए हुए राजा मेरी बुद्धि को शय्य कहेंगे। वह तो गही कहेंगे न कि स्त्री के शय्य में होकर इसकी बुद्धि भी नष्ट हो गई है। वासक रामचन्द्र कैलाश राज्य पालन करते हैं। गुरुमान और बहुभुत मनेक विद्वान् भाकर मुझसे रामचन्द्र के सम्बन्ध में पूछेंगे तो मैं उनसे क्या कहूँगा ?†

इसके भाषे एक और उदाहरण इसी सिद्धान्त का पोषण करने-वाला रामायण में उपलब्ध है वह इस प्रकार है—राजा दशरथ का श्वातक निधन हो जाता है। उनके स्थान में किसीको राजा बनाया जाय यह एक जटिल समस्या लोगों के समक्ष प्रस्तुत हो जाती है। बहुत बाद-विवाद के उपरान्त यह निश्चय होता है कि भरत को उनके मणिहास से भुलावा जाय। इस निर्णय के अनुसार भरत भयोध्या बुलाए जाते हैं। भयोध्या नगरी में उनकी प्रवेष्टा होता है परन्तु भयोध्यावासी भरत के स्वागत के लिए अपने घरों से बाहर नहीं निकलते। कोई भी उन्हें दण्ड प्रणाम करता हुआ दिखाई नहीं पड़ता है। सबसे जन उदासीन दिखाई पड़ते हैं। नगर की सड़कें एवं अन्य मार्ग जैसे भीर बिना बुझाये पड़े हैं। भयोध्या नगरी भूत-प्रेतों की नगरी सी दिखाई पड़ती है। इस परिस्थिति को देखकर भरत आश्चर्य में पड़ जाते हैं; परन्तु भागे चल कर उन्हें इस प्रादुर्भावजनक परिवर्तन के कारणों का

† --कथं वृक्षान्मपावृष्टां परिरिच हतां चभूमः ।

किं सौ वृक्षान्मि राजानो नानादिभ्यः समागतः ॥

इतो० ६४ सर्ग १२, अयो० का० ।

वाञ्छो वनायसंभवा कश्चिदं राज्यमक्षरधरः ।

यदाहि गच्छो भुङ्क्ते गुणवन्तो बहुभुताः ।

इतो० ६५ सर्ग १२, अयो० का० ।

परिप्रचयन्ति काकुत्स्थं यथाशमीह कथं तदा ।

कैकेय्या विकारयमानेन पुत्रा प्रभावितो मया ॥

इतो० ६६ सर्ग १२, अयो० का० ।

भली भाँति बोध होता है । तब उन्हें इस बात का पता चलता है कि यह सारा परिणतन प्रजा ■ विचारों में परिवर्तन का ज्ञान से हुआ है । विद्वान् भरत इस घंभीर रहस्य को समझ लेते हैं और प्रजा के मुखमंडल के अवलोकन करने पर इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि प्रजा ने उनके संबंध में अमात्मक धारणा बना ली है । वह यह समझने लगी है कि अयोध्या का राज्य पाने के लिए यह पक्षबंध रचा गया है जिससे राम वन भेजे गए और मुझे राज्य मिलेगा । इस पक्षबंध में अंतस्ताप में मैं हूँ । इस प्रकार भरत ने यह भली भाँति समझ लिया कि अयोध्या राज्य में जन-मत्त उनके विरुद्ध बन गया है । प्रजा का यह विरोध भरत और राज्य दोनों का घातक सिद्ध होगा । इसी कारण भरत अयोध्या की प्रजा ■ समक्ष अपने हृदय की पवित्रता और अपने को निर्दोषी सिद्ध करने के लिये बड़े उत्पुङ्ग ■ जाते हैं । उनकी सबसे प्रबल उत्कण्ठा एवं व्याकुलता इस बात की थी कि वह अयोध्या राज्य के प्रत्येक नागरिक के समक्ष यह सिद्ध कर सकवे कि राम के वन-गमन में वह नितान्त निर्दोष है ।

इसमें सन्देह नहीं कि अयोध्या की राजगद्दी पाने के लिये भरत का हृदय संशयान भी विचलित न हुआ था । वह इस बात को कभी भी सहन न कर सकते थे कि वह राम को अयोध्या के राज्याधिकार से वंचित कर स्वयं राजा बन जाते । भरत के हृदय में राम के लिये प्रेम और धार का बहुत ऊँचा स्थान था । भरत का आचरण इतना अनुकरणीय था कि उन पर कभी भी यह आक्षेप करने की संका नहीं की जा सकती कि राम के वन-गमन में भरत की सम्मति थी किन्तु यह भी कहना किसी भी तर्क उचित ही होगा कि जनमत का भी प्रभाव भरत पर पड़ा होगा । यही कारण है कि जैसे ही भरत ■ राज्याधिकार सम्बन्धी प्रस्ताव को उनके सामने प्रस्तुत किया, गया भरत ने तुरन्त उसे अस्वीकार किया । सभा, राजपुरु, मन्त्रिपरिषद् के सदस्य और राजकर्ता सभी इस बात पर सहमत थे कि भरत को राम की अनुपस्थिति में राजा बनाया जाय । परन्तु भरत ने दृढ़तापूर्वक इस प्रस्ताव का विरोध

१.—विना आश्रय से दूध हस्त्य निदिग कंटकम् ।

नृपुङ्गव भुवितामात्यः चित्रमेवाभिचक्ष्य ॥

रजो० • सर्ग ८२, अयो० का० ।

किया।* भरत के सामने सबसे गहन प्रश्न यह था कि अयोध्या राज्य की प्रजा में अनमत कैसे बढ़ता जाय, और उसे भरत के पक्ष में कैसे लाया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भरत समा के सदस्यों की बड़ी बैठक में यह निश्चय करते हैं कि वह राम को मनाने और उन्हें अयोध्या का राज्य पुनः जीपने के लिये पत्र आएँगे। भरत के इस निश्चय का यह परिणाम हुआ कि प्रजा के हृदय में भरत के प्रति अन्ध श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न हो गई,† जिसका फल यह हुआ कि भरत राम के अनुपस्थिति-काल में चौदह वर्ष तक अयोध्या राज्य के शासन की बागदोर सफलतापूर्वक धारण किए रहे।

इस प्रकार रामायण-काल में राजा सभी तक निर्भय होकर अपने पद पर रह सकता था जब तक प्रजा उस राजा को योग्य शासक समझती थी। उसे उसी समय अपना राज-पद त्याग देना पड़ता था जैसे उसे यह बात निश्चित हो जाती थी कि उसके राज्य में अनमत उसका विरोधी है। इस संकट से बचने का केवल एक ही मार्ग था और वह यह था कि वह अपने भ्रष्टाचार एवं व्यवहार को इस प्रकार सुधार ले कि जिससे अनमत उसके अनुकूल बन जाए। ऐसा करने से वह पुनः अपनी पूर्व प्रतिष्ठा एवं पद को प्राप्त करने में सफल हो सकेगा।

रामायण के किष्किन्धा काण्ड में किष्किन्धा का राजा वालि मृत्यु-शीघ्र पर पड़ा हुआ है। वह राम पर युद्ध के निधर्मे के उत्सर्जन करने का दोषारोपण करता हुआ कहता है—काकुत्स्थ धनपराधी मूढको बाण से मार कर राजानों के बीच में क्या कहोगे ? इस निमित्त कयं का संमर्धन कैसे करोगे ?‡ वालि के इस कथन से इस बात का पता चलता

*—कयं दशरथाज्जातो भवेत्तान्धवपहातरकः ।

राज्यं चाहं च रामस्य धर्मैकमुनिहाहेति ॥

श्लो० १२ सर्ग ८२, अयो० का० ।

†—वाः प्रहृष्टाः प्रकृतया वक्ष्याम्यथा वक्षस्व च ।

धृतरा वाचां समाश्रयां रामवस्य निवर्तये ॥

श्लो० २४, सर्ग ८२, अयो० का० ।

‡—हत्वा वाचैन काकुत्स्थ मासिदानपराधिकम् ।

■ कयसि सता मयं कम् कृत्वा जुगुप्सितम् ॥

श्लो० ३५ सर्ग १७, किष्कि० का० ।

है ■ किष्किन्धा-राज्य में जनमत का विशेष ध्यान रखा जाता था । इस जनमत के होते हुए राजा की स्वेच्छाकारी होने में बड़ा प्रतिबन्ध था ।

रामायण के भरष्य-काण्ड में यह बख़्त किया गया है कि ■ जनमत से कितना प्रयत्नीत हो रहे थे । सीता-हरण के कारण राम बड़े दुःखी थे । उनके लिए अपनी पवित्र धर्म-पत्नी सीता का उनसे अमानक धूल से प्रणम कर लेना वास्तव में बड़े असह्य दुःख की कारण था । परन्तु इससे भी अधिक वेदना उन्हें इस बात की स्मरण कर होती थी कि शयोध्या की अवस्था में उनके प्रति कैसा प्रभाव पड़ेगा । इस प्रभाव से वह इतना भयभीत हो गये थे कि वह सीता के बिना शयोध्या जाने का साहस नहीं करते थे । वह इस प्रश्न पर प्रतीत होकर इस प्रकार विलाप करते हैं—सीता के बिना मैं अपने महलों में कैसे जाऊँगा, लोग मुझे बलहीन और निर्दय कहेंगे । † सीता के मृत हो जाने में मेरी शरीरता प्रकाशित हो जायगी । ‡ भरत ■ द्वारा पालित उस नगरी में मैं जाऊँगा ही नहीं ।+ इस प्रकार जनमत के भय से राम कैसा बीर, बीर और साहसी बौद्धा किर्तव्य ही कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय करने में व्यामोह में पड़ जाता है । वह ऐसे कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं जो उनके लिये अनुचित हैं । इस घटना के पूर्व सम्भवतः राम ने अपनी विमाता कंकेयी के लिए सम्मानसूचक सव्यों का कभी भी प्रयोग न किया था । उन्होंने अपने प्राणों की साखी लगाकर अपनी विमाता के श्रावण को सहर्ष स्वीकार कर चौबहु वयं के लिए मनवास धर्मीकार कर लिया था । परन्तु वह इस स्थल पर घनायास अपनी उसी माता के प्रति कठोर सभ्यता का प्रयोग करते हुए दिखाये गये हैं । राम विमाप करते हुए कहते हैं—हाम ! याज मेरी माता कंकेयी का मनोरथ पूरा होगा, जब

†—अथ नाम प्रवेष्टवामि शुश्रूषमन्तःपुरं मम ।

निर्बिर्ब इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥

श्लो० ११ सर्ग ६२, भरष्य का० ।

‡—कागरस्य प्रकाशं हि सीतापवनबलेन मे ।

श्लो० १२ सर्ग ६२, भरष्य का० ।

+—अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपाक्षिताम् ॥

श्लो० १४ सर्ग ६२, भरष्य का० ।

सीता के साथ भयोप्या से निकलत हुआ मैं सीता के बिना भयोप्या में प्रवेश करूँगा ।*

रामचन्द्र के उपरान्त सीता बंधन से मुक्त हो जाती हैं और विभीषण के भावेष्टानुसार आदरपूर्वक अपने पति श्री रामचन्द्र के सामने खड़ी जाती हैं । हृदय-प्रिया सीता रामचन्द्र के समीप खड़ी हैं उनको देखकर तथा जनापवाद का ध्यान करके उनके हृदय के दो दुकड़े हो जाते हैं ।† परन्तु अपने हृदय के दोनों को रोक कर वह सीता के प्रति उमेसा प्रकट करते हैं और निरान्त उर्वेशा को वृष्टि से देखकर कहते हैं—अपने चरित्र की रक्षा करते हुए तथा अपने प्रसिद्ध कुसका कर्लक हटाते हुए यह बुद्ध मैंने अपने मित्रों के पराक्रम से जीता है ।‡ तुम्हारे चरित्र में सन्देह का अवसर उपस्थित हुआ है और तुम हमारे सामने खड़ी हो । याँवों के रोगी को जिस प्रकार दीपक बुझा सगता है, उसी प्रकार तुम भी बुरी लगती हो ।+ ऐ जनक-पुत्री ! तुम जहाँ चाहो जाओ, मैं तुम्हें अनुमति देता हूँ । यह इसी विद्यामें लुपी पड़ी है । भन भूकें तुम्हारा काम नहीं है ।X उस समय प्रलय काल के भन-राज के सपान भयंकर रामचन्द्र से कोई उनका भित्र कुछ कह नहीं

*—इा सक्रमाय केकेपी वेधि मेऽद्य भविष्यति ।

सीतया सह विर्धतो दिता सीतामुपागता ॥

श्लो० १० सर्ग ६१, अरण्य का० ।

†—परवतस्थां तु रामस्य समीपे हृदयप्रियाम् ।

जनवादभयाद्गच्छति बभूव हृदयं द्विधा ॥

श्लो० ११ सर्ग ११२, बुद्ध का० ।

‡—रक्षता तु सया वृत्तमग्राहं च सर्वतः ।

प्रक्यातस्वरामबंधस्य म्मर्द्धं च परिमार्जिता ॥

श्लो० १२ सर्ग ११५, बुद्ध का० ।

+—प्रासचाग्निश्लेष्ठा मम प्रतिमुखोत्थिता ।

क्षीपो नेत्रातुस्त्येव प्रतिकूलारति मे भवति ॥

श्लो० १७ सर्ग ११५, बुद्ध का० ।

X—तद्वाक्कृतवानुत्तमेऽद्य यथेष्टं जम्बकात्मजे ।

गतावदितो भद्रे कार्यमस्ति न मेखया ॥

श्लो० १८ सर्ग ११५, बुद्ध का० ।

सकता था, न उनकी ओर देस सकता था और न उनसे कोई प्रार्थना ही कर सकता था ।*

जो राम सीता के वियोग में समय-समय पर पागल हो जाते थे, जिन्हें सीता के बिना सरा भर भी जीवित रहना असहनीय था, उन्होंने राम का अपनी परम-प्रिया के प्रति इस प्रकार का व्यवहार लोगों को आश्चर्य में डालता है। परन्तु यह सारा आश्चर्य जनमत के मय से किया गया था। सीता की अग्नि-परीक्षा होती है जिसमें वह पवित्र सिद्ध होती है। मनुष्य ही नहीं बरन् देवगण तक राम से अनुरोध करते हुये कहते हैं कि सीता निर्दोष है। उसका अरिब बहकती हुई अग्नि के समान उज्ज्वल है, राम को सीता को अपना लेना चाहिये। जब राम इस बात से पूर्णतयः संतुष्ट हो जाते हैं कि जनमत सीता की पवित्रता के पक्ष में है, राम सीता को स्वीकार कर लेते हैं और तब अपने रहस्य-पूर्ण विचारों को लोगों के सामने प्रस्तुत करते हैं।

वह कहते हैं—सीता की पवित्रता की परीक्षा लोगों के लिए आवश्यक थी, क्योंकि वह बहुत दिनों तक रावण के घर में रही हैं। सीता की पवित्रता की परीक्षा यदि मैं न लेता तो लोग मेरे लिए यही कहते कि यह दखल-पुत्र कामी है! भूल है!† विद्यासाक्षी सीता स्वयं अपने तेज से रक्षित थीं।‡ परन्तु उन्होंने सीता की अग्नि-परीक्षा केवल इसीलिए लोगों के समक्ष की कि जनता यह समझ सके कि राम ने सीता को उसकी पवित्रता देखकर प्रीति-परीक्षा किया है।

*—नहि रामे तदा कश्चित्कालान्तकमप्यमम् ।

अनुनेत्यप्ये वक्तुं ब्रह्म वाप्यसमस्तसुहृत् ॥

रत्नो० २२ सर्ग ११३, युद्ध का० ।

†—अकथं चापि ओषेसु सीता पावनमर्हति ।

वीर्यकाजोविता हीमं रावणान्तःपुरे शुभा ॥

रत्नो० १३ सर्ग ११८, युद्ध का० ।

‡—आक्षिप्तोक्त कामाख्या रामो वररथात्मजः ।

इति दयवतिमर्त्ता ओको जायमीमिश्रोप्यति ॥

रत्नो० १४ सर्ग ११८, युद्ध का० ।

‡—हमामपि विद्यादात्रीं रक्षितं स्वमतेज सर ॥

रत्नो० १३ सर्ग ११८, युद्ध का० ।

रामायण में एक और अनंत उदाहरण इसी सम्बन्ध में दिया हुआ है। यह उदाहरण भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि रामायण-काल में जनमत राजा पर गहरी प्रभाव डालता था। रामायण के अन्तर्गत राम के मुँह से अनन्त बार सीता के सम्बन्ध में उनके हृदय के भाव प्रकट किए गए हैं, उन्होंने इस बात की स्वीकार किया है कि सीता उन्हें प्राप्त से भी प्यारी थीं। सीता ■ बिना उनका जीवन मीरस और प्रहसिकर था। सीता के निर्मिश यह बड़े-से-बड़े वैभव को त्याग सकते थे। उनके चरित्र की पवित्रता में उन्हें तनिक भी कन्देह न था। ■ अयोध्या के प्रतिष्ठित राजा राम की पक्षगिनी थीं। प्रजा ने उन्हें अपनी रानी माना था। राम के राज्यभिवेक के अवसर पर राम के अभि-वक के साथ-साथ उनका भी अभिवेचन विधिपूर्वक हुआ था। ऐसी प्यारी पवित्र सीता का केवल इसलिए कि उनके आचरण के सम्बन्ध में कुछ लोगों में भ्रम होने लगा था, राम को परित्याग करना पड़ा। यद्यपि उनका हृदय इस बात से कदापि सहमत न था कि सीता का आचरण सम्यक्जनक है। सीता का परित्याग करते समय उन्हें बड़ी वेदना हुई जिसे उन्होंने अपने हृदयस्मरण में छिपा रखा था। यह सब होते हुए भी राम जैसे लोकप्रिय राजा में इसनी सामर्थ्य न थी कि वह जनता का विरोध कर अपनी परम पवित्र, सम्पत्ती सीता को राज्यमहलों में शरण दे सके। उन्हें सीता को ऐसे समय पर त्यागना पड़ा जबकि वह गमिणी थीं। इस उदाहरण का बखूब संक्षेप में इस प्रकार है।

रामायण में दिया गया है—एक बार राम ने भद्र नामक व्यक्ति से पूछा—मेरे विषय में, सीता के विषय में तथा भरत और लक्ष्मण के विषय में अगर और राष्ट्रवासी जन क्या कहते हैं ? ■ लोगों के विषय में उनका कैसा मत है ? * सचमुच तथा माता कैकेयी के विषय में उनका क्या मत है ? क्योंकि जनवासी तथा राज्यवासी राजाओं की निन्दा होती है ।†

*—ममाभिरावि काम्याहुः पौरुषानपराजयतः ।

किं च सीतां साराभिरुप्य भरतं किं च भक्तमहम् ॥

रक्तो० ५ सर्ग ४३, ३० का० ।

†—किं नु सचमुचमुद्दिश्य कैकेयीं किं नु मातरम् ।

पुत्रमर्ता च राजानो बने राज्ये भवन्ति च ॥

रक्तो० ६ सर्ग ४३, ३० का० ।

रामचन्द्र के पुष्पने पर अन्न हाथ जोड़ कर बोला—राजन् पुर-
वासियों की बातें खूब हैं, कोई धारकी निन्हा नहीं करता ।* पुष्प-
सेष्ठ, श्यामल के धध से प्राप्त यह विजय मयूरवासियों के द्वारा
प्रशिक्षता से गार्ह जाती है ।† भद्र के ऐसा कहने पर राम पुनः बोले—
ओ कुछ बातें हों सब ठीक-ठीक कह दो ।‡ मच्छी या बुरी जो बात
नगरवासी कहते ■ वह कहो । § मच्छी बातें कर्कश और बुरी छोड़
दूंगा ॥

रामचन्द्र के ऐसा कहने पर सावधान होकर हाथ जोड़कर भद्र
सभूर स्वर में बोला—राजन् सुनिये, नगरवासी जीसम में, बाजार में
गलियों में, गम में, उपवन में जो मच्छी-बुरी बातें कहते हैं वह
सुनिये । ॥ मुख में राक्षस को मार कर रामचन्द्र सीता को जे धाखे
धीरे क्रोध न करके उन्होंने उसे घर में रज भिया । ॥ रामचन्द्र के
हृदय में सीता के सम्मोग का मुक्त बहबल हुआ है । जिसे योग में

*—एवमुक्ते तु रामेण ममः प्रीतिरित्यपीह ।

निवृत्ताः ह्यभाः कथा राजावर्तन्ते पुरवासिनाम् ॥

श्लो० ७ सर्ग ४३, उ० का० ।

†—अथ तु विजयं सौम्यं दशमीपवधार्थितम् ।

भूमिर्धं एवपुरे वीरः अभ्यन्ते पुनर्वर्षम् ॥

श्लो० ८ सर्ग ४३, उ० का० ।

‡—अमृतास्तु भवेयं रामयो वाक्पयमप्रवीत् ।

कथयस्व वधातत्वं सर्वं विरचयेदृता ॥

श्लो० ९ सर्ग ४३, उ० का० ।

§—कुमाह्वयानि वाक्पयानि काम्पाहुः पुरवासिनाः ।

कुत्सेदानीं दृष्टं कुर्वं न कुर्मामह्वयानि च ॥

श्लो० १० सर्ग ४३, उ० का० ।

■—अमुं राजकन्यां वीरः कथयन्ति कुमाह्वयम् ।

कथावाच्यमस्मात्तु धमेयुषमेव च ॥

श्लो० ११ सर्ग ४३, उ० का० ।

§—इति च रामवर्षं संकथे सीतामहृत्य रामवः ।

कर्मवर्षं वृत्तः कुत्सेदा स्वदेवस्य पुनरावत् ॥

श्लो० १२ सर्ग ४३, उ० का० ।

उठाकर रावण बसपूर्वक से गया,* जो लंका में गयी और जयोकवाटिका में राक्षसों के अधीन होकर रही उसको रामचन्द्र ने विन्दित नहीं समझा। उसका त्याग नहीं किया।† प्रथम हम लोगों को स्त्रियों के सम्बन्ध की भी ऐसी बातें सझा होंगी, वह नुरी नहीं समझी जाएगी क्योंकि राजा जो करता है प्रजा उसी का अनुकरण करती है। रामानु संनस्त नगर में तथा रावण में इसी प्रकार की बनेक बातें लोग कहते हैं।‡

मित्रों को विवा करके विचार करके राम ने कर्तव्य विधिस्त किया। तन्हीं आह्वयों को बुलवाया। उन लोगों ने शोधतापूर्वक जाकर रामचन्द्र के चरणों में प्रणाम किया और वह सावधानी से लड़े हो गए। रामचन्द्र केवल भाँसू भरसाते रहे।+

आह्वयों का यथास्थान बैठ आने के उपरान्त रामचन्द्र उनसे बोले। इस समय रामचन्द्र का मुल स्थान हो गया था (भुञ्जेतपरिशुष्यता) सीता के सम्बन्ध में पुरवासियों में जो बात फैली हुई है वह भाप लोग मुझसे सुनें। पुरवासियों और राष्ट्रवासियों ने मेरा अपवाद फैला दिया है। मेरी बड़ी निन्दा हो रही है जिससे मेरा हृदय फटा जा रहा है।× वस्तु तम जानते हो सीता को निर्वन दण्डक बन से रावण हर

*—कीरमां हृदये तस्व सीता र्भोगार्ज सुकम।

अहमारीष्य तु पुरा रामयेव वखायताम्॥

श्लो० १७ सर्ग ४६, अ० का० १

†—अंकादपि पुरा नीतामशोकवनिर्धं गताम्।

रक्षसां वशमापन्नां कथं रामो न कुत्स्यति ॥

श्लो० १८ सर्ग ४६, अ० का० १

‡—अस्माकमपि दारेषु स्तूनीयं भविष्यति।

यथा हि कुक्करो रक्षा प्रजास्तमनुवर्तते ॥

श्लो० १९ सर्ग ४६, अ० का० १

+—रामस्त्वञ्जुवचर्तयत्।

श्लो० १७ सर्ग ४६, अ० का० १

×—पीतामहादः कुमडोस्तथा जमपदस्थ च।

वर्तते मयि कीमत्तर सा मे ममोषि कुम्भति ॥

श्लो० २ सर्ग ४६, अ० का० १

ले गया था । इसीसे मैंने रावण का नाश किया । उस समय अपनी बुद्धि का विश्वास दिवाने के लिए सीता ने अग्नि में प्रवेश किया । तक्षक, तुम्हारे और देवताओं ॥ तामने अग्नि ने सीता को निष्पाप कहा है । प्राकाशकारी वायु ने भी इसे निष्पाप कहा है । देवता और ऋषियों के तामने चन्द्रमा और सूर्य ने इसे निष्पाप कहा ।* इस प्रकार शुद्ध भावरणवाली सीता को इन्द्र ने देवता और गन्धर्वों के सामने छंका द्वीप में मुझे सौंपा । मेरी अन्तरात्मा भी यक्षस्त्रिणी सीता को कुछ समझती है ।† पर यह निन्दा बहुत बड़ी है ; इससे मुझे दुःख भी है । पुराणियों तथा राष्ट्रवासियों में फैली यह निन्दा बड़ी अयंकर है । अब इस प्रकार मैं शोक समुद्र में पड़ा हूँ, प्राय लोग मुझे देखें, मेरी रक्षा करें ।‡ इससे अधिक कोई अन्य दुःख मुझे हुआ या यह मैं नहीं जानता ।+ अतएव तक्षक कस सुमंत्र के रथ पर सवार होकर तथा सीता को उस में बिठा कर अपने राज्य के बाहर जाकर छोड़ जाओ ।x

*—प्रवयार्यो तता सीता विवेक उपजनं तदा ।

प्रयत्नं तत्र सौ मित्रे देवतानां ह्यवकाहनः ॥

श्लो० ७ सर्ग ४२, उ० का० ।

अवापी मैथिलीमाह वायुदेवाकाशगोचरः ।

चन्द्रादित्यौ च तसेते मुरम्भा संनिधौपुरा ॥

श्लो० ८ सर्ग ४२, उ० का० ।

†—अज्ञा द्वीपे महोद्वेग मम हस्ते निवेदिता ।

अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुभां यक्षस्त्रिणीम् ॥

श्लो० १० सर्ग ४२, उ० का० ।

‡—अपवावभयाङ्गीताः किं पुनर्जनकात्मजान् ।

तत्प्राप्तवन्तः परमम् पतित्रं शोकसागरे ॥

श्लो० १२ सर्ग ४२, उ० का० ।

+—त हि परममर्हं भूतं किंचिद्दुःखममताऽधिकम् ।

श्लो० १३ सर्ग ४२, उ० का० ।

x -- त्वत्सर्वं प्रभाते सौमित्रे सुमंत्राचिच्छितं दयम् ॥

श्लो० १४, सर्ग ४२, उ० का० ।

आकाश सीतामारोप्य विपद्यान्ते समुत्थम् ॥

श्लो० १५, सर्ग ४२, उ० का० ।

रामचन्द्र ने ऐसा कहा, उनकी साँसें धीमे से भर गयीं (माघेख विहितेक्षणः) । महात्मा रामचन्द्र अपने भाइयों के साथ अपने महल में गए और लोक से अलग होकर हाथी के समान मन्त्री साँस लेने लगे (लोक संविग्न हृदयो निराशवास यथा विधुः) ।

इस प्रकार दुःखित हृदय होते हुए भी उन्होंने सीता को परित्याग केवल इस कारण किया कि उन्हें जनमत के विरोध करने का साहस था । उस समय सीतादेवी गर्भिणी थीं । इस वक्ता में भी राम ने इतना भी साहस न किया कि वह गर्भविद्या के लिए ही सीता को शयोध्या मगरी में रखने देते । वह जनमत से अत्यन्त भयभीत हो गए थे । अतः उन्होंने सीता को तुरन्त राज्य से बाहर निकाल देना ही उचित समझा ।

राम के इस व्यवहार को यदि मानव धर्म की दृष्टि से देखा जाय तो उसे निर्दयतापूर्ण कर्म के अन्तर्गत पदार्थ ही सम्मिलित किया जायगा । गर्भिणी स्त्री को गहन क्षम में अकेले छोड़ देना मनुष्य के लिए कितना निर्दयतापूर्ण व्यवहार है । इस प्रकार का व्यवहार सम्प्रदाय में सर्वत्र निन्दनीय समझा जायगा । परन्तु राम के लिए अन्य मार्ग था ही नहीं । उनके राज्य की जनता में सीता के सतीत्व के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न हो चुका था । राम इस संदेह को प्रारम्भ से ही उन्मूल करना चाहते थे । यद्यपि सीता का परिस्थान राम के लिए धमंकर दुःख का कारण था परन्तु राम के इस त्याग ने उनकी प्रजा में पुनः सद्भावना उत्पन्न कर दी जिसके कारण उनके राज्य में जनमत पुनः राम के अनुकूल हो गया । राम ने प्रजा के हेतु अपनी परम प्रिया का परित्याग कर अभिषेक के लिए एक ज्वलन्त उदाहरण दिया कि राजा को अपनी प्रजा की प्रसन्नता के लिए अपने सर्वस्व त्याग ■ किए सर्वत्र कटिबद्ध रहना चाहिए ।

महाभारत में भी इस सम्बन्ध की पार्श्व भाषा में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है जो इस बात को सिद्ध करती है कि महाभारत-काल में भी जनमत का राजा पर गहन प्रभाव पड़ता था । महाभारत के भादि पर्व में इस बात की ओर कई स्थलों पर उल्लेख प्राप्त है जो इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं—

युधिष्ठिर को हस्तिनापुर राज्य के राजा बनाने की इच्छा से युधिष्ठिर के अनुकूल जनमत बनाने की दृष्टि से पुरश्चामी श्रेष्ठ पाण्डवों

को मनेकों गुणों से युक्त वेष्टकर सभा में उनके गुणों का कीर्तन करने लगे ।* चौराहीं पर चौर समाधों में एकत्र हो पुराणासी पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को राज्य दिलाने का विचार किया करते थे ।† राजा द्रुपदराष्ट्र को मन्त्रा होने ॥ कारण प्रथम ही राजा न कम सक्त था, इसलिए जब वह राजा बँसे हो सकता है ।‡ इसी प्रकार सान्त्वन्-पुत्र भीष्म भी बड़ा सत्यप्रतिज्ञ और महाबली है । जब उसने पूर्व में ही राज्य का परित्याग कर दिया तो वह जब राजा बँसे प्रवृत्त कर सकता है ।+ जब हम पाण्डवों में ज्येष्ठ, तपस्व, युद्धसासी, सत्य और कुरुणा के पक्षपाती युधिष्ठिर को राज्य पर अभिषिक्त करेंगे ।x

युधिष्ठिर की लोकप्रियता का समाचार सुन दुर्योधन ने बहुत व्याकुल हो— एकान्त में अपने पिता ॥ समीप बैठकर पाण्डवों की चुपके से राजधानी से हटा देने के हेतु षडयंत्र रचा । इस षडयंत्र ॥ मुख्य उद्देश्य पाण्डु पुत्रों ॥ राजधानी से हटते हेतु दूर रत्नने का था जिन्हें उनकी चिर-कासीन अनुपस्थिति उन्हें शासन-प्रयत्न के कार्यों से दूर रखेगी और

*—गुह्यं समुदितान्द्रवा वीरापाण्डुसुतांस्तदा ।

कथमाक्षिरे तेषां युष्मान्सत्यं भारत ॥

स्कन्ध० २६, अ० १४३, आदि० ५० ।

†—राज्यप्राप्ति च संप्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतं तथा ।

कथमस्ति त्वं संभूतं चत्वारोऽपि सन्नातु च ॥

स्कन्ध० २४, १४३, आदि० ५० ।

‡—प्रज्ञाचक्रवर्तुष्टुवापुष्टवराहो जनेश्वरः ।

राज्यं न प्राप्तवान्पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ॥

स्कन्ध० २६, अ० १४३, आदि० ५० ।

+—तथा शान्तनवो भीष्मः सत्यसन्धो महाबलः ।

सत्यव्रतश्च पुरा राजर्षे न स जातु प्रहोष्यति ॥

स्कन्ध० २६, अ० १४३, आदि० ५० ।

x—ते वयं पाण्डवज्येष्ठं तस्य युद्धवीर्यिनम् ।

अभिषिञ्चामः सत्यं सत्यं सत्यं सत्यं ॥

स्कन्ध० २७, अ० १४३, आदि० ५० ।

÷—तेषां दुर्योधनः क्षुत्वा तानि वाक्यानि कथयन् ॥

स्कन्ध० २४ अ० १४६, आदि० ५० ।

उसके साथ ही वहाँ की जनता के सम्पर्क से भी दूर रहोगी । इसका फल यह होगा कि युधिष्ठिर को ऐसा भयसर ही न मिल सकेगा कि वह वहाँ की जनता के सम्पर्क में जाकर उनके हृदय पर अपने गुणों के द्वारा विजय प्राप्त कर सके । इसी बीच में वह एक और सरकार से प्रजा को प्रसन्न कर लेगा : निरान प्रजा युधिष्ठिर को भूल जायगी कुर्वोचन को राखा बनाने की चेष्टा करेगी । कोष घीर मंत्रिगण उसके भक्त में हों ही चुके थे इसलिये सरल सदाय से पाण्डवों के लिए बारम्बारत भगत भेज देगा ।^१ चाहिए ।^२ ऐसा कर देन से सोकमत उसके पास ही जायगा । परन्तु कुर्वोचन ने इस बात से भूतपाष्ट को सचेत कर दिया कि वह कार्य गुप्त रूप से होता चाहिए । किसी समय से कानों कान यह रहस्य न पहुँचना चाहिए और जब उसके राज्य की अङ्ग विवरता-पूर्वक जस जाएगी तो यदि वह सौद भी पाते हैं तो लोभमान भी चित्ता का कारण न होगा ।

भूतपाष्ट ने कुर्वोचन के इन विचारों के अपनी सम्मति तो प्रकट की परन्तु वह यह सोचकर कि वहाँ इस परवर्धन का भंडाभीक न ही जाय चिन्तित था ।^३ यदि वह रहस्य प्रजा के कानों तक पहुँच गया तो वह उसका बड़ा महित कर डालेगी । इसके अतिरिक्त प्रजा के लिए

*—इदमेतन्मया तात भावितं शौचमात्मनि ।

इच्छा वृत्तता सदा धर्ममानेन पूजिता ॥

श्लो० ११ अ० १४४, आदि० ५० ।

अवसप्तःसहायास्ते भविष्यन्ति प्रथमता ।

अर्थवर्गः सङ्गमात्मा मत्सलोभ्य महीपते ॥

श्लो० १२ अ० १४४, आदि० ५० ।

स भवान्प्रवचनानां विद्यामन्त्रिणैरिति ।

मनुनेवाऽऽनुपायेनाह नगरं वारणावतम् ॥

श्लो० १४ अ० १४४, आदि० ५० ।

†—कुर्वोचन ममाऽऽचेतदुद्दि संवदिबर्तते ।

अभिनायस्य पाण्डवाभ्यैर्न तु विद्वदोऽन्वहम् ॥

श्लो० १६ अ० १४४, आदि० ५० ।

कुलवंशी दोनों दल (औरत एवं पाण्डव) समान थे ।* भीष्म, द्रोण, विदुर और कृपाचार्य कोई भी पाण्डवों के निवासने जा प्रभुमोहन कथादि न करेंगे ।† हे पुत्र ! फिर हम इन महामत्ता कौरवों के तथा समस्त जगत के कल करने के योग्य क्यों न हो जाएँगे ।‡ परन्तु दुर्योधन ने भूतपाण्डु को इस बात का पूरा विश्वास दिला दिया कि कुरुवंश के मुख्य-मुख्य लोग उसका कभी विरोध न करेंगे क्योंकि उसने पूर्व ही से ऐसा प्रबन्ध कर लिया है । भीष्म तो मध्यस्थ है ही, द्रोण-पुत्र उसके पक्ष में है । जिधर पुत्र होता उधर ही श्रेयण रहेगा इसमें सन्देह नहीं ।+ कृप भी उधर ही होगा जिधर वह दोनों होंगे । वह अपने सहनोर्ध्व दोस्त तथा भाँजे द्रोणपुत्र को कभी नहीं छोड़ेंगे । विदुर चतुःक्षेत्री उसके

*—समा हि कौरवेयाम्नां कथं ते नैव पुत्रक ।

मैत्रे विषमभिच्छेदुर्धर्मसुक्ता मनिस्वनः ॥

श्लो० १८ अ० १४४, आदि० प० १

†—न च भीष्मो न च द्रोणो न च कृपा न गौतमः ।

विवाहवमानाम्कोन्तेवाननुसंस्थमि किङ्किरि ॥

श्लो० १७ अ० १४५, आदि० प० १

‡—ते कथं कौरवेयानामेतेषां च महात्मनाम् ।

अर्थ न वध्यतां ताव गच्छेम जगतस्तथा ॥

श्लो० १९ अ० १४७, आदि० प० १

+—मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मधि स्थितः ।

पतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविष्य नाश्च संतपः ॥

श्लो० २० अ० १४८, आदि० प० १

कृपः शात्रुघ्नस्यैव धृत पत्नी सती भवेत् ।

द्रोणं च भगिनिर्मै न न स त्वकस्ति कहिचित् ॥

श्लो० २१ अ० १४९, आदि० प० १

उत्ताप्यैव हस्त्वस्माकं मण्डुर्न पतः परः ।

न चैकः स समर्थोऽस्मान्पाण्डवायैऽभिवाक्षितुं ॥

श्लो० २२ अ० १५०, आदि० प० १

सुविश्रम्भः पाण्डुपुत्राभ्यां मात्रा प्रवासन ।

वात्स्यायनमयी च धन्वा पान्ति तथा कुश ॥

श्लो० २३ अ० १५१, आदि० प० १

नाथ बीधा है ही परन्तु सुप्त रूप से पाण्डवों के साथ है। वह भीमसेना पाण्डवों के लिए उनकी (दुर्योधन एवं धृतराष्ट्र) को दबाने में समर्थ न हो सकेगा। अब भाग निःशंक हो कर पाण्डवों को धाज ही धार-छायात नगर को भेज दीजिए। वह जिस तरह चले जाएँ ऐसी कोई युक्ति कीजिए।

इस प्रकार पाँचों पाण्डव बड़ी सावधानी तथा सुप्त रीति से धार-छायात नगर भेज दिए गए। हथ घटना के घन्तस्तन में जो बहस-वहसिपा हुआ था वह किसी को ज्ञात न था। इस घटना से यह स्पष्ट है कि दुर्योधन जैसे निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी व्यक्ति को भी जनमत को अपनी ओर करने की बड़ी उत्कण्ठा थी। वह उसके बस कुत्तों का राजा बनना चाहता था। उसने इस बात को भी प्रकार समझ लिया था कि जब तक कुहराज्य में जनमत उसके पक्ष में नहीं होता वह राजा नहीं बन सकता था। उसने इस भावस्थकता के महत्व को भी नहीं समझ लिया था, इसीलिए उसने अपने पक्ष में जनमत करने के लिए प्रत्येक प्रकार के उपायों से काम लिया था।

परन्तु भुविष्ठिर भी बड़े राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने उन समस्त परिस्थितियों को समझ लिया था जो कि भविष्य में उनके समक्ष प्रस्तुत की जा रही थीं। अतः उन्होंने भी इसका काट सोच लिया था। उन्होंने सर्वप्रथम कार्य जो कि वारणासत नगरी में जाकर करने का संकल्प किया था वह था वहाँ की राजा के हृदय पर अपने उत्तम भावकथा को छाव-सगाकर वहाँ के जनमत को अपने पक्ष में कर लेना। इस नेमर में पहुँचते ही उन्होंने वहाँ को राजा से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह वीर पाण्डव उस नगरी में पहुँच कर सबसे प्रथम अपने धर्म-कर्म में लगे हुए ब्राह्मणों के घरों पर पहुँचे। वह नरभेष्ट नगर के अधिकारी महारथी, क्षत्रिय, वैश्य तथा दूतों के घर पर भी इसी प्रकार गए।

१.—ते प्रविश्य पुरीं धीराशूचं जगमुरगोशुद्धान् ।

माह्वन्तानां महीपात्र रतानां स्वेष्टु कर्मसु ॥

स्थो० ६ अ० १८८, अदि० १० ।

नगराधिकृतानां च शुद्धानि रथिनां सदा ।

उपवसुर्नरभेष्टा वैश्यगृहगृहात्मनि ॥

स्थो० ७ अ० १८८, अदि० १० ।

यह सारा कार्य उन्होंने केवल इस दृष्टि से किया था कि उस मयरी की प्रजा उनकी भक्त बन जाय और आगामी काल में आर-स्वकता पड़ने पर उनकी सहायक सिद्ध हो सके । वहाँ का जयन्त उनके पक्ष में इतना सबल बन जाय कि बाहर से आनेवाला कोई संकट उनके हितों को लेशमात्र भी हानि न पहुँचा सके ।

राजा विराट की सभा में युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का राज्य दिलाने के लिए प्रस्ताव रखा गया । बड़े वाद-विवाद के उपरान्त यह निश्चय हुआ कि दुर्योधन को समझाने और धृतराष्ट्र से इस बात की समझौता करने के लिए कि वह कम-से-कम भाभा राज्य युधिष्ठिर को अर्पण दे एक योग्य दूत भेजा जाय । राजा द्रुपद के पुरोहित को इस कार्य का जोर दिया गया । अब उनका पुरोहित हस्तिनापुर प्रस्थान कर रहा था तब राजा द्रुपद ने उसे मसीहाति समझाया कि उसे किस प्रकार वहाँ जाकर कार्य करना चाहिए । उन्होंने उसे बतलाया कि धृतराष्ट्र को यह संदेश देने के प्रतिरिक्त उसे पुरोहितों से मिलना चाहिए और उनके समक्ष उन अवस्त वस्तुओं एवं आपत्तियों का विवर लीजना चाहिए जिन्हें पण्डितों ने वनवास की दशा में सहन किया है । विशेषकर उन लोगों के सामने जो ब्यास एवं उदार व्यक्ति हैं । उन्हें वृद्धजनों में बैठकर कुबंश को उन प्रथाओं एवं परम्पराओं की ओर उनका ध्यान दिलाना होगा जो उनके पूर्वजों ने स्मर की थीं । राजा द्रुपद अपने पुरोहित [] इसका रहस्य बतलाते हुए कहते हैं कि ऐसा करने से उनमें से बहुतों के दिव्यार बल जायेंगे । जिसका फल यह होगा कि कुरुराज्य में जयन्त युधिष्ठिर के पक्ष में हो जाएगा और दुर्योधन और उनके सह-कारियों की राज्य-धार्मिक विषयक अभिलाषा विफल हो जाएगी ।

लोक-विख्यात दुष्यन्त और सकुन्तला की कहानी महाभारत में भी दी गई है । इस कथा में वर्णन है कि अपने पिता ऋषि की आज्ञा-नुसार सकुन्तला अपने तीन वर्ष के पुत्र के साथ अपने पति राजा दुष्यन्त की राजसभा में पहुँची । वहाँ पहुँच कर सकुन्तला ने राजा दुष्यन्त से सज्जनपूर्वक निवेदन किया कि वह उनकी धर्मपत्नी है और उसके पास सदा हुआ बालक उनका पुत्र है । उन्हें राजा की ओर से आदेश दिया

१.—विश्वेस्पति मनीष्येवमिति मे मातुर्लक्ष्यः ॥

श्लो० १६ अ० ३, अध्याय २० ।

खाय कि वह कहीं निवास करें ? राजा ने उत्तर दिया—मेरा कभी किसी भी सकुन्तला नाम की कन्या से पूर्व सम्बन्ध नहीं हुआ । तू ठगिनी है ! और अर्थात् झूठ बोलती है । तेरा यह पुत्र बड़ा विशालकाय है और अत्यन्त बलवान है । इस छोटे से काल में यह शाल बूझ ही समान कैसे जा गया ? मैं तुझे जानता भी नहीं । तू वहाँ से सीधे अपने अभीष्ट स्थान को चली जा ।* परन्तु सकुन्तला ने अपने पक्ष का समर्थन जित हेतुओं से किया उन्हें सुनकर सभी में जो सन्देह उपस्थित थे उन्हें इस बात का विश्वास हो गया कि सकुन्तला सत्य कहती है । उसी समय देव-बाणी भी सकुन्तला के पक्ष में हुई । अन्त में राजा ने यह कहते हुए सकुन्तला और अपने पुत्र भरत को स्वीकार किया—मैं भी यही जानता हूँ कि यह मेरा ही पुत्र है । यदि मैंने सकुन्तला के वचन श्राव्य के ही अपने पुत्र को बहुत क्रूर निषा होता तो संसार की सम्यक् रहता और पुन जीवापवाद के कारण मृदु भी नहीं कहलाता ।† राजा ने फिर सकुन्तला को सम्बोधित कर कहा—हे देवि, मैंने यह सम्बन्ध संसार के परोक्ष में किया था, इससे मैंने तेरी लज्जा के विषय ही यह सारा वितण्णवाद छोड़ा था ।‡ यह जगत मुझमें भी स्त्री के बल होने की कल्पना कर लेता । मैंने तेरे पुत्र को राजा बनाने के लिए सोचा था । इसके लिए ही यह सब सोचा गया है ।

उपरोक्त कहना है भी इस सिद्धांत की पुष्टि होती है कि राजा पर जनमत का कितना गहरा प्रभाव पड़ा था राजा जानता था कि मेरी

*—नाई स्वाभिमानाति भयेयं सम्भती स्वया ॥

श्लो० ८२ अ० ७४, आदि प० ।

†—वयं वचनावेद सुखीवाति स्वमतमजं ।

अवेदि संकरो लोकस्य नैव शूद्रो भवेदयम् ॥

श्लो० १११ अ० ७४, आदि प० ।

‡—कृतो लोकपरोक्षोऽर्थ सम्पन्नोऽयं स्वया सदा ।

तस्मादेतन्मया देवि वक्तुं ह्यर्थं विचारितम् ॥

श्लो० १२ अ० १७४, आदि प० ।

—सम्भते चैव लोकस्ते स्त्रीभावाभ्यां संगतम् ।

पुत्रद्वयात् सुतो राज्ञे भया तस्माद्विचारितम् ॥

श्लो० १२१ अ० ७४, आदि प० ।

स्त्री और पुत्र सामने लड़े हैं परन्तु अनायास के भय से बिना उसकी श्रुति किए हुए उन्हें ग्रहण करने में प्रसन्न थे ।

विश्व के इतिहास में शायद ही ऐसा कोई उदाहरण मिलेगा जिसमें पिता अपने ही पुत्र के प्राण लेने ■ हेतु प्रयत्न करता है । महाभारत के संभाव्य में विदुर ■ मुक्त से ■ कहलवाया गया है कि ममूर के निरंकुश राजा कंस के वध के लिए उसी के पिता उग्रसेन ने षडयंत्र रचा । अंधक, मादक और मोहबंधीय जनता ने कंस से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था । इन्हीं लोगों की सम्मति से अश्वत्थामदान की प्रेरणा से कृष्ण ने प्रजा की प्रसन्नता के लिए कंस का वध किया ।*

इस प्रकार रामायण और महाभारत के पढ़ने से इस बात का स्पष्ट पता चल जाता है कि रामायण और महाभारत-काल में जनमत एक बड़ी शक्ति थी जो राजा को स्वेच्छाचारी होने से रोकने में बड़ी प्रभावशाली हुई । रामायण और महाभारत ऐसे उदाहरणों में परिपूर्ण हैं ।

रामायण और महाभारत-काल में जनमत के प्रभाव पर हर प्रकार से विचार कर लेने के उपरान्त पाठक के सामने दो एक ऐसे भी उदाहरण आ जाते हैं जो स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त के विरोधी प्रतीत होते हैं । ऐसी अवस्था में एक प्रश्न यह पठता है कि यदि रामायण और महाभारत-काल में जनमत का विशेष प्रभाव था तो जनमत ने रावण जैसे स्वेच्छाचारी राजा को गद्दी से उतारने का प्रयत्न क्यों नहीं किया ? उसी प्रकार प्रजा ने राम को वन में जाने के सम्बन्ध में दशरथ के निर्णय एवं वृषोधन की भालक योजनाओं का विरोध क्यों नहीं किया ?

जनमत के सम्बन्ध में उपरोक्त आलोच्य शायदसंगत प्रतीत होते हैं । परन्तु जब विवेचनात्मक दृष्टि से इन आलोच्यों की ओर विचार किया जाता है तब यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि इन आलोच्यों में कोई वास्तविकता नहीं है । सर्वप्रथम रावण के ही सम्बन्ध में विचार कर

*—विदित है महाप्रजा भाजेन्वेवाऽस्मज्जन् ।

पुत्रं संपत्काम्यदूर्ध्वं पौराणां हितकाम्यया ॥

स्थो० ७ अ० १२, सर्गा० ५० ।

अन्धक्य वादवा भोगाः समेताः कंसमत्यजन् ।

विद्योतास्तु हते तस्मिन्कृष्येव ऽभिप्रवातिना ॥

स्थो० ८ अ० ६२, सर्गा० ५० ।

मित्रा बाद रावण के सम्मुख में ऐसा एक भी उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता है जो इस बात की पुष्टि करता हो कि रावण ने अपने राज्य की जनता के मत की कभी मर्यादालना की हो। कुछ दूने-तिने व्यक्तियों को छोड़ कर शेष जनता में रावण के प्रति कबो भी घटस्पर्श नहीं पाया जाता। रावण ॥ शासन-काल में थोड़ी सी जनता को छोड़कर अन्य समस्त जनता सुखी थी। रावण सदैव अपनी प्रजा की रक्षि देख-कर कार्य करता था। वह अपनी चतुराई एवं बुद्धिमत्ता के द्वारा अपने राज्य की प्रजा को मुट्ठी में किए रहता था। इस बात की सत्यता उस समय प्रकट होती है जब कि राम संका पर आक्रमण करते हैं और रावण मर्यादित होकर अपनी सभा को बुलाता है और सभसद्यों को सम्बोधित कर कहता है—धर्म, धर्म और काम विषयक कठिनाई उपस्थित होने पर धिय धमिय, लाभ-समाध, सुख-दुःख हित-महित ॥ निर्माण करने की राहित बाप लोग रहते हैं।* परामर्श की द्वारा कर्तव्य निर्णय करके आप लोगों ने मेरे जिसने काम प्रारम्भ किए है वह कभी फल नहीं हुए हैं।† जिस प्रकार चन्द्र, यक्ष, नक्षत्र और देवताओं के साथ दृष्ट राज-नक्षत्री का उपभोग करते ॥ उसी प्रकार आप लोगों के नक्षत्रीय से मैं भी राज-नक्षत्री का उपभोग करता हूँ।‡

रामायण में कहीं एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला है जिसमें इस बात की ओर संकेत हो कि रावण की प्रजा का बहुमत रावण का विरोधी हो। रावण के राज्य में उसका विरोधी जनमत बनने का कोई कारण ही न था। वह अन्य राज्यों की दृष्टि में भाड़े जैसा दुष्ट क्यों न रहा हो परन्तु उसकी सारी योजनाएँ सभा की प्रजा की दृष्टि में व्याध-

*—मित्रादिभ्यो जुषेदुःखे कामाकांक्षे हिंसादिभ्यो

कर्तव्यार्थकृत्यं पूर्वमप्यर्थेयं वेदितुम् ॥

इको० * सर्ग १२, सुख० का० ।

†—सर्वकृत्यानि पुण्यानिः समारम्भानि सर्वदा ।

मंगकर्मभिर्दुष्टानि न जानु विपत्तयानि ये ॥

इको० ८ सर्ग १२, सुख० का० ।

‡—सस्रोमग्रहणमर्षादिभिश्च वासवाः ।

अथक्षिरहमस्यर्धं कृत्वा क्षिप्यमाप्नुवाम् ॥

इको० ३ सर्ग १२, सुख० का० ।

संगत रही है। इसी कारण उसे अपनी प्रजा का सर्वत्र सहयोग मिलता रहा था।

परन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि संका के राज्य के बाह्य संसार में राज्य के विरोध में बड़ा विप्लव जाताकरण बन गया था। इसी कारण संका राज्य के प्रतिरिक्त प्रत्येक राज्यों में राज्य के विरोध में जनमत बन गया था। इन राज्यों की जनता राज्य के निर्व्ययतापूर्ण एवं समानुषीय कृत्यों की प्रालोचना बड़े-बड़े सभाओं में कर रही थी। राज्य का अपने भाई विभीषण के प्रति जो व्यवहार रहा है इस राज्यों में उसकी घोर निन्दा हो रही थी। इस निर्वसे जाताकरण ने सीता और राम को उसके सम्बन्ध का हेतु बना दिया। निश्चय राज्य तथा उसका परिवार इसी विरोधी जनमत की भेंट हो गया।

संका की जनता का राज्य को पद-पद पर सहयोग देना और बाहरी जनता का उसके विरोधी होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि उस कास में भारत की जनता में प्रकार की सम्मिलताएँ प्रचलित थीं। इनमें से एक का नेता राज्य और दूसरी के राम थे। संका की जनता मुख्यतः राज्य के विचारों से सहमत थी। राज्य भौतिक-बादी था। इसी कारण वह सांसारिक भोग-विश्रास का पोषक था। दूसरी घोर राम आत्मिक विकास के पोषक होने के नाते मोक्षप्राप्ति कीर्ष का प्रतिष्ठा सक्षम मानते थे। उनके विचार से संयम और सदाचार के द्वारा उसकी प्राप्ति संभव थी। सांसारिक भोग-विश्रासों में फँस जाने से मोक्ष प्राप्ति असम्भव है। संका की अधिक जनता सांसारिक भोग-विश्रासों में निरवास रखती थी इसीलिए उसके और राज्य के विचारों में सामंजस्य था। इसी कारण राज्य को अपनी प्रजा से सर्वत्र सहयोग मिलता रहा और उसके राज्य में जनमत राज्य के अनु-मूल रहा।

इसके उपरान्त राजा दशरथ की स्थिति पर भी विचार करना है। राजा दशरथ ने प्रजा द्वारा नियुक्त किए हुए दुष्यन्ध को जनमत को कुदल कर चौदह वर्ष के लिए दण्डकारण्य में भेज दिया था। इसका परिणाम राजद्रोह होना आवश्यक था। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसका पहला कारण तो समाज में बूढ़ने पर निकलता है कि राजा दशरथ ने प्रजा को विप्लव करने का भयकर ही नहीं दिया। राजा दशरथ

स्वयं लोकापवाद से इतना डरते थे कि उन्हें प्रजा ■ समस्त प्रपन्ना मुंह दिखाने का साहस ■ नहीं हुआ । और उन्होंने अपने इस कार्य की स्वयं निन्दा की और अत्यन्त श्लाघा के कारण राजमहल में ही अपने प्राण त्याग दिए । उन्होंने जनमत का विरोध करने की अपेक्षा मृत्यु को बरण करना अधिक समझा ।

राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त प्रजा की दृष्टि में इस संकट का सारा उत्तरदायित्व कैकेयी और उसके पुत्र भरत पर था । परन्तु भरत ने इस अवसर पर बड़ी अनुराई और सावधानी से काम किया । उन्होंने प्रजा के सामने इस प्रस्ताव को प्रस्तुत किया कि वह जन को जाएँगे और वहाँ जाकर अपने बड़े भाई राम को बना लाएँगे और उन्हें शयोध्या का राजा बनाएँगे । भरत के इस निश्चय ने शयोध्या का जनमत भरत के समुत्सुत बना दिया ।

इसके प्रतिरिक्त एक बात और भी थी । जनगण के धर्म राम ने शयोध्या की जनता को हृदय से यह आदेश दिया था कि वह भरत की राजभक्त बनी रहे । उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया था कि शयोध्या की प्रजा का इस प्रकार का आचरण ही एक मात्र ऐसा होगा जो उन्हें (राम को) प्रसन्न कर सकेगा । इसके प्रतिरिक्त उन्होंने भरत के सुझाव-चरण होने ■ सम्बन्ध में प्रजा की पूरा विन्यास कराने का भरसक प्रयत्न किया था । उन्होंने उनसे कहा कि भरत का चरित्र बड़ा ही सुन्दर है । वह आप लोगों का प्रिय एवं हित करेंगे ।* वह यद्यपि बालक हैं पर बड़े शान्ति हैं, उनका चित्त कोमल है, पराक्रम के सभी गुण उनमें वर्तमान हैं । वह ही तुम लोगों के राजा हैं वह तुम लोगों की रक्षा करें ।† राम ने उनसे यह समझाकर कहा कि शयोध्यावासियों का जो प्रेम और आदर बुद्धि मुझमें है वह मेरी प्रसन्नता के लिए तुम लोग भरत

*—स हि कलवाक्यचरित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः ।

कतिप्यसि यथावदः मित्राणि च हितानि च ॥

श्लो० ७ सर्ग ५२, अयो० का० ।

†—आनन्दो यथावाजो मधुर्वीर्यगुणान्वितः ।

अमुष्मः सर्वो सर्वो यकिप्यसि यथावदः ॥

श्लो० ८ सर्ग ५२, अयो० का० ।

में करो ।[†] इसी कारण भारत के प्रति अयोध्या की प्रजा में विरोधी भाव उत्पन्न न हो सके ।

परन्तु कैकेयो का विरोध प्रत्येक वर्ग में किया जिसके उदाहरण रामायण के अयोध्याकाण्ड में प्रमेकों स्वर्णों पर दिए गए हैं । परन्तु भारत ने प्रजा का ध्यान तो राम को फिर मनाकर वापस लाने की ओर बदल दिया था । अतः सारी प्रजा का ध्यान एकमात्र इसी ओर लग गया था ।

अभी वृतराष्ट्र और उसके पुत्र दुष्यधन के सम्मान में विचार करना है । इस सम्मान में यहाँ पर यह कह देना उचित ही होगा कि महा-भारत इस बात का उल्लेख करती है कि युधिष्ठिर ने कभी भी इस बात को नहीं आह्वान किया कि हस्तिनापुर राज्य की प्रजा किसी प्रकार भी युधिष्ठिर के लिए वृतराष्ट्र का विरोध करे । युधिष्ठिर वृतराष्ट्र को अपने पिता पाण्डु से भी अधिक दास्य की दृष्टि से देखते थे । जब कभी भी और कहीं युधिष्ठिर का सम्पर्क उनकी प्रजा से हुआ है उन्होंने सर्वदा प्रजा को वृतराष्ट्र के प्रति शान्त रहने का आदेश दिया है । उन्होंने प्रजा को इस बात का विश्वास दिलाया है कि उनके राज्य-शास्त्र का प्रदत्त दास्य में समझौते से सुलभ जाएगा । और यदि शान्त उपायों से उनके अनुकूल निर्णय न हो सका तो वह सलवार के बल से अपने स्वयं की प्राप्ति करने में पिछड़े न रहेंगे । इसलिए प्रजा के इस विषय में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता न थी जबकि उन्हें उसकी सहायता की आवश्यकता न पड़ेगी ।

इसके भक्तिरिक्त एक बात यह भी थी कि प्रजा की दृष्टि में युधिष्ठिर भी दायी थे । प्रजा के बहुत से लोग उनके जुआ खेलने और उसमें सर्वस्व दाँव पर लगाने के कार्य को निन्दनीय समझते थे, वास्तव में जुआ खेलकर युधिष्ठिर ने प्रजा की सहाय्यभूति को ही भी और अपने राज्याधिकार को निर्दल बना दिया था । यदि यह घटना न हुई होती तो प्रजा का निर्णय दूसरा ही होता । महाभारत इस बात की बतलाती है कि इस घटना के पूर्व लोग युधिष्ठिर को राजा

†—या भीतिर्वजुसानश्च मय्यभोज्यानिवासिनाम् ।

मित्रिद्वार्यं विरोधेन भरते सा विश्वीयताम् ॥

इको० ६ सर्ग ४२, अयो० का० ।

बनाने की अभिलाषा में बीराहों पर, सभाओं में और सार्वजनिक स्थानों पर युधिष्ठिर के गुणों की सराहना करते हुए बिकसाए गए हैं। इसलिए जुआ खेलने की घटना ने युधिष्ठिर के प्रति किसी भी तरह तक अश्रद्धा प्रचलन उत्पन्न कर दी होगी।

इस सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण बात थी। वह युधिष्ठिर के राज्याधिकार के सम्बन्ध की थी। जनता के एक वर्ग के मतानुसार युधिष्ठिर का हस्तिनापुर के राज्य का अधिकार अत्यन्त निबंश था। पाँचों पाण्डव नियोग की प्रथा से उत्पन्न हुए थे। वह पाण्डु से उत्पन्न न हुए थे। इसलिए हस्तिनापुर के राज्याधिकार के विषय पर प्रजा में भिन्न मत होना स्वाभाविक था। कृष्ण के परिवार में ही इस सम्बन्ध में दो मत थे। हस्तिनापुर की गद्दी के लिए बलराम दुर्योधन को अधिकारी बतलाते थे। परन्तु दूसरी ओर कृष्ण युधिष्ठिर के अधिकार के पक्षक थे। अन्तर्वेद ने कई बार कृष्ण से अनुरोध किया था कि वह दुर्योधन की भी सहायता करें। परन्तु कृष्ण इस बात से सहमत न थे। जब बलराम ने यह बेल लिया कि कृष्ण युधिष्ठिर की ओर पूरी तरह भले हुए हैं तो वह निराश होकर तीर्थयात्रा को चले गए।

इसके भतिरिक्त दुर्योधन ने सदैव इस बात का प्रयत्न किया कि वह अपने अन्धे सासन के द्वारा प्रजा का धारा बन जाए। उसने इस बात का भी प्रयत्न किया था कि वह अपनी प्रजा का पुनरुत्थान करे। दृष्टान्त के मुद्दाबन्धा के कारण धर छोड़ कर बन जान के समय उसकी प्रजा ने इस बात की सराहना करते हुए कहा है कि दुर्योधन ने उन्हें पुनरुत्थान वाला था। सबने एक स्वर से कहा है कि दुर्योधन ने उनके ऊपर बड़ी सफलतापूर्वक शासन किया है। यदि दुर्योधन के प्रति प्रजा में कुछ भी अश्रद्धा उत्पन्न होने का अवसर था तो वह था उसका पाण्डवों के प्रति दुर्व्यवहार जिसने उसे प्रजा की दृष्टि में अग्रिम बना दिया था।

हस्तिनापुर की गद्दी के अधिकार-सम्बन्धी इस प्रकार के भिन्नभिन्न विचारों के होते हुए लोगों में इस विषय पर एकमत होना किस प्रकार सम्भव था। प्रजा में एक वर्ग युधिष्ठिर के और दूसरा दुर्योधन के अधिकार का पक्षपाती था। इसी कारण दुर्योधन की स्वेच्छाकारी योजनाओं की रोकने ■ लिए जनमत न बन सका और इसी कारण

महाभारत-युद्ध न टल सका। साथ ही यह भी बात थी कि जिस युग में युधिष्ठिर और दुर्योधन रहे थे वह वीरता का युग था। प्रत्येक व्यक्ति ऐसे सन्देश के समग्र यह उचित समझेगा कि उसवार के दल से ही इसका निर्णय हो जाय और जो राजकुमार इस युद्ध में विजयी होगा उसे ही प्रजा राज्याधिकार की मान्यता देगी।

ऋषि-मुनियों का प्रभाव:—प्राचीन भारत की सभ्यता मगरों की सभ्यता नहीं है। रामायण और महाभारत इस सभ्यता का भारम्भ ग्राम्यों से करते हैं। इस युग में सभ्यता के केन्द्र ऐहिक सुक्तों की सामग्री से सम्पन्न विशाल नगर न थे। रामायण और महाभारत दोनों इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं कि इस सभ्यता के मुख्य केन्द्र गहन वनों अथवा पर्वतों की कन्दारों में स्थित घनेकों आश्रम थे। जीवन-सम्बन्धी गहन समस्याएँ इन आश्रमों में ऋषि-मुनियों द्वारा चर्चा जाती थीं और प्रारम्भ में उन्हीं के द्वारा प्रयोग में लाई जाती थीं। जब उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास हो जाता था कि समुक्त जीवन सम्बन्धी सिद्धान्त उनके प्रयोग द्वारा सत्य और अनर्हित के लिए उत्तम सिद्ध हो चुका है तो वह तुरन्त उस प्रयोग को सब साधारण तक पहुँचा देते थे। यह प्रयोग चाहे पुस्तक के रूप में, व्याख्यान के रूप में अथवा उपदेश के रूप में ही वह जनता तक पहुँचा देते थे, सब लोगों से इस बात की प्राप्ति की जाती थी कि वह जीवन के उस घटल सिद्धान्त के अनुसार आचरण बनाएँ।

इस बात की सत्यता रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थ सिद्ध करते हैं। अयोध्या से जन-गमन करते समय राम मार्ग में घनेकों ऋषि-मुनियों से भेंट करते हैं जो कि गहन वनों में प्राचय बनाकर जीवन बिता रहे थे। वह गया पार करने उपरान्त प्रयाग में भरद्वाज आश्रम में पहुँचते हैं। वहाँ रात बिता कर पुनः आगे बढ़ते हैं। इसके उपरान्त रामायण में घनेकों ऋषि-मुनियों का वर्णन विद्या वृक्षा हे जो गहन वनों में आश्रम बना कर रह रहे थे। राम ने लगभग इन सभी ऋषि-मुनियों से साक्षात्कार किया था और उनसे कई महत्वपूर्ण उपदेश प्राप्त किए थे।

इस प्रकार रामायणकालीन सभ्यता की आत्मा गहन वनों में स्थित आश्रमों में बाँट करती थी। महाभारत अपने स्व की सभ्यता

का केन्द्र हिमालय पर्वत को बताती है। श्रीकृष्ण जैसे योजिराज भी किसी धरेखु समस्या के सुलझाने के निमित्त हिमालय पर्वत (उत्तर-सागर) की ओर प्रस्थान करते हैं। धर्मजुत युद्धकला-सम्बन्धी विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए हिमालय में स्थित ग्राधियों की ओर जाते हैं और युद्धकला प्राप्त कर हस्तिनापुर लौट आते हैं। कर्ण भी प्रसिद्ध ब्रह्मास्त्र की सीखा लेने के हेतु उधर हो जाते हैं और उक्त सीखा प्राप्त कर घर लौट आते हैं। व्यास मुनि इतिहास में आश्रम बनाकर रहते थे। तमिषारण्य जो उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले में स्थित आधुनिक नौमचार के नाम से प्रसिद्ध है असंख्य ऋषि-मुनियों के आश्रमों से सुशोभित था। यह स्थान रामायण में भी दिया गया है। उही स्थान पर राम ने मरुदमेक बना किया था।

इन्हीं आश्रमों में जीवन-सम्बन्धी गहन प्रश्न सोचे जाते थे, उन पर विचार किया जाता था और उनके परिणाम आचरण में लाये जाते थे। तत्पश्चात् भोक्तृकारण के निमित्त जन सामारण को उनके अनुसार आचरण बनाने के निमित्त प्रस्तुत कर दिया जाता था।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि रामायण और महाभारत-काल में जनता के अस्तित्व एवं उसके कामों पर राजा का उतना प्रभाव नहीं पड़ता था जितना कि इन ऋषि-मुनियों का था। वास्तव में उस काल की जनता के जीवन के प्रत्येक भंग पर इन्हीं ऋषि-मुनियों का अधिकार था। वह ही जनमत के उत्पन्न करनेवाले और उस पर अधिकार करनेवाले थे। जिसे जनमत की टी० एन० दीन महोदय ने राज्य की आधारभूतता बताया है वह इन्हीं ऋषि-मुनियों के हाथ की वस्तु थी। इस प्रकार, रामायण और महाभारत-काल का राजा केवल एक सम्मानित सेवक के रूप में इन ऋषि-मुनियों के अधीन हसी प्रणाली को सुचारु रूप से चलाने के हेतु बना हुआ था। उसे समुचित धन और जन सामग्री से सुसज्जित किया जाता था जो ऋषि-मुनियों द्वारा किए हुए जीवन-सम्बन्धी सब प्रयोगों (Experiments) को जनता में रचनात्मक रूप देने में सफल होते। इससे अधिक राजा का कर्तव्य न था। राजा का कर्तव्य इतना ही था कि वह इस प्रणाली को सफलता-पूर्वक चलाता रहता।

इसके अतिरिक्त यह ऋषि-मुनि राजा तक पहुँचने के पूर्ण अधिकारी

थे । वह राजा को स्वतंत्रतापूर्वक उपदेश दे सकते थे और उन्हें ठीक रास्ते पर लाना सकते थे । महाभारत में इस प्रकार के अनेकों उदाहरण दिए हुए हैं जहाँ ऋषिगण राजा के समीप जाकर उसे उपदेश देते हैं और उसके धन्यायपूर्ण कार्यों की उसी के सामने कठोर शब्दों में निन्दा करते हैं जिससे राजा अपनी सुधार कर सके । उत्तम ऋषि मन्त्रियों के मध्य से बैठे हुए जनमेजय राजा के पास आते हैं । वह राजा जनमेजय को उसके कर्तव्य की ओर ध्यान दिनाकर उसे संवेष्ट करते हुए डाटकर कहते हैं—राजन् ! तू तो बच्चों के से काम करने में संलग्न है । तुझे अपने कर्तव्य-पथ की ओर सर्वप्रथम देखना चाहिए । जनमेजय ऋषि द्वारा बताया हुए कर्तव्य पर धारुण हो नावयज्ञ का आयोजन करता है । हस्तिनापुर की जनता में पाण्डवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सन्देह था । लोग उन्हें पाण्डु के पुत्र होने में सन्देह करते थे । परन्तु केवल एक ऋषि के कहने से कि कुन्ती और माद्री द्वारा उत्पन्न पाँचों पुत्र पाण्डु के ही पुत्र हैं जनता ने उन्हें पाण्डु के पुत्र स्वीकार कर लिया । मैत्रेय मुनि धृतराष्ट्र की सभा में जाकर दुर्योधन को समझाते हैं ■ वह अपने भाई पाण्डवों के प्रति सद्भावना रखे और उनसे दूर त्याग दे । दुर्योधन इस उपदेश को नहीं मानता । मुनि ह्मट होकर उसे धाव देते हैं । यह बात सुनकर सारी कौरव-सभा भयभीत होकर कोपन लयती है । धृतराष्ट्र बड़ी नजलापूर्वक अनुभव कर मुनि को शान्त करता है ।

महाभारत के उद्योग पर्व में इस बात का उल्लेख है कि कृष्ण दुर्योधन की अन्तिम बार समझने के हेतु रथ में बैठ कर हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान करते हैं । मार्ग में उन्हें अनेकों ऋषि-मुनियों का साक्षात्कार होता है । इन ऋषि-मुनियों का वेष कर उनके सम्मान के हेतु वह रथ से नीचे उतर कर उन्हें प्रणाम करते हैं । वह कृष्ण से कहते हैं कि वह भी कौरव-सभा को आ रहे हैं और वही पुनः उनसे भेंट होगी ।

कुछ ऋषि-मुनि राजाओं ■ सभा में स्थायी रूप से रहते थे और इस दृष्टि से वह राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग बन गए थे । वह राजा के वैयक्तिक कार्यों को देखा करते थे । वह अपने उपदेश एवं प्रभाव द्वारा राजा की सम्मान पर लगाते थे । मिथिला के राजा जनक की सभा में ऋषि-मुनियों का एक बड़ा वर्ग रहता था । यह ऋषि-मुनि राजा ■ भिद्यतम सम्पर्क रखते थे और शासन-कार्य में विशेष रुचि रखते

थे । बसिष्ठ भयोप्या में रहते थे । भयोप्या राज्य में कोई भी नवीन कार्य राजा की ओर से तब तक प्रचलित न होता था जब तक कि उसके प्रचलन की पुष्टि बसिष्ठ द्वारा न हो जाती थी । बसिष्ठ के बसिष्ठित भोर भी ऋषि थे जो राजा वमारव के समीप रहते थे । वाल्मीकीय रामायण में मार्कण्डेय, वामदेव, मौलशम्भ, कश्यप, काश्यापन, गौतम और जाबालि ऋषि ऋषि-मुनियों के नाम इस सम्मन्ध में विशेष रूप से दिए हुए हैं ।

महामारत में भी इस बात का उल्लेख है कि महामारत कासीन राजाओं की राजधानियों में ऋषि-मुनि स्थायी रूप से रहते थे और राजाओं को अपनी सम्मति देकर उनकी सहायता करते थे । राजा प्रयाति को सभा में शुक्राचार्य स्थायी रूप से रहते थे । वह राजा पर प्रपना गहन प्रभाव रखते थे । राजा प्रयाति बड़े पुत्रों के होते हुए छोटे पुत्र-पुत्र को राजा बनाना चाहते थे । राजा के इस कार्य से प्रजा सहमत न थी । अतः उसने राजा का विरोध किया । परन्तु शुक्राचार्य के सेवल एक वाक्य में प्रजा के समस्त विरोधी भावों को क्षान्त कर दिया था । जिसके फलस्वरूप पुत्र को राजपद मिल गया । शाण्डवी के वनवास काल में भी श्रीम्य नामक ऋषि मुनिष्ठिर को साथ रहते थे । हतना ही नहीं बरन् किसी अटिल समस्या के प्रस्तुत होने पर राजा स्वयं ऋषियों के आश्रमों पर उस विषय पर सम्मति लेने के लिए जाया करते थे अथवा उन्हें अपने पास माने के लिए बाहरपूर्वक आमंत्रित करते थे । हस्तिनापुर के राजाओं के सामने संकट उपस्थित होने पर व्यास याव किए जाते थे और वह तुरन्त वहाँ पहुँचकर राजा को उस संकट से मुक्त करने के हेतु उन्हें उचित उपदेश देते थे । मुनिष्ठिर के मार्ग में जब कभी किसी प्रकाश का संकट था जाता था और वह उसे हटाने में प्रपने की प्रसमर्थ पाते थे तो वह तुरन्त व्यास मुनि का स्मरण करते थे जो तुरन्त वहाँ पहुँच कर उसका मार्ग साफ करने का सपास बना देते थे । कृष्ण जैसे राजनीति-विचारक के सामने भी ऐसे अवसर उपस्थित हुए हैं जब उन्हें ऋषि-मुनियों की शरण में जाना पड़ा था । अन्वक-वृष्णि-भृकुट-यादव-भीम संघ में विभिन्न दलों के लग विचारों के कारण कृष्ण अत्यन्त किन्तातुर हो जाते हैं । वह नारद की शरण में जाते हैं और उनसे इस सम्मन्ध में उपदेश ग्रहण करते हैं । इस अवसर पर नारद ने जो उपदेश कृष्ण को दिया है वह साथ ही राजनीतिक संसार में बड़े

महत्त्व का समझ आता है। महाभारत में एक स्थान पर यह विस्तारित किया गया है कि एक बार नारद धार्मिक राजा मुनिष्ठिर की सेवा में प्रवेश करते हैं। वहाँ पहुँचकर नारद शासन सम्बन्धी धर्मकों प्रभु राजा मुनिष्ठिर से करते हैं। शासन सम्बन्धी नारद का यह सम्वाद महाभारत के समापन में दिया गया है। महाभारत ■ अन्तर्गत राजनीतिक-विषयों पर जहाँ-जहाँ प्रकाश डाला गया है उनमें यह स्थल नये महत्त्व का है।

इस प्रकार ऋषि-मुनियों का प्रभाव अपने समय की शासन-प्रणाली पर बहुत गहरा पड़ता था। शासन सम्बन्धी विषयों पर राजा को उपदेश देने, उन्हें सन्मार्ग पर सँभालने और उन पर नियंत्रण रखने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं ऋषि-मुनियों पर प्रबलित था। ऋषि-मुनियों के इस प्रभाव और जनता के विचारों के बल के संयोग से रामायण और महाभारत-काल में शक्तिशाली जनमत का उदय हुआ था जिसने उस काल के राजाओं को स्वच्छाचारी बनने में बहुत कुछ रोक-थाम करने में सफलता प्राप्त की है। इस-लिए वह कहना अधिक ही होमा ■ रामायण और महाभारत काल में जनमत ने प्रजातन्त्रात्मक सरकार के पोषण-कार्य में बड़ा सहयोग दिया है। इसलिए उस युग का जनमत प्रजातन्त्रात्मक राज्य का एक महत्वपूर्ण तत्व बनकर उसकी दृढ़ि एवं विकास में भरसक सहायक होता रहा है।

सप्तम अध्याय

स्थानीय संस्थाएँ

प्राचीन भारत में संस्थायुग जीवन: -- प्राचीन भारत में मानव-जीवन का विकास विभिन्न स्थानीय संस्थाओं के आधार पर हुआ था। ऊर्ध्व-ज्यों मानव-जीवन उत्पत्तिशील होता गया और उससे सम्बन्धित संस्थाएँ जटिल होती गईं जैसे ही इन संस्थाओं की संख्या एवं उनके प्रकार-प्रकार में भी वृद्धि तथा परिवर्तन होते गए। वैदिक युग में मानव-जीवन पर्याप्त सरल था। उस समय जीवन सम्बन्धी जटिल समस्याओं का बहुत कम प्रादुर्भाव हुआ था। बार बरस चौद-बार धान्य ही उस समय की मुख्य संस्थाएँ थीं। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा मानव-जीवन विकसित हुआ था।

मानव-समाज में वर्गाग्रिम धर्म का संघटन कार्य-विभाजन की दृष्टि से किया गया था। मनुष्यों को उनके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार वर्गीकरण करना उचित समझा गया था। समाज में चारों वर्गों की व्यवस्था स्थिर रखने के निमित्त वैश्य वर्ग सर्वोपरि समझा जाता था। इसी प्रकार चारों भाषाओं में गृहस्थ धर्म सबसे महत्वपूर्ण माना गया था। कृषि, पशुपालन और घन का लेन-देन यह वैश्य वर्ग के तीन मुख्य व्यवसाय थे। धर्म-धर्म: इन व्यवसायों में विकास हुआ और इस विकास ■ साथ-साथ इन व्यवसायों से सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाओं की संख्या एवं उनके प्रकार-प्रकार में भी वृद्धि एवं परिवर्तन हुए। कृषि शक्रेता ही एक बड़ा धर्म है। इस धर्म के मंत्रालय के

लिए इनके संपत्तियों की आवश्यकता पड़ती है। कृषि-कार्य के लिए बहुत से मनुष्य, पशु एवं अन्य प्रकार की सामग्री आवश्यक है। पशु पालन भी कृषि का ही एक बड़ा भाग है। इस विभाग के माध्यम से इनके स्थानीय संस्थाएँ अन्य जाती हैं। इसी प्रकार इन के सेत-सेत सम्बन्धी कार्य संस्थापन के निमित्त भी बहुत सी संस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है।

मानव-जीवन की यह प्रगति निश्चय रही। इसके साथ-साथ जीवन सम्बन्धी संस्थाएँ भी जन्म लेती गई और विकास की प्राप्ति होती रही।

कुटुम्बः—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन अकेले सुख-मय व्यतीत नहीं हो सकता। अपने जीवन की स्थिर रखने एवं उसे सुखमय बनाने के लिए किसी न किसी जनसमूह का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। उसके लिए सब से प्रथम सुसंगठित जनसमूह कुटुम्ब होता है। कुटुम्ब सामाजिक जीवन की इकाई है। प्राचीन भारत में कुटुम्ब बड़ी महत्वकांक्षिणी संस्था रही है। भारतीय राजनीति-विचारकों ने कौटुम्बिक जीवन पर विशेष महत्व दिया है। सामाजिक जीवन की उत्तमता के सिद्धकौटुम्बिक जीवन की बड़ी आवश्यकता बताई गई है। उन्होंने कुटुम्ब की स्वतंत्रता को सर्वोच्च मान्यता दी है। उन्होंने ऐसे राज्य को सर्वोच्च निष्ठा की दृष्टि से देखा है जहाँ कुटुम्ब की स्वतंत्रता राज्य द्वारा अक्षुण्ण की जाती हो और जहाँ कुटुम्ब और राज्य के बीच विभाजक रेखा सर्वदा के लिए सुप्त रहती है। हिन्दू युग में भारतीय नरेशों ने कुटुम्ब की स्वतंत्रता की ओर विशेष ध्यान दिया है और इस सिद्धान्त को सर्वोच्च मान्यता दी है। कुटुम्ब के सदस्यों को अपने अनुरूप व्यवसाय वरदान करने, शिक्षा प्राप्त करने तथा धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों के करने में राज्य की ओर से पूर्ण स्वतंत्रता थी। ऐसे विषयों में राज्य हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन करता था। इस बात का उल्लेख पूर्व किया जा चुका है कि प्राचीन भारत में कौटुम्बिक जीवन का नियंत्रण उन प्रथाओं, पद्धतियों एवं कृतियों के द्वारा होता था जिनका उद्देश्य स्वयं कुटुम्ब में। इसके प्रतिरिक्त प्रत्येक कुटुम्ब अपने-अपने विशेष नियम में जो उस कुटुम्ब के विशेष जीवन की स्थिर रखते थे। राज्य इन नियमों को प्रमाण मानकर मान्यता देता था। इस प्रकार यह नियम विधि का स्थान बहुरूप कर लेते थे। परन्तु इन विभिन्न कुटुम्बों के सामान्य जीवन का नियंत्रण करने के लिए शक्तियों के

द्वारा विधि बनाए गए थे जिसका पालन करना इन कुटुम्बों के सदस्यों का परमधर्म था। यह विधि साथ ही गृह-सूत्रों के रूप में प्राप्त हैं।

इस प्रकार प्रत्येक कुटुम्ब एक छोटा स्वतंत्र राज्य था, जिसका जीवन-संचालन गृह-सूत्रों में प्रतिपादित नियमों के आधार पर होता था। इन नियमों में अतिरिक्त कुछ प्रथाएँ, पद्धतियाँ एवं कदियाँ प्रचलित थीं। राजा को इन नियमों एवं प्रथाओं, पद्धतियों तथा कदियों में हस्त-क्षेप करने का अधिकार न था। राजा के कर्तव्यों में से एक यह भी प्रमाण कर्तव्य था कि वह अपने राज्य के प्रत्येक भाग में कौटुम्बिक जीवन के इस संगठन को स्थिर रखता और उन व्यक्तियों को समुचित दण्ड देता जो कि इस संगठन के नियमों का उल्लंघन करते हुए गए जाते थे।

रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में इस सिद्धान्त की व्यवस्था को पुष्ट करने के लिए अनेकों प्रमाण प्राप्त हैं। इससे कौटुम्बिक जीवन के निर्वचन में ऋषि-मुनियों का हाथ था। इस क्षेत्र में राज्य का अधिकार नहीं के बराबर था।

ग्रामः—भारत के ग्रामों की उत्पत्ति और उनके विकास के कुछ विशेष कारण हैं। भारतीय मूनि, जलवायु, और ऐसे ही अन्य प्राकृतिक साधनों ने ग्रामों के विकास में भरसक सहयोग दिया है। जैसा कि पूर्व सिद्धा जा चुका है, भारतीय सभ्यता का विशेष सम्बन्ध ग्रामों से है। इस सभ्यता का उद्गमस्थान विभिन्न भाष्यम थे। यह वास्तव गहन वनों में अथवा पर्वत की कन्दराओं में स्थित थे जहाँ सर्वप्रथम इस सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ था। इसी कारण इस सभ्यता में मानव जीवन की सरलता एवं पवित्रता को विशेष महत्त्व दिया गया है। वैदिक युग में जीवन-निर्वाह का मुख्य साधन कृषि-कार्य था जिसका सुचारु रूप से संचालन करने के लिए ग्रामों की व्यवस्था अनिवार्य थी। इस कारण वैदिक काल में ही बहुत ग्रामों की उत्पत्ति हो गई थी। वर्षों-वर्षों समय व्यतीत होता गया कृषि-कार्य में भी विकास होता रहा। कृषि-कार्य के विकास के साथ-साथ ग्रामों की संख्या एवं उनके आकार-प्रकार में भी विकास एवं वृद्धि होती गई। यह ग्राम इस सिद्धान्त के आधार पर संघटित किए गए थे कि उन्हें अपनी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति में सिंधु नदियों के आश्रित

रहना न पड़े। यह काम अपने साम्प्रतिक प्रयत्न के लिए पूर्ण स्वतंत्र
 थे। इन पर बाह्य हस्तक्षेप बहुत कम होते थे। प्रत्येक काम अपने
 साम्प्रतिक साधन के लिए संस्कार्य स्वयं करता था जो अपने शासन-
 कार्य के क्षेत्र में स्वतंत्र थी।

रामायण और महाभारत-काल में काम-व्यवस्था थी। रामायण
 में कामों का उत्कीर्ण है परन्तु उनके विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं हैं।
 इन कामों की शासन-व्यवस्था का वर्णन भी रामायण में उपलब्ध
 नहीं है। परन्तु यह बात निश्चित है कि रामायण-काल में सम्यक्
 राज्य में बहुत से काम थे। राम को युवराज-पद के लिए बरण
 करते समय सम्यक्वासिनों ने उनके नृत्तों का वर्णन करते हुए कहा
 है कि जब कामों सम्बन्ध सहित राम विजय की कामना से प्रयत्न
 करते थे तो वह मनर्षी और राजा की बिना विजय किए हुए वापस
 नहीं आते थे।*

राम के वनव्रत के अक्षर पर मन्त्रों ने उनके साथ वन
 जाने के लिए प्रार्थना किया था। राम ने उन्हें बहुत सम्मनना
 वह वन न आकर राजधानी में ही बस कर क्योंकि उनकी अनु-
 पस्थिति में वह कीर्तना माता का भरण-पोषण कर सकेंगे। इस
 पर मन्त्रों ने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया था कि माता कीर्तना
 अपने भरण-पोषण के लिए किसी दूसरे के आश्रित नहीं हैं। मेरे
 समान सहस्रों व्यक्तियों का भरण-पोषण करने में वह स्वयं समर्थ
 हैं क्योंकि उनके भरण-पोषण के हेतु उन्हें सहस्रों ग्राम मिले हैं।†
 इसलिए इस विषय में किसी प्रकार की भी चिन्ता करने की आवश्यक-
 कता नहीं है।

रामायण में राम के मुनिर्षों की ओर भी संकेत किया गया है।
 रामायणकार ने उन्हें महर्षि के नाम से सम्बोधित किया है।‡

*—महा ऋषि संप्रार्थना ग्रामार्थ भगवत्स वा।

स्क० १६ सर्ग २, अयोध्या० का०।

†—मत्स्याः सहस्रं ग्रामाणां संप्रभुत्वकीर्तिनाम्।

स्क० २६ सर्ग ३१, अयोध्या० का०।

‡—ग्रामबोधमहर्षिः।

स्क० १५ सर्ग २३, अयोध्या० का०।

रामायण के युद्धकाण्ड में रामायणों का भी उल्लेख है। वैदिक युग में ग्रामणी राजकर्तारों में से एक राजकर्ता होता था जिसे रत्निम् भी कहते थे। रामायण-काल में ग्रामणी का क्या स्थान था इसका नहीं भी वर्णन नहीं मिलता। परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि रामायण-काल में भी ग्रामणी का पद बहुत ऊँचा माना जाता था। रावण ■ वध के उपरान्त देवगण आनन्दित हुए। उन्होंने राम के गुरुगान करते हुए उन्हें सेनानी और ग्रामणी की समानता दी है।* इससे यह विदित होता है कि ग्रामणी ग्राम का बहुत बड़ा अधिकारी होता होगा जो राजा की बुद्धि में प्रथम स्थानित एवं प्रतिष्ठित पदाधिकारी होता होगा।

महाभारत में भी ग्रामों का उल्लेख है। नारद ने भृगुकिंठर की लम्हा में पहुँचकर उनसे शासन सम्बन्धी प्रश्नों प्रश्न किए थे। इन प्रश्नों में से एक प्रश्न यह भी था कि क्या वह अपने राज्य के ग्रामों की उन्नति की ओर विशेष ध्यान देते थे।† महाभारत में छोटे और बड़े दोनों प्रकार के ग्रामों का वर्णन है। कुछ इस प्रकार के भी ग्राम थे जिनमें शीवजन रहते थे और जो बुद्ध का व्यवसाय करते थे। महाभारत में ग्राम-बुद्ध शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम-बुद्ध ग्राम के विशेष अधिकारी थे जिनके द्वारा ग्राम का प्रबन्ध किया जाता था।

इस प्रकार यह विदित होता है कि रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में ग्रामों का क्या था। रामायण में ऐसा लिखा हुआ है कि कुछ ग्राम कीसल्या के अधिकार में थे। ऐसा ज्ञात होता है कि कीसल्या को यह ग्राम जल से अपने पिता की ओर से बहेज में मिले होंगे अथवा उन्होंने अपनी बुद्धि में से धन अर्थात् इन ग्रामों की मोल लिया होगा। महाभारत में भी ऐसा वर्णन है कि दुर्योधन ने लोगों के ग्रामों की ओर दस हस्त गवन किया था कि इन ग्रामों में आकर बड़ी के

*—सेनानीग्रामणीः सर्वरत्नम् ।

श्लो० १६ सर्ग, ११०, अष्टक १ ।

†—कश्चित्तराज्यस्यैव ग्रामा अत्यल्पवृत्ताः ।

श्लो० ८४ अष्टक ६, सर्ग ६० ।

वस्त्रों को राजकीय चिह्नों से संकेत कर दिया जाए ।* जिससे वह बड़े राजकीय समझे जायें । नारद ने भी युधिष्ठिर को यह उपदेश दिया था कि वह अपने राज्य के ग्रामों को नगरों की भाँति बना देने का प्रयत्न करें ।

इन घटनाओं से सात होता है कि रामायण और महाभारत-काल में राज्य के ग्रामों पर राजा का कुछ न कुछ अधिकार अवश्य रहता था । परन्तु ग्राम के दैनिक जीवन में राजा का यह अधिकार केवल नाम-मात्र का था । इन ग्रामों पर राजा का अधिकार साधारणतः दो विधियों तक सीमित था । पृथ के समय में राजा को इन और उन से सहायता करना और समय पर निर्धारित कर राजकोष के निमित्त भेज देना इन दो अधिकारों के प्रतिरिक्त राजा अपने राज्य के ग्रामों में हस्तक्षेप न करता था । राज्य में बाह्य एवं आन्तरिक व्यवहार करनेकी उठते रहें परन्तु ग्राम के संगठन एवं जीवन पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ता था ।

ग्राम के आन्तरिक प्रबन्ध के लिए वही के निवासी नियुक्त थे । ग्राम-वृद्ध और ग्राम-महत्तर शब्द यह स्पष्ट करते हैं कि यह ग्राम-वासियों के प्रतिनिधि थे और जिनके द्वारा ग्राम का प्रबन्ध होता था । इसलिए रामायण एवं महाभारत कालीन यह ग्राम अपने दैनिक शासन की दृष्टि से स्वतंत्र संस्थाएँ थीं जो अपने आन्तरिक प्रबन्ध के लिए राज्य के बाधित न थे ।

नैगम—रामायण में नैगम शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है । इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वाल्मीकि के अन्तिम सर्ग में हुआ है । रामायण के इस सर्ग में इस प्रकार वर्णन है—भरत और कपुष्प के निनिहाल बने जाने के उपरान्त राम और लक्ष्मण देव सुमुख पिता की सेवा करने लगे और उनकी आज्ञा से राम पौर कार्यों की देख-रेख करने लगे ।† वह समय-समय पर गुरुओं के बड़े-बड़े आश्रमों पर ध्यान दिया

*—रामयीचेपु वेरोपु घोषा: संघसि कीरय ।

स्मारणे समयः प्राप्ते वास्तानामपि चाङ्गमम् ॥

... श्लो० ४ अ० २६८, वच ५० ।

†—विष्णुसहस्रं पुस्तकस्य पौस्तक्यसि सर्वकः ॥

श्लो० २१ सर्ग ७०, वाच ५० ॥

करते थे । राजा दशरथ, बाह्याण और नैगम राम पर विशेष स्नेह करने लगे ।*

उपरोक्त वर्णन पर मसी भौति मनन करने ■ उपरान्त यह प्रश्न किया जा सकता है कि राजा दशरथ बाह्याणों और नैगमों के राम पर विशेष स्नेह रखने का क्या कारण हो सकता है ? इसका उत्तर यही होगा कि राजा दशरथ तो इसलिये राम पर स्नेह करने लगे थे कि वह उनके योग्य पुत्र थे, बाह्याणों के स्नेह करने का कारण यह हो सकता है कि राम समय-समय पर उनके काम कर बैठे थे और नैगमों का राम के प्रति विशेष स्नेह करने का कारण यही हो सकता है कि वह पौर कार्यों ■ सम्पादन करने में विशेष सहयोग देते थे ।

इस वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि नैगम और पौर में विशेष सम्बन्ध था । पौर कार्यों का कुछ अंश नैगम के अधीन भी होगा । राजधानी के स्थानीय विषयों के शासन-प्रबन्ध का भार पौर पर निर्भर था । अतः नगर के स्थानीय विषयों में से कुछ ऐसे विषय होंगे जिनका शासन-प्रबन्ध नैगम के द्वारा होता होगा ।

महाभारत में भी नैगम का कुछ वर्णन मिलता है । महाभारत के समापर्व में यह लिखा हुआ है कि नैगम दूधिक्षिर की सभा में बैठते थे । यह लोग राजा का हित चिन्तन करने, प्रायिक योजनाओं को सफल बनाने और सन्धि-विग्रह आदि पर विचार करने के निमित्त सामान्य राजाधियों के साथ सभा में बैठते थे । इसी स्थल पर महाभारतकार ने यह भी लिखा है कि यह नैगम विष-भिन्न प्रकार से उत्पन्न हुए थे (पृथग्जात्यैश्च नैगमैः) ।† इससे पता चलता है कि नैगम विभिन्न नगरों में थे । यह केवल राजधानी ही में न थे । इन नैगमों को अपने प्रतिनिधि केन्द्रीय सभा में बैठने का अधिकार प्राप्त था ।

नैगम नाम्य का प्रयोग उद्योग पर्व के आरम्भ में भी हुआ है । यहाँ पर यह बतलाया गया है कि बलदेव ने विराट सभा में युद्ध का

*—एवं दशरथः प्रीतो बाह्याणां नैगमास्तथा ॥

स्कन्० २३ सर्ग ७०, वाक्य का० ।

†—विषं कर्तुमुपस्थातुं पथिर्धर्मैः स्वकर्मजम् ।

अभिहर्तुं नृपाः पटुस्तु पृथग्जात्यैश्च नैगमैः ।

स्कन्० ११ अ० १३, लघा० ५० ।

विरोध करते हुए एक दूत को कुक्षमा में भेजने में अपनी सम्मति दी थी और दूत को समझाया था कि वह जाकर कुक्षमा में ऐसे समय में प्रवेश करे जब कुक्षमा की बैठक हो रही हो। ऐसे अवसर पर कुक्षमा के सदस्यों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था कि नीलम, दीण, प्रह्वधामादि और योद्धा वीर जानपद के सदस्य तथा नैगम के प्रधान उस सभा में उपस्थित हों।*

रामायण और महाभारत में वर्णित उपरोक्त घटनाओं पर विवेचन करने के उपरान्त यह ज्ञात होता है कि नैगम नगर की एक संस्था थी। यह नगर के स्थानीय विषयों का प्रबन्ध करती थी। विशेषकर नगर की प्राथमिक योजनाओं का कार्यभार इसी के कर्णों पर रहता था। इस संस्था में अधिकतर बड़े-बड़े वस्तुिक लोग सदस्य थे और नगर के व्यापार सम्बन्धी कार्यों को संचालित करना इसी संस्था का कार्य था। नैगम के प्रतिनिधियों को केन्द्रीय सभा में सदस्यता का अधिकार था और वहाँ पर प्राथमिक योजना सम्बन्धी कार्यों में उनका विशेष हाथ रहता था। इस प्रकार की नैगम संस्थाएँ राज्य के प्रत्येक नगर में थीं।

रामायण काव्य में नैगम राज्य की वही महत्त्वपूर्ण संस्था समझी जाती थी। रामायण में वर्णित लगभग प्रत्येक महत्त्वपूर्ण भवत्तर पर नैगम उपस्थित देखे गए हैं। उन्हें ऐसे भवत्तरों पर ठीका स्थान दिया गया है। राम को युवराज पद देने के लिए प्रत्येक प्रकार की तैयारी की गई थी। प्रभात होते ही सोम राजा दशरथ की प्रतीक्षा करने लगे। परन्तु वह तो कैकेयी के द्वारा रचे प्रपञ्च में कैसी वे। अधिक निरन्ध्र ही जाने पर राजगुरु वसिष्ठ ने यह संदेश सुमन्त्र के द्वारा भेजा—
अग्निवेश की सारी क्षामयी प्रस्तुत है। पौर और जानपद के श्रेष्ठ और नैगम अपने दम सहित द्वार पर सजे द्वार की राट जोह रहे हैं। यह सोम अन्य देवों से भ्राए हुए राजाओं के साथ लगे थे।

इस कथन से यह पता चलता है कि राज्य में नैगम वही मजदूर-
पूरा संस्था थी। इसका राजा पर महान् प्रभाव पड़ता था। नियम के

*—सर्वे च ये ज्ञेयवृत्ताद् पुत्रा यक्षप्रधाता विनामप्रधाताः ।

स्त्री० ६ अ० २, उद्योग ५० ।

†—वीरबागवद श्रेष्ठो नैयमप्रवृत्तः सन्धैः सह ।

। अथर्ववेदः ।

सदस्यों का स्थान और जातिपद एवं सम्पत्ति राजाओं के समान था ।
धीरे धीरे धीरे के धीरे धीरे राजाओं ■ साथ नौगमों को बड़ा हुआ
सत्ताप्राप्त गया है ।

राजा की आज्ञा पाकर सुमन ने राम को राजा के पास ले जाने के
लिए प्रस्थान किया । वह राजप्रासाद के द्वार पर सम्पत्ति, सेना के मुख्य
अधिकारी गया और नौगम ■ सुमन को बड़ा पाते हैं ।* यहाँ श्री
नौगम के सदस्यों को कवि ने सेना ■ बड़े-बड़े अधिकारियों और
अमात्यों के साथ बड़ा बड़ा किया है । राम को मनाने के लिए जब
भरत चिन्तित हुए थे तो नौगम ■ सदस्य भी उनके साथ ही बन को
गए थे और राम के मनाने के सम्बन्ध में चिन्तित नें राम और भरत
के मध्य जो बातचीत हुआ था उसमें नौगम के प्रवक्ताओं ने भी भाग
लिया था ।† राम के बन्धन की अवधि समाप्त होने के उपरान्त
वह समीक्षा कोटवार गए । ऐसा समाचार सुन भरत ने राम के स्वागत
के लिए एक बड़े समारोह का आयोजन किया था । इस समारोह में
नौगमों को प्रमुख स्थान मिला था । प्रमुख ब्राह्मणों, मंत्रियों, क्षत्रियों के
मुख्य गण और नौगमों के द्वारा भरत विरे हुए दिखलाये गए हैं ।^{३३}
इससे यह स्पष्ट हो जाता है ■ नौगम का राज्य में प्रमुख
स्थान था ।

इस प्रकार यह बात होती है ■ नौगम एक स्थानीय संस्था थी,
जो नौगम प्रत्येक नगर में होती थी । इसका मुख्य कर्तव्य नौगमों
का धारण की रचना, उसे संगठित करना एवं उसकी वृद्धि करना थी ।
यह धनता की संस्था थी । इसके सदस्यों को नौगम, और विभिन्न
विभागों के अध्यक्षों को नौगम मुख्य कहते थे । यद्यपि यह स्पष्ट नहीं
है कि इसके प्रधान की किस नाम से सम्बोधित करते थे परन्तु निम्नलिखित

*—जाह्नवा बन्धुसुन्दरस्य नौगमस्यप्रवक्तादिभिः ।

रको० १३ सर्ग १२, अथोपमा प्रवक्ता—०

†—सत्यविजो नौगमस्यप्रवक्तास्तथा ।

रको० १२ सर्ग १०९, अथोपमा सुप्रवक्ता—१

‡—विजयसिन्धुस्यैवर्षमात्मा मेघीमुख्यैः सनैगमैः ।

जीमवत्

मत्स्यमोक्षद्वयैव मंत्रिभिर्भरतो युतः ॥

रको० १९ सर्ग १२० सुप्रवक्ता—१

प्रधान, नैगम मूख बल्लभ भावि कुछ लब्ध दिये हुए हैं।* इनके आधार पर विहित होता है कि नैगम के प्रधान को नैगम मूख बल्लभ भयवा नैगम प्रधान कहते थे।

राज्य की ओर से नैगमों को अधिकार प्राप्त था कि वह अपने प्रतिनिधि राज्य की सर्वोच्च सभा में भेज सकते थे। राज्य इन नैगमों की स्वतन्त्रता को सम्मत्ता देता था।

श्रेणी:—रामायण और महाभारत काल में श्रेणी गी जनता की एक प्रसिद्ध स्थानीय संस्था थी। नैगम की चालि छोटी का भी उल्लेख दोनों ग्रंथों में प्राप्त है। परन्तु इन दोनों ग्रंथों में कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं दिया हुआ है जिसके आधार पर श्रेणी के वास्तविक स्वरूप का निरूपण किया जा सके। परन्तु इतना अवश्य दिया गया है कि राज्य में महत्वपूर्ण कार्यों के उपस्थित होने पर श्रेणी के सदस्यों को भी बुलाया जाता था।

रामायण के अयोध्या काण्ड में ऐसा वर्णन मिलता है—बनगमन का आदेश पाकर राम अपनी परन मित्र सीता के सहित में गए। उस समय राम कुछ लज्जित थे बतः उनका सर नीचे की ओर झुका हुआ था। ऐसा देखकर सीता काँप गई। उन्होंने शोक संतप्त एवं चिन्ता-ग्रस्त अपने पति से पूछा—नरश्रेष्ठ सोसने में चतुर दम्भीगण-मगध प्रसन्नतापूर्वक आपके मंगल गान करते हुए विलसाई नहीं पड़ते ! समस्त प्रजा, पीरबामपद और श्रेणी के मुखिया गण आपका अनुमन नहीं करते।† इस कथन से श्रेणी के महत्व का बोध होता है।

अयोध्या काण्ड में ही दूसरे स्थल पर श्रेणी का महत्व बतलाया गया है। राजा दशरथ के निधन के चौदहवें दिन अयोध्या राज्य के समस्त राजकर्त्ता एकत्र होकर अयोध्या का राज्य भरत को सौंपते हुए कहते हैं—भरत, आपके स्वजन तथा श्रेणी के लोग आपको राजपद पर

*—विश्वस्यमानः ।

श्लो० ६ अ० २ अधोऽयं ५० ।

†—न त्वां प्रकृतवाः सर्वाः श्रेणी मुख्यास्तु भूमिताः ।

अनुसन्धितसिद्धान्ति रौद्रजनपदास्तथा ॥

श्लो० ॥ सर्गे २६, अयोध्या ५० ।

प्रभिविभक्त करने के लिए बाट जोह रहे हैं।" इस स्थान पर श्री श्वेती के महत्व का पता चलता है और ऐसा विहित होता है कि सभी राजा के राज्याधिकार ■ व्यवहार पर श्वेती का प्रमुख हस्त रहता होगा।

अयोध्या काण्ड में ही यह वर्णन मिलता है कि क्षत्रकुट में भरत ने राम को भजाने और उन्हें अयोध्या के राज्य की सौंपने का प्रस्ताव राम के समक्ष एक बड़ी सभा में रखा था। ऐसे व्यवहार पर श्वेती के अवस्था भी उपस्थित थे। इस व्यवहार पर भरत ने अपनी यह बयिताया प्रकट की थी कि श्वेती के मुखिया अयोध्या की राजमहली पर राम को बैठा हुआ देखें।† भरत के इस वचन से भी श्वेती के महत्व का बोध होता है और पता चलता है कि राजा की नियुक्ति के व्यवहार पर श्वेती की प्रमुख स्थान मिलता था।

रामायण के कुछ काण्ड में भी श्वेती का वर्णन है। राम के जग से लौट आने पर भरत ने उनके स्वागत ■ निःसमारोह के आयोजन करने के लिए राज्य के जिन प्रमुख वर्गों को प्रार्थना किया था उनमें श्वेती के अवस्था भी सम्मिलित हैं। जिस समय यह समारोह प्रस्थान करता है तो भरत की चारों ओर से मणिगण, प्रमुख साहसग, नैगम और श्वेती के मुखिया घेरे हुए दिखाए गए हैं।‡ कवि के इस प्रकार के वर्णन से विहित होता है कि रामायण काल में श्वेती एक महत्वपूर्ण संस्था थी जिसके अवस्था राजा के समारोहों, प्रमुख साहसगों और नैगम सचस्यों के समान भाग्य प्राप्त करते थे।

महाभारत में भी इस संस्था का वर्णन है। महाभारत-काल में

*—आभिषेकनिकं सर्वभिरुत्तमैः राजैः।

प्रतीकते रथा रथजगः श्वेतरथ नृपारमजः॥

श्लो० ४ सर्ग ७१, अयोध्या क०।

†—श्वेतरथस्य महाराज परवन्धवः प्रवारण सर्वतः।

प्रसप्तमिकादिरथं राज्यस्थितमरिंदमम्॥

श्लो० ११ सर्ग १०२, अयोध्या क०।

‡—दिनातिमुक्तेभ्यस्तथा श्वेतीमुख्यैः स नैगमैः।

श्लो० ११ सर्ग १०३, बुध क०।

माहाराजस्यराज्याः श्वेतीमुख्यैस्तथा गणाः।

श्लो० ४ सर्ग १२७, बुध क०।

भी श्रेणी का स्थान ऊँचा माना जाता था। श्रेणी के सदस्यों के मत का राजा विशेष ध्यान रखता था। गन्धर्वराज विजयेन के द्वारा बराला होने से दुर्बोधन बड़ा दुखी एवं लज्जित था। परन्तु उसे सबसे अधिक लज्जा इस बात की थी कि वह श्रेणी के सदस्यों को अपना मुँह कैसे दिखाएगा। उसे बड़ा मय था कि श्रेणी के मुखिया उसे क्या कहेंगे। श्रेणी के मुखियों के मत का उसे इसना ध्यान था कि वह वन में अन-लन के द्वारा प्राण त्यागना उचित समझता था ; परन्तु इस्तिनापुर घापस आश न चाहता था।*

महामारत में श्रेणी-सल का भी उल्लेख है।† इससे विदित होता है कि श्रेणी को अपनी सेना रखने का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त था। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि महामारत-काल में श्रेणी इतनी महत्वपूर्ण संस्था थी कि उसे अपनी रक्षा के लिए सेना रखने का भी अधिकार था। श्रेणी के संचालन के लिए कुछ विशेष नियम थे जो श्रेणीधर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हें राज्य प्रमाण मान कर मान्यता देता था। राज्य को इन श्रेणी धर्मों पर हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था।

इसलिए यह विदित होता है कि श्रेणी भी एक स्थानीय संस्था थी जिसके स्वतंत्रतापूर्वक संचालन में राज्य कभी बाधक नहीं होता था। यह संस्था भी राजा पर अपने प्रतिनिधियों द्वारा प्रभाव रखती थी और समय-समय पर भ्रम, जन-घोर मुसम्मति से राजा की सहायता करती रहती थी। श्रेणी अपने निर्धारित क्षेत्र में कार्य करने में पूर्ण स्वतंत्र थी।

गरुड—रामायण-काल में गरुड भी एक महत्वपूर्ण स्थानीय संस्था

*—भाष्यः श्रेणीमुत्तमस्य तथैवासीन्निवृत्त्यः ।

किं वा वरुणस्य किंचापि प्रतिवक्ष्यामि तान्दृष्टुम् ॥

रखो० १६ अ० २४८, वन पर्व ।

†—श्रेणी धर्म प्रथमो ॥

रखो० ७ अ० ६, आश्वत्थामासिक १० ।

श्रेणीः बले भूतं येन हृदये पश्येति मतिः ॥

रखो० ८ अ० ६, आश्वत्थामासिक १० ।

भी । रामायणकार ने यद्यपि शब्द का प्रयोग मुख्य दो धर्मों में किया है । वह है दल (Party) और जन-समूहाय (Association of People) । रामायण के अयोध्याकाण्ड में ऐसा वर्णन मिलता है ■ राम ■ युधराज-नय पर अभिविभक्त करने के लिए प्रायः राजद्वार पर लड़े ■ राजा दशरथ की प्रतीक्षा कर रहे थे । परन्तु अधिक विचित्र हो जाने पर भी राजा को महल से बाहर आना हुआ न देखकर बलिष्ठ ने सुर्मन को राजा के पास भेजा और उन्हें आदेश दिया कि वह सीता राजा से जाकर कहें ■ आचार्य, ब्राह्मण, गौ, पवित्र पशुपक्षी, पीर आनपक्ष के श्रष्ट और शैव्य अपने-दोनों सहित (गणैः सह) द्वार पर राजा ■ प्रतीक्षा कर रहे हैं ।*

रामायण के धर्मप्रकाण्ड में यह वर्णन मिलता है कि शरभङ्ग मुनि के शरीर बले जाने पर दण्डकारण्य-वासी मुनि अपने-अपने शरीरों के साथ प्रति तैजस्वी काकुत्स्थ रामचन्द्र के समीप आकर इस प्रकार बोले—राम भद्र, बानप्रस्थी का दल जिसमें ब्राह्मणों की संख्या अधिक है और जिसके आप स्वामी हैं, राज्यों के द्वारा अनेक प्रकार से मारे गए हैं ।†

रामायण के सुन्दर काण्ड में गया सहर का प्रयोग हमी चर्च में हुआ है । हनुमान इन्द्रगिरि के द्वारा लंका नगरी में लम्बी बनाद गए थे । इन्द्रवित्त उन्हें लम्बी बनाकर रावण की सभा में ले गया और उसने राक्षस और सभा के सभासदों के बल (प्रबलान्) को लम्बी हनुमान की दिखाया था ।‡

*—आचार्यो ब्राह्मणो गौःपुन्यपक्षः पशुपक्षिणः ।

पीर आनपक्षोऽपि भैरवस्तथ गच्छेः सह ॥

श्लो० ४० सर्ग १४ अयोध्या का० ।

एते भग्न्ये च बहवः श्रीवमाणाः विपद्यतः ।

अतिशोक्य रासस्य सह तिष्ठन्ति पार्श्विकैः ॥

श्लो० ४१ सर्ग १४, अयोध्या का० ।

†—सौम्यब्राह्मणमुपिहो बानप्रस्थगणो महान् ।

सर्वं जगद्विनायकं तस्य राक्षसैर्हन्वते शृणुम् ॥

श्लो० १२ सर्ग १, अयोध्या का० ।

‡—स्वर्त्तपत्रमहाभक्तं तं हरिप्रवीरं सगन्धार राधे ।

श्लो० २२ सर्ग ४८, सुन्दर का० ।

रामायणकार ने इस शब्द का संगठित जन-समुदाय के अर्थ में भी प्रयोग किया है। राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त वसिष्ठ ने भावी राजा की नियुक्ति के निर्णय के हेतु राज्यसभा में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वीरधारियों, अनाथों, और गणशस्त्रियों को बुलाया था।* यहाँ गण संगठित जन-समुदाय से जिसके सदस्यों का प्रयोग को सभा में बुलाया गया था ऐसा स्पष्ट वर्णित है।

राम के चौदह वर्ष वनवास भोग लेने के उपरान्त वह श्रयोध्या मापस आते हैं। उनके स्वागत के लिए एक बड़े समारोह का आयोजन किया जाता है जिसमें राजघराने की स्त्रियाँ, अचार्य, सैनिक, ब्राह्मण, राजकुमार, श्रेणी तथा गणों के सदस्य प्रमुख व्यक्ति थे।† इस प्रकार गण एक संगठित जन-समुदाय था जिसके सदस्य अन्य स्थानीय संस्थाओं जैसे नैगम, श्रेणी आदि की मालि इस समारोह में सम्मिलित थे और जिन्हें सरत ने इस समारोह के सम्पादन के लिए आदेश दिया था।

इसलिए गण एक स्थानीय संस्था थी जिसका राज्य में बड़ा महत्व था। इसके सदस्यों को केन्द्रीय सभा में बैठने का अधिकार था। भावी राजा की नियुक्ति के समय गण के सदस्यों को भी सम्मति ली जाती थी। गणों के संचालन के हेतु इनके अपने विधि थे जो गणधर्म के नाम से प्रसिद्ध थे, जिन्हें राज्य प्रमाणित मानकर मान्यता देता था।

महाभारत में गण शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में हुआ है। गणसंचारक प्रजातन्त्र राज्य के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है। इस विषय पर प्रगते अध्याय में विवेचना की जाएगी।

संघ—संघ भी मनुष्यों के जनसमुदायों में से एक प्रसिद्ध जन-समुदाय था। रामायणकार ने इस शब्द का प्रयोग एक ही व्यवसाय-वाले लोगों के संगठित समुदाय के अर्थ में किया है। रामायण के श्रयोध्या काण्ड में बेट, नर्तकों और नायकों आदि के संघों का वर्णन

*—ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वीरधारिणान् अनाथान् गणशस्त्रिणान् ।

विप्रभानय × × × × ।

इको० १२ सर्ग ८१, श्रयोध्या का० ।

†—राजसूरास्तधामात्वाः सैन्याः सेनह्वनाग्ध्याः ।

ब्राह्मणारथ सराजग्याः श्रेणीभुक्थास्तथा गम्याः ।।

इको० ४ सर्ग १२७, युद्ध का० ।

है । राम के राज्याभिषेक सम्बन्धी समाचार को सुनकर गट, नर्तक और गायक संध भस्मंत प्रसन्न थे ।*

रामायण के भयोप्या काण्ड ही में अथ्य स्थल पर ऐसे अन-समुदायों की सूची दी है जिनके सदस्य एक ही व्यवसाय के आधार पर संवस्यता का अधिकार प्राप्त किए हुए थे । कवि ने इन अन-समुदायों को संघों के नाम से सम्बोधित किया है ।† भरत के द्वारा यह निर्णय कर लेने के उपरान्त कि यह राम को मनाने और उन्हें उनका राज्य सौंपने के लिए बन जाएंगे यह संध अत्यन्त आनन्दित हुए थे । इन संघों में विशेषकर मणिकारों, कुम्हारों, धूपकारों, छत्तों के द्वारा भीमका कमालेशाली, मोर की पूँछ से पंजादि कमालेशाली, रंगरेजों, दस्तकारों, गंधी, सुनारों, कम्बल बुननेवालों, धोबी, दरजी गद, मत्काही आदि के अलग-अलग संध अभिहित थे ।‡

प्रकार एक ही व्यवसाय के लोग एक अन-समुदाय के रूप में संगठित होते थे । अन-समुदाय की इस संगठित संस्था का नाम संघ था । यह संघ स्वतन्त्रतापूर्वक अपने क्षेत्र के अन्तर्गत सुव्यवस्थापूर्वक कार्य करते थे । इस युग में भी उनका स्वयं किसी भी शासनाधिक पंचायतों में देखा जा सकता है । यह पंचायत अपनी-अपनी जाति सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण कर लेती है और इस प्रकार अपनी जाति सम्बन्धी समस्याओं को भली भाँति सुलभ लेती है । इस क्षेत्र में इस युग में भी राज्य उन्हें स्वतन्त्रता दिए हुए है । इसलिए

*—मदनमूर्तक संवागं गणकानां च गावताम् ।

मनः कर्त्तुमुक्ता वाचः सुभाष जनता ततः ॥

श्लो० १२ सर्ग ६, अयोध्या का० ।

†—प्रजातद्वचार्थं संवातः रामं प्रष्टुं स कथम्ब ।

तस्यैव च कथश्चिन्ता सुवीर्या इष्ट मानसाः ॥

श्लो० ७ सर्ग ८३, अयोध्या का० ।

‡—मणिकारादेव ये केचिन्मणिकारादेव, सोमनाः ।

सूत्रकर्मोपिरोधता ये च शोषोपजीविनः ॥

मयूरकाः काकचिन्ता केचका रोष्कास्तथा ।

दन्तकराः सुभाषारा ये च गन्धोपजीविनः ॥

श्लो० १३ सर्ग ८३, अयोध्या का० ।

इन संघों के संचालन एवं उनके जीवन-शेष में राज्य हस्तक्षेप न करता था। राज्य इन संघों द्वारा बनाए गए नियमों की रक्षा करता था। इस दृष्टि से यह स्थानीय संस्था भी, रामायण काल में, बड़ी महत्वपूर्ण संस्था थी।

महाभारत में भी इस शब्द का कई स्थानों में प्रयोग किया गया है। परन्तु इसका विशेष महत्व राजनीतिक क्षेत्र में है। महाभारतकाल में इस शब्द का विशेषकर संघ-राज्य के अर्थ में प्रयोग किया है। इस विषय की विवेचना हमने अध्याय में की जा चुकी है।

पीर-जानपद—पीर और जानपद शब्द क्रमशः पुर और जनपद शब्दों से बने हैं। हिन्दू युग में राज्य, पुर (राजधानी) और राज्य इन दो मुख्य भागों में विभाजित किया जाता था। यह दोनों हिन्दू साम्राज्यक राज्य के दो मुख्य अंग माने जाते थे।

पीर और जानपद के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में राजनीति-विचारकों में मतभेद है। लोगों का कथन है कि पीर और जानपद क्रमशः पुरवासियों और राज्यवासियों के वर्गीयवादी शब्द हैं और इसीलिए इन शब्दों का प्रयोग बहुवचन में हुआ है। परन्तु दूसरी ओर के विचारक इस बात से सहमत नहीं हैं। वह पीर और जानपद नाम की दो अलग-अलग संस्थाएँ मानते हैं। शाकटायक काहीप्रसाद आदिसंन्यास ने कारवेला सेल, नासिक की खुर्दाई में प्राप्त पीर मुद्राओं, बीज साहित्य एवं ऐसे ही अन्य साधनों के आधार पर इस बात के सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पीर और जानपद क्रमशः राजधानी और राज्य की दो संस्थाएँ थीं। उन्होंने इस बात के सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रामायण में पीर शब्द का प्रयोग एकवचन में भी हुआ है जो पीर को एक संस्था के रूप में मान लेने में सहायक सिद्ध होता है। उनका कथन है कि प्राग्ज्य में रामायण में पीर शब्द का प्रयोग एकवचन में ही होता था परन्तु कुछ समय के अन्तर्गत हो जाने के उपरान्त पंडितों ने इस शब्द के वास्तविक अर्थ को न समझकर भूल से इस शब्द का बहुवचन बनाकर रामायण में सिल दिया। इस बात का प्रमाण यह है कि रामायण में कई एक ऐसे श्लोक अब भी प्राप्त हैं जिनमें पीर-जानपद शब्द कर्ता के स्थान पर बहुवचन में प्रयुक्त हैं परन्तु इनकी क्रिया का

प्रयोग एक ही मचन में हुआ है। इस सम्बन्ध में उन्होंने रामायण से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें कर्ता बहुवचन के होने पर किया एकवचन बोधक ■ है।* इस श्लोक के आधार पर उनका यह कथन है कि प्रारम्भ में वीर-जानपद का एकवचन ही इस श्लोक में था; परन्तु पंडितों ने भूल से भाव को बहुवचन कर दिया। रामायण की कई हस्तलिखित प्रतियों में सब भी इस स्थल पर ये शब्द एकवचन रूप में ही लिखे मिलते हैं। कृष्णाचार्य एवं व्यासाचार्य द्वारा रामायण का जो संस्करण किया गया है उसकी हस्तलिखित प्रतियों में यह शब्द इस स्थल पर एकवचन में ही प्राप्त है।

रामायण वीर महाभारत के उभे स्थलों का जहाँ वीर-जानपद शब्दों का प्रयोग किया गया है मधीरतापूर्वक ध्वनयन करने ■ सपरान्त यही विहित होता है कि वीर वीर जानपद दो संस्कारों की। इस सिद्धांत की पुष्टि सर्वप्रथम इस बात से होती है कि इन शब्दों का प्रयोग संस्थाबोधक शब्दों की मूलरत्ना में अधिकतर हुआ है। जिन शब्दों के साथ इन शब्दों का प्रयोग हुआ है वह संस्थाबोधक होने के कारण इन दोनों शब्दों को संस्था की ओर से समझ कर देना उचित न होगा। वीरम, गण, भेरी आदि संस्कारों के साथ वीर वीर जानपद का प्रयोग होने से वीर वीर जानपद को संस्कारों मान लेना ही उचित होगा।

इस विषय में दूसरी बात यह है कि रामायण में कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ पर राज्य के समस्त प्रजाबोधक शब्दों के प्रयोग के साथ भी इन शब्दों का प्रयोग मिलता है।† जो व्याससंगत नहीं है वीर कवि की साहित्य सम्बन्धी योग्यता पर दोषारोपण करता है। कवि के इस प्रकार के बर्तन से वह पुनरावृत्ति दोष का भागी हो जाता है। परन्तु वास्तविक तःसे कवि से ऐसी भूल कदापि नहीं हो सकती

*—अपठित रामस्य समग्रभिवेकनम्।

वीरजानपदशब्दोपि वैयमस्य कृताशक्तिः ।।

श्लो० ५२ सर्ग १४, जयोध्या का० ।

†—न स्त्री मूलतः सर्वा भेरीमुख्यारंभ भूषिताः ।

अनुवर्तिमिप्यस्मि वीरजानपदशब्दौ ॥

श्लोक १४ सर्ग २६, जयोध्या का० ।

की। जब कवि ने 'सर्वा प्रकृतयः' शब्द का प्रयोग कर दिया तो पौर-जानपद को उसी अर्थ में प्रयुक्त करने की क्या आवश्यकता रह जाती है ? कवि का यहाँ पर दूसरा ही धातय है। यह शब्द संस्था का बोध कराने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। कवि के बिसने का यह साधय है कि समस्त प्रजा एवं उनकी विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधि ऐसे अवसर पर उपस्थित थे।

रामायण में पौर और जानपद के अधिकारियों की ओर भी कुछ संकेत किए गए हैं। रामायण के अयोध्या काण्ड में ऐसा वर्णन है कि नगर्षो ■ साय पौर और जानपद ■ श्रेष्ठ राजा दशरथ के प्रासाद के द्वार पर खड़े हुए उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।* इस स्थल पर श्रेष्ठाः शब्द का प्रयोग है। डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने इस शब्द का अर्थ नगरसेठ किया है। परन्तु यह अर्थ प्रयुक्त है। नगर सेठ संस्कृत के नगर श्रेष्ठिन से बनता है, जिसका अर्थमा नग्नवस्त्र नगर श्रेष्ठः बनता है। परन्तु श्रेष्ठिन् से श्रेष्ठाः नहीं बनता इसलिए पौर श्रेष्ठः नगर श्रेष्ठ का पर्यायवाची शब्द नहीं है। पौर-जानपद श्रेष्ठाः या तो पौर जानपद संस्थाओं के प्रधान अथवा इन संस्थाओं के प्रतिष्ठित समासद होंगे। महाभारत के पढ़ने से पता चलता है कि जब समान्य-कार्य के लिए बुलाई जाती थी तो उस अवसर पर सभा का प्रधान श्रेष्ठ हुआ करता था।† इसलिए यह मान लेना कि पौरश्रेष्ठ तथा जानपदश्रेष्ठ अपने नाम की संस्थाओं के कमलः प्रधान थे अनुचित न होगा। इस वर्णन से भी पौर और जानपद का संस्था होना सिद्ध होता है।

रामायण के आलकाण्ड में पौर के कार्यों (Functions)‡ का भी उल्लेख मिलता है। वाक्मीकि ने ऐसा लिखा है ■ राम पौर-कार्यों के सम्पादन में विशेष रूचि रखते थे। उनके द्वारा सफलतापूर्वक पौर

*—पौरजानपद श्रेष्ठा मेरामादय गच्छेः सङ्ग ।

श्लो० ४० सर्ग १४, अयोध्या का० ।

†—अथै हरति च श्रेष्ठः पादो भवति धनूँषु ।

पादस्त्वेव समसास्तु ये न भिन्दन्ति भिन्दितम् ॥

श्लो० ७६ अ० १८, समा० १० ।

‡—विदुरासीं पुरस्कृत्य पौष्कपाणि सचंवाः ॥

श्लो० २१ सर्ग ७७, आल० का० ।

कार्यों के संभालन के कारण नैगम के सदस्य उस पर विशेष प्रेम करने लगे थे ।* इस कारण से भी यह निश्चित होता है कि पीर एक संस्था थी जिसके अधीन कुछ निर्धारित खासतन्त्रियों का प्रबन्ध किया जाता था ।

शुक्नीति में एक श्लोक है जो इस सिद्धान्त का प्रयोग है कि पीर एक संस्था थी । शुक्नीति में विभिन्न प्रकार के लेखों एवं उनके महत्व का वर्णन करते हुए पीर लेख का भी उल्लेख है । यदि पीर का नदरवास्वियों के स्थान में यहाँ वर्णन होता ■ पीर का यदुवचन में प्रयोग होता । परन्तु यहाँ पर पीर का एकवचन में प्रयोग हुआ है । दूसरे यदि शुक्नीतिकार का पीर लेख से पुरवास्वियों के लेख से तात्पर्य होता तो उसे जानपद लेख की भी संज्ञित कर उसके महत्व का बिलाना प्रावश्यक था । परन्तु कवि ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया । इसके अतिरिक्त पुरवास्वियों के लेख का उल्लेख करने का यहाँ पर कोई अर्थ ही नहीं है और यदि होता भी तो जनमत की दृष्टि से इस पद का महत्व कनिष्ठ नहीं माना जाता । हिन्दू-युग में जनमत का स्थान बहुत ऊँचा था । जनमत के अभ्यास में पीछे वर्णन किया जा चुका है कि राजा के लिए जनमत का उत्सर्जन करना असम्भव था । इसलिये पीर एक स्थानीय संस्था थी जिसका स्थान राजा एवं मंत्रिमंडल के स्थान से कनिष्ठ था । ऐसा न्यायसंगत भी है । शुक्नीति में इन लेखों के सम्बन्ध में ऐसा वर्णन दिया हुआ है—जिस लेख पर राजा की मुद्रा लग चुकी है वह सबसे अधिक आवश्यक पत्र होगा । जिस पत्र पर राजा की मुद्रा न लगी हो परन्तु राजा का हस्ताक्षर हो उसका स्थान मुद्रावाले लेख से न्यून होता है, मंत्री आदि के लेख का पद इससे न्यून मानना चाहिए और पीर का लेख उससे न्यून अवधि कनिष्ठ मानना चाहिए ।† इस

*—श्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तथा ॥

श्लो० २३ अ० १७, बाल० २४० ।

†—समुद्रं क्षितिं राजा क्षेत्रं तत्त्वोत्तमोत्तमम् ।

उत्तमं राजक्षितिं मध्यं मंत्र्यादिभिः कृतम् ॥

श्लो० २८४ अ० १, शुक्नीति ।

पौरक्षेक्यं कनिष्ठं द्यातसर्धं संसाधनं चमम् ॥

श्लो० २८५ अ० १, शुक्नीति ।

प्रकार शुकनीति के इस वर्णन से पौर के वास्तविक स्वरूप का निरूपण हो जाता है ।

रामायण और महाभारत-काल में पौर और जानपद बड़े महत्व की संस्थाएँ मानी जाती थीं । इन वर्गों में सामय ही किसी ही महत्वपूर्ण घटना का वर्णन हो जहाँ पर यदि राजा की राज्य सम्बन्धी किसी विषय पर निर्णय करने की आवश्यकता पड़ी हो तो पौर-जानपद के सदस्यों को बुलाया न गया हो । राज्य के शासन सम्बन्धी विषयों पर इनकी सम्मति ली जाती थी । भावी राजा की नियुक्ति में इनका विशेष हाथ रहता था ।

रामायण में राम के राज्याभिषेक के समय पौर-जानपद के सदस्य उन्हें राजपद देने के हेतु राजद्वार पर राजा की प्रतीक्षा करते दिखलाए गए हैं । राजा दशरथ इस बात की सूचना देने के लिए आश्वमेध काहुण्ड, नैगम और पौर एवं जानपद के अध्यक्ष राम के राज्याभिषेक की समस्त सामग्री के साथ राजद्वार पर राजा की प्रतीक्षा कर रहे हैं । युधामन्यु ने सुमंत्र को राजा के पास भेजा पर ।* सुमंत्र ने राजा के पास जाकर निवेदन किया—राजन् । रामचन्द्र के अभिषेक की समस्त सामग्री के साथ नैगम एवं पौर तथा जानपद के सदस्य आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।† इसके उपरान्त जब राम को वनगमन सम्बन्धी आज्ञा मिल जाती है और राम यह समाचार सीता को सुनाने जाते हैं तो सीता राम को उपास देखकर कहती हैं—तथा समस्त प्रजा, क्षेत्री के भुक्तिया और पौर तथा जानपद तुम्हारे सहायक नहीं हैं ?‡ इन वर्णनों से पौर और जानपद के महत्व का बोध होता है ।

महाभारत में भी कुछ ऐसे उद्धरण मिलते हैं जिनसे पौर और

*—पौर जानपद भेष्ठा नैगमाश्च गव्यैः सह ॥

इक्षो० ५० सर्ग १४, अयोध्या का० ।

†—हवतिष्ठत रामस्य सभप्रमभिषेकसम् ।

पौरजानपदारचापि नैगमस्य कृताञ्जलिः ॥

इक्षो० ५२ सर्ग १४, अयोध्या का० ।

‡—अ स्था प्रकृतम् सर्वा भोक्त्री सुखदाराभूषिताः ।

अनुभजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा ॥

इक्षो० १७ सर्ग २६, अयोध्या का० ।

जानपद के संस्था होने के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। पहली बात यह है कि रामायण की भाँति महाभारत में भी पौर के कार्यों की शीघ्र संकेत किया गया है। महाभारत के आदि पर्व में लिखा है कि पाँचों पाण्डव भाई शाश्वतप्रस्थ में रहते ■ पौर कार्यों में विशेष भाग लेते थे।* पता चलता है कि राज्य के युवराज को शासन-कार्य सीखने ■ लिए पौर के कार्यों में भाग लेना पड़ता था।

महाभारतकार ने पौर युद्धों का उल्लेख किया है। पाण्डु जनगमन करते समय अपनी रानी कुन्ती और मातृ से कहते हैं कि यह उनके जनगमन सम्बन्धी समाचार की सूचना राजपुरोहित, विदुर, साहज्य और पौर युद्धों आदि को दे दें।† उपोपपर्व में द्रुपद का उल्लेख है कि पौर युद्ध कुरुक्षेत्र में बैठा करता थे‡ और अपनी सम्पत्ति सभा में देकर राज्य के शासन-कार्य में भाग लेते थे।

रामायण और महाभारत ■ उपरोक्त वर्णनों से पता चलता है कि पौर राजधानी की पौर जानपद राष्ट्र की स्थानीय संस्था थी जो क्रमशः शासकस के म्युनिसिपैलिटी और जिन्ना बोर्ड के समान होती। यह संस्थाएँ अपने क्षेत्र में शासन कार्यों के लिए स्वतंत्र थीं।

इस प्रकार कृद्मन्, ग्राम, नैगम, ग्रोणी, गण, संघ, पौर और जानपद रामायण और महाभारत कासीन मुख्य स्थानीय संस्थाएँ थीं, जिनके द्वारा स्थानीय विषयों का शासन ग्रन्थ के प्रतिनिधियों द्वारा होता था। इन संस्थाओं के कारण राजा के अधीन शासन-कार्यों का क्षेत्र परिमित हो जाता था। यह संस्थाएँ अपने प्रतिनिधियों को सभा में भेजकर इनके द्वारा राजा के स्वेच्छाचार पर प्रतिक्रिया लगाती थीं। पता: यह संस्थाएँ उस युग में जनसम्बन्ध के तत्त्वों के रक्षक के रूप में थीं जिनके द्वारा राज्यों की स्थापना और विकास में बड़ी सहायता मिली है।

*—कुर्वाणा: पौरकायांश्च सर्वांश्च पुरुषर्षभा:।

स्त्रो० ८ अ० २१०, आदि प०।

†—पौर द्रुपदारच ये तत्र विवस्मन्महाजना:।

असाध सर्वे पश्यन्ता: पाण्डुः प्रजिघातनम्॥

स्त्रो० २५ अ० ११२, आदि प०।

‡—पुरुष सर्वेषु समारतेषु पौरिषु बृहद्विषु संगतेषु॥

स्त्रो० ७ अ० २, द्रुपद प०।

अष्टम अध्याय

गणतन्त्रात्मक राज्य

शब्दः—हिन्दू राजनीति-शास्त्र में यह एक ऐसा शब्द है जिसकी और कुछ राजनीति-विशारदों ने विशेष ध्यान दिया है। इन महानुभावों में यह शब्द के वास्तविक अर्थ पर भिन्न मत हैं और इन भिन्न मतों के आधार पर इनको हम तीन मुख्य वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। इन तीन वर्गों में से एक वर्ग ऐसा है जो यह शब्द को व्यापारिक अर्थों समझा संस्थाओं का छोटक बतलाकर इसे राजनीति क्षेत्र से भिन्न अलग करने का प्रयत्न करता है। दूसरा वर्ग यह है जिसकी दृष्टि में यह शब्द उपजाति का (Tribe) बोधक है परन्तु तीसरा और अन्तिम वर्ग यह शब्द को राजनीति के प्रसंग में रख कर इसे आधुनिक गणतन्त्रात्मक राज्य (Republic) का पर्यायवाची शब्द स्वीकार इसका राजनीति-क्षेत्र में महत्त्व बढ़ा देता है। इस अन्तिम वर्ग में डॉक्टर काशीप्रसाद व्यासवाल भी परिगणित किए जाते हैं जो कि इस सिद्धान्त के बहुत बोधक हैं कि यह शब्द गणतन्त्रात्मक राज्य अथवा रिपब्लिक (Republic) के अर्थ में प्राचीन काल में प्रयुक्त होता था।

महाभारत में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जो यह शब्द के वास्तविक अर्थ पर प्रकाश डालते हैं। महाभारत के सभा पर्व में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का विषय वर्णन किया गया है। इस अवसर पर युधिष्ठिर की दिग्विजय का भी वर्णन किया गया है। युधिष्ठिर की

विश्विजय ■ सम्बन्ध में यह जिज्ञा हुआ है कि उनका एक-एक भाई एक-एक दिशा की विजय के निमित्त प्रस्थान करता है। अर्जुन उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं।* वह कई राज्यों की विजय कर पराजित राजाओं को अपने साथ लेकर आग बढ़ते हैं। आगे बढ़ने पर उन्हें बहुत से राज्यों से एक-एक करके युद्ध करना पड़ता है जिन पर विजय प्राप्त करने पर वह उन्हें युधिष्ठिर का कार्याधी बनाने में समर्थ होते हैं।

महाभारत के इस वर्णन से पड़िली बात यह है कि विदित होती है कि यह गणराज्य के और जो इनके शक्तिशाली थे कि उनकी विजय के लिए अर्जुन को इस बात की आवश्यकता पड़ी थी कि ■ प्रथम राजाओं की इस कार्य में सहायता लें। व्यापारिक संघ अथवा ऐसी ■ अन्य संस्थाएँ इतनी बलशालिनी नहीं हो सकतीं कि वे अर्जुन जैसे वीर योद्धा और शक्तिशाली सेना का युद्ध के लिए आह्वान कर सकें। इनका तो मुख्य उद्देश्य शान्तिपूर्वक व्यापार करना था। उनमें भीरता एवं रणकौशल कहाँ से आ सकता था ? इसलिए जिन राज्यों का इस स्थान पर उल्लेख किया गया है वे व्यापारिक संघ अथवा ऐसी ही अन्य संस्था कदापि नहीं ■ सकते। इस गण शब्द को व्यापारिक संघ के अर्थ में लेना व्यायसंगत नहीं है।

इस सम्बन्ध में दूसरी विचारणीय बात यह है कि अर्जुन का मुख्य उद्देश्य अपने भाई युधिष्ठिर को सार्वभौम राजा बनाना था। जो राज्य युधिष्ठिर को अपने महाराजाधिराज मानने में संकोच करते थे और उन्हें कर देना स्वीकार नहीं करते थे उनको युद्ध में आह्वान कर और उन्हें पराजित कर इस बात पर विवश करना था कि वह युधिष्ठिर को अपने सम्राट् स्वीकार कर लें। इस दृष्टि से अर्जुन का युद्ध केवल ऐसे ही राज्यों के प्रति हुआ होगा। इसलिए जिन राज्यों से अर्जुन का युद्ध हुआ होगा वह गण अवश्य स्वतंत्र राज्य होंगे जिन्होंने अपनी स्वतंत्रता स्थिर रखने के लिए हर प्रकार से प्रयत्न किए होंगे और उन्हें विवश होकर युद्ध की शोचष्ठा करनी पड़ी होगी। यह गण व्यापारिक संघ अथवा अन्य ऐसी संस्थाएँ नहीं हो सकते क्योंकि यह संस्थाएँ किसी न किसी राज्य के अन्तर्गत अवश्य होती हों ऐसी स्थिति में जब उनके

* — विजयपथ प्रयासमानि दिशं भक्तदुपक्रियाम् ।

ऊपर बाहरी आक्रमण होंगे तो यह राज्य उनकी रक्षा के लिए कर्तव्यवश होकर भारी संवय भोगेगा। इन संधियों का संस्थापकों को किसी भी बाहरी राजनीतिक संस्था से युद्ध करने की घोषणा करने समाना सम्वि करने का कोई अधिकार नहीं है। परन्तु उपरोक्त गणों के वर्तन में ऐसी बात देखने में नहीं आती। इन गणों ने स्वयं वर्तन से युद्ध की घोषणा की और जिसमें उनकी पराजय हुई थी। यह अपनी पराजय को स्वयं स्वीकार करते हैं और सम्वि करके मुक्तिद्वार को कर देना स्वीकार कर लेते हैं। इस वर्तन के आधार पर यह स्वीकार करना स्वाभाविक होगा कि यह गण किसी प्रकार भी उन संस्थाओं में शामिल नहीं हो सकते हैं जो राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हो। दूसरे शब्दों में यह गणराज्य प्रत्यक्ष होंगे। यह व्यापारिक संबंध प्रत्यक्ष उप-जति या गोत्र की कीटि में परिगणित नहीं किए जा सकते।

महाभारत ॥ वाल्मिकि पर्व में भी गणों का वर्णन है। यही पर महाभारतकार ने भीष्म के मुख ॥ गणों की आंतरिक एवं बाह्य निर्देश-ताओं को स्पष्ट किया है।* इस प्रसंग में कुछ ऐसे शब्दों का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध गण से है और जो राजनीति-क्षेत्र में बड़े महत्व के हैं। हिन्दू शासक-राज्य के लिए "सामान यजुष्यम्" नामक नीति निर्धारित करते हैं जो साम, धाम, दण्ड-भेद के नाम से प्रसिद्ध है। गणों के कल्लेख में भी इसी नीति के अन्तर्गत पर विशेष बल दिया गया है।† भीष्म गणों के लिए उत्तम गुणधर्मों की व्यवस्था निर्धारित करते हैं। प्राप्ति के लिए वह अस्वामी सेना और सचन कोष गणों के लिए अत्यन्त आवश्यक बताते हैं।‡ गणों की सकलता के लिए इन बातों

*—सामान्यतया सर्वमन्त्राणि वाहितो भवन् ।

श्लो० १५ अध्याय १०७, शा० प० ।

†—समस्तविशेषैः ।

श्लो० १२ अध्याय १०७, शा० प० ।

‡—पारद्वयमिन्द्रकर्मणः ।

श्लो० २४ अध्याय १०७, शा० प० ।

चतुर्धन विधानेषु कोटसन्निधयेषु च ।

निबन्धुका महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गन्धाः ॥

श्लो० १३ अध्याय १०७, शा० प० ।

की आवश्यकता के प्रतिरिक्त नीति का गुप्त रक्षता आवश्यक कतसाया गया है ।*

उपरोक्त राजनीतिक शब्द जो गणों से परिष्कृतता रखते हैं और जिसकी उत्तमता पर गणों की उत्तमता भी निर्भर है गणों के राजनीतिक लक्षण को निम्नन्देह सिद्ध करते हैं । इसलिए गणों को राज्यों की कोटि में परिगणित करना उचित होगा ।

प्रश्न प्रश्न यह है ■ इन गणराज्यों में किस प्रकार की सरकार थी ? इनकी क्या कपरेखा थी ? यण शब्द का साम्यिक अर्थ गणना करना है । गणराज्य, इस प्रकार, बहुसंख्यक राज्य धरवा बहुत जनों का राज्य कहलाएगा । इसलिए गणराज्य से सात्पर्य 'गणतन्त्रात्मक वा 'जनतन्त्र' राज्य से होगा । साधारण जनता के हाथ में शासन की शक्ति होने ■ कारण ही ऐसे राज्य में राजकीय प्रस्तावों का गुप्त रहना कठिन हो जाता है । इसीलिए नीति को गुप्त रखना इन राज्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक कतसाया गया है और जिसका अभाव इन राज्यों की एक बड़ी निर्भरता मानी गई है । गणराज्य में प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार प्राप्त थे । इस आधार पर वह शासनकार्य में समान अधिकार प्राप्त कर सकता था । इसी कारण भीष्म इस बात का अदिश करते हैं कि गणराज्य में कोई भी व्यक्ति दूसरों को छोटा समझना सुख न समझे, क्योंकि प्रत्येक नागरिक जाति वा कुल की दृष्टि से समान है ।†

गणराज्य में बहुतांश के द्वारा शासन किया जाता था इस बात की सत्यता मुमद्दा-हरण को घटना भी प्रमाणित करती है । मुमद्दा-हरण सभाचार शम्भक-वृष्णि लोगों में अग्नि की भीति सीमता से फैल जाता है । यह लोग मुमर्मा नामक सभा में दीहकर एकत्र हो जाते हैं । यह सभा में इस विषय पर बह-विवाद करते हैं । तदुपरान्त वे उस निष्पत्ति पर पहुँचते हैं जो कार्य रूप में परिणत किया जाता है ।

*—मंजुगुप्तिः प्रवर्ततेषु ।

श्लो० २५ अध्याय १०७, शा० प० ।

†—अन्धोऽयं मामिमांशुं तत्पराभव-सकम् ।

अत्र वा न सहसाः सर्वे कुलेन सत्तास्तथा ॥

श्लो० ३० अध्याय १०७, शा० प० ।

महाभारत में उपरोक्त सामग्री प्राप्त होने के उपरान्त यह निष्कर्ष कर लेना कि गण शब्द, गणतन्त्रात्मक राज्य के लिए महाभारत काल में प्रयुक्त होता था उचित ही होगा।

रामायण में गणतन्त्रात्मक राज्य—रामायण में जिन राज्यों का वर्णन है वह समस्त राजतन्त्रात्मक राज्य हैं। रामायण के मुख्य राज्य विजिता, अयोध्या, किष्किन्धा और संका हैं। यह राज्य राजतन्त्रात्मक हैं। रामायण में गणतन्त्रात्मक राज्य का कहीं भी उल्लेख नहीं है। ऐसा बिदित होता है कि रामायणकाल में गण-तन्त्रात्मक राज्यों का जन्म नहीं हुआ था और यदि जन्म हो भी चुका हो तो वारम्भीक का मुख्य उद्देश्य वैदिक संस्थाओं के वर्णन करने के कारण उन्होंने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। यही तक कि अनाय राज्यों को भी जिनका कि रामायण में वर्णन है वात्मीकि ने अपनी रामायण के अन्तर्गत आये राज्यों का बोला पहना दिया है। इन अनाय राज्यों के वर्णनों में कहीं भी इस बात की भूलक नहीं मिलती जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि यह वैदिक राज्यों से भिन्न थे।

यद्यपि रामायणकार ने यहाँ तहाँ गण शब्द का प्रयोग किया है परन्तु यह शब्द राज्य के अर्थ में रामायण में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। रामायण में गणमुख्य एवं गणबल्लभ शब्द भी मिलते हैं। परन्तु वह जिस अर्थ में इस अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं उन पर ध्यान-पूर्वक विवेचन करने के उपरान्त यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि यह शब्द राज्य के अर्थ में रामायण में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुए हैं।

इसलिए गणतन्त्रात्मक राज्य का स्वरूप और उसको कार्यवाही आदि की विवेचना के विभिन्न महाभारत में जो सामग्री प्राप्त है उसी तक सीमित रहना पड़ेगा।

महाभारत में गणतन्त्रात्मक राज्य—महाभारत की अनेकों वंश हैं इनमें से विभिन्न प्रकार के गणतन्त्रात्मक राज्यों का होना और उनका सफलतापूर्वक क्रियाशील हो कर कार्य करना राजनीति क्षेत्र को एक महान् देन है। इसमें गणतन्त्रात्मक राज्यों की एक जम्बी सूची दी हुई है जो उस समय क्रियाशील होकर कार्य कर रहे थे। महाभारतकार ने इन राज्यों को गण के नाम से सम्बोधित किया है। मुचिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के प्रारम्भ

होने ॥ पूर्व उनके चारों भाई चारों दिशाओं की विजय के हेतु प्रस्थान करते हैं । अर्जुन उत्तर दिशा की ओर चलते हैं । पहले वह कई राज-सैन्यमय राज्यों के राजाओं को पराजित कर युधिष्ठिर का करदायी बनाने में सफल होते हैं । इसके पश्चात् वह इन राज्यों के पराजित राजाओं को साथ लेकर पुष्पवंशीय प्रसिद्ध राजा विषवगाय से युद्ध करने के हेतु चल बढ़ते हैं और अपने वीर योद्धाओं की सहायता से उसे भी युद्ध में पराजित करते हैं ।

सात दस्यु जलराज्य—राजा विषवगाय को पराजित करने के उपरान्त अर्जुन सात दस्यु गणराज्यों की ओर विजय की अभिसाया से प्रस्थान करते हैं ।* महाभारतकार ने इन गणराज्यों को दस्यु गणराज्य के नाम से सम्बोधित किया है । इससे स्पष्ट है कि यह राज्य अनाय राज्य थे । इनकी स्थिति महाभारतकार ने पर्वत ॥ समीप बतलायी है । ऐसा विदित होता है कि यह अनाय गणराज्य हिमालय पर्वत के शंक में स्थित होंगे । सम्भव है कि पञ्चाश अथवा कश्मीर के समीप ही कहीं हिमालय पर्वत पर यह राज्य बसे हों । इसी कारण महाभारतकार ने उन्हें दस्युपर्वतवासिन् गण्टा: सिखा है ।

कश्मीर—सात दस्यु गणों को जीतने के उपरान्त अजिषश्रेष्ठ अर्जुन न कश्मीर के अजिष वीरों को पराजित किया ।† महाभारतकार ने अन्य राजसंघात्मक राज्यों के वर्णनों में राजा का नाम दिया है । परन्तु इस स्थल पर वह राजा का नाम न देकर यह लिखता है कि अर्जुन ने कश्मीर के अजिषों को हराया । महाभारतकार का राजा के नाम पर मौन रहना सार्थक है । कश्मीर में सम्भवतः उस समय राजा न होगा । सम्भवा वह इस विषय में मौनता कदापि न कारण करता । इसलिए यह सम्भव है कि कश्मीर राज्य में उस समय राजसंघात्मक राज्य न था वरन् वहाँ यक्षसंघात्मक राज्य होगा ।

दश गणसंघात्मक राज्य—इसके धनन्तर दश राज्यों के संघ

*—वीर्यं युधि निर्धिर्य दस्युपर्वतवासिनः ।

गणानुसन्धसङ्घे तामजयत्सत् पश्यदधः ॥

इतो० १६ अ० २७, सर्भा० ५० ।

†—ततः कश्मीरसम्भीतान्प्रतिध्वजः ॥

इतो० १७ अ० २७, सर्भा० ५० ।

को अर्जुन पराजित करते हैं। इन सब राज्यों के राजा का प्रधान सोहित था ।* सोहित को वहाँ पर राजा के नाम से सम्बोधित नहीं किया गया है। अथितु उसे साधारण पुरुष की भाँति सम्बोधित किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि सोहित साधारण नागरिक होगा और उसने इन सब राज्यों के भोग का प्रधानपद नागरिकों की सम्मति से पाया होगा। इसी कारण इन राज्यों की रक्षा के निमित्त यह अर्जुन से युद्ध करने गया था और जिसमें उसकी पराजय हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संघ-राज्य में जो सब राज्य सम्मिलित थे वह अपना अपना-पना प्रधान भी रखते होंगे। परन्तु वहाँ राज्यों के राजा के प्रधानपद पर उस समय सोहित था।

त्रिगर्त, दारु, और कोकनख—इस गणसंघात्मक राज्यों के राजा विजय करने के उपरान्त अर्जुन आगे बढ़ कर त्रिगर्त, दारु और कोकनख राज्यों के राजाओं से युद्ध करते हैं जिसमें अर्जुन की विजय होती है। महाभारतकार स्पष्ट लिखता है कि त्रिगर्त, दारु और कोकनख कथित अर्जुन के बाने हो गए ।† उसने इस बात का उल्लेख नहीं किया कि उनका राजा अर्जुन से युद्ध करता है, पराजित होता है तथा समिध करता है बरन् यह लिखता है कि यह क्षत्रियगण आकर युद्ध करते हैं, पराजित होते हैं और अर्जुन के अधीन हो जाते हैं। इसके पश्चात् अर्जुन आगे बढ़ते हैं। वृषसे शार्ङ्गों में यह क्षत्रियगण अर्जुन से समिध करते हैं और अर्जुन के आरवाही बन जाते हैं। इस वर्णन से स्पष्ट है कि इन राज्यों में जब साधारण को ही साक्षात्-धिकार प्राप्त था। वहाँ राजा न था। इन्हीं जन साधारण को युद्ध की बोधना करने एवं समिध करने का अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार वर्णन के माध्यम पर यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि इन तीनों राज्यों की प्रजा को राजसत्ता प्राप्त थी। इसलिए इन राज्यों को गण-संघात्मक राज्यों के अन्तर्गत परिगणित करना उचित होगा।

*—भव्यमन्त्रोहितं चैव मरुतमर्षैरुभयः सह ॥

इन्द्रो० १७ अ० २७, सभा० ५० ।

†—तत्तस्मिन्निगर्तः कीर्त्येवं दारुः कोकनदास्थितः ।

कविषा बहुभो राजानुपामर्त्य सर्वतः ॥

इन्द्रो० १८ अ० २७, सभा० ५० ।

नगर गणतन्त्रात्मक राज्यः—त्रिगत, चारों ओर कीकृतव राज्यों
 पराजित करने उपरांत कुरुक्षेत्र धर्म ने अभिसारी नाम की
 सुन्दर नगरी को जीत लिया और उरगा नगरी तथा रोचमान को भी
 रण में जीत लिया ।* और धामे बढ़कर उन्होंने बिन्नायुध द्वारा सुरक्षित
 सुन्दर सिंहपुर नामक नगरी को अपनी सेना द्वारा युद्ध में मज डाला ।†
 इस प्रकार धर्म अभिसारी, उरगा और सिंहपुर नामक नगर-राज्यों को
 पराजित कर उन्हें ध्वस्त करवायी बनाते हैं । उस समय उरगा और
 सिंहपुर नगर-राज्य कच्छः रोचमान और बिन्नायुध के अधीन थे । यह
 राजा न थे, क्योंकि महाभारतकार उन्हें साधारण व्यक्ति की भाँति संबो-
 धित करता है । उन्हें राजा की भाँति नहीं भी आदरसूचक शब्दों से
 सम्मानित नहीं किया गया है ।

दूसरी बात इनके सम्बन्ध में यह है कि यह किसी अन्य राज्य के
 भाग नहीं थे । यदि यह नगर किसी दूसरे राज्य में भाग होते तो यह
 राज्य इनकी रक्षा में अवश्य धर्म से युद्ध करने चाहते । अथवा धर्म
 स्वयं उन राज्यों की रक्षण करते जिनके कि यह भाग में । परन्तु ऐसा
 नहीं हुआ था । अतः यह स्पष्ट है कि यह नगर अलग-अलग स्वतन्त्र-
 राज्य थे ।

उस समय बिन्नायुध के अधीन सिंहपुर नाम का नगर-राज्य और
 रोचमान के अधीन उरगा नगरी थी । यह राजा न थे अतः ऐसा विशिष्ट
 होता है कि रोचमान तथा बिन्नायुध कच्छः उरगा और सिंहपुर राज्यों
 में अत्यन्त प्रयत्न प्रयत्न थे जिन्हें राजा की सम्मति से यह पर मिले होंगे
 और जिनके ऊपर प्रभुत्व-धर्म नगर की रक्षा का भार होगा ।

उपरोक्त वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि यह तीन नगर-
 राज्य—अभिसारी, उरगा तथा सिंहपुर—गणतन्त्रात्मक नगर-राज्य थे ।

सुग, चोल, चालुक्य, काम्बोज, परम काम्बोज, वरह, सोह,

*—अभिसारीं ततो रथां बिजिग्ये कुं नन्दनः ।

उरगा वासिनं चैव रोचमानं रक्षोजगम् ॥

स्क० १३ अ० १७, सर्मा० १० ।

†—ततः सिंहपुरं रथं बिन्नायुध सुरक्षितम् ।

प्राथम्यकमाश्वास्य पाक्यास्तनिराक्ये ॥

स्क० २० अ० २७, सर्मा० १० ।

अधिक गणतन्त्रात्मक राज्यः—यह भारतकार इसके उपरान्त कई गणतन्त्रात्मक राज्यों का उल्लेख करता है जो कि अर्जुन के साथ भी पड़ते हैं और जिन्हें वह अपने अधीन कर लेते हैं। सर्वप्रथम वह सुष्ठु और चोस राज्यों की अपनी सेना से जीत लेते हैं।* फिर वह यमाशान लड़ाई के प्रत्यक्ष अत्यन्त पराक्रमी बाह्लीकों को वश में कर लेते हैं।† बाह्लीकों को पराजित कर वह काम्बोजों के साथ दरदों को भी जीत लेते हैं।‡ तत्पश्चात् इन्द्रपुत्र अर्जुन ने लोह, परम काम्बोज, उत्तर अधिकियों को एक मार में ही जीत लिया।+ अधिकों के साथ भी अर्जुन की बड़ी लड़ाई हुई। अधिक और अर्जुन में तारका-सुर संग्राम के समान यमाशान युद्ध हुआ।x

यह वर्णन यह बतलाता है कि यह विभिन्न जातियाँ अपने-अपने नाम के राज्यान्तर्गत रहती थीं। उनकी अपनी-अपनी सरकारें थीं जो जन्हीं के द्वारा बनाई गई थीं। इन राज्यों में समस्त जन-समूह को शासनाधिकार प्राप्त था। इन राज्यों के शासन-कार्य का भार छारे जन-समूह पर निर्भर था। इनमें राजा न था। प्रत्येक राज्य का नाम उस जन-समूह के नाम पर था जो कि उस राज्य में बसा हुआ था।

*—ततः सुहोदधौ चोहोदधौ चिरीटी पावववधेभः ।

सहितः सर्वं सैन्धेन ग्रामपक्षुनम्बनः ॥

इजो० २१ अ० २७, सभा० प० ।

†—ततः परमपिहान्तो बाह्लीकाम्पकासनिः ।

महादा परिमर्जेन वसे कर्के दुरासदान ॥

इजो० २१ अ० २७, सभा० प० ।

‡—गृहोन्धेन तु कर्के सारं कास्तुनः पावववधेभः ।

दरदांसह काम्बोजैरवधामपाकपासनिः ॥

इजो० २१ अ० २७, सभा० प० ।

§—लोहानपरसकाम्बोजानुधेनानुकरासनिः ।

सहितोऽस्ताम्नहाराज ध्वजवशाकशसनिः ॥

इजो० २१ अ० २७, सभा० प० ।

x—अधिकेन्द्रवि संग्रामोऽभूवाधति मयंकतः ।

तारकानयसंकाशः परस्त्वधिकभार्ययोः ॥

इजो० २१ अ० २७, सभा० प० ।

इस प्रकार यह राज्य गणराज्यक राज्यों के अन्तर्गत परिगणित किए जायेंगे ।

नकुल के द्वारा पराजित किए गए गणराज्यक राज्यः—
नकुल के छोटे भाई नकुल ने इसी उद्देश्य से पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया था और वहाँ स्थित कई स्वतन्त्र राज्यों की युद्ध में पराजित कर पश्चिमी मरुभूमि को अपने अधीन कर लिया था । फिर शैरीषक तथा महोत्थ प्रवेश पर विजय प्राप्त की । वहाँ शम्भोष्ठ नामक राजा के साथ नकुल का महासंघाम हुआ ।*

यह पश्चिमी मरुभूमि संभवतः राजस्थान की मरुभूमि अथवा सिंध प्रवेश हो सकता है । इसके पश्चात् विजयी नकुल प्राये यदकर कई गणराज्यों से युद्ध करते हैं । यह गणराज्य दशार्ण, शिवि, त्रिगर्त, शम्भोष्ठ, मानव, पंचकर्पट, मध्यमकेय और बाटधान नाम से उस समय प्रसिद्ध थे । इनमें से दशार्ण, शिवि, त्रिगर्त, शम्भोष्ठ, मानव और पंच-कर्पट को छोड़ कर शेष दो गणराज्य बाह्यार्णों के अधीन थे जिनमें ऐसा पता चलता है कि बाह्यार्ण लोग मरे हुए थे ।† इन समस्त गणराज्यों को नकुल ने पराजित किया था । इसके उपरान्त पुष्कर राज्य के जमियों पर नकुल ने आक्रमण किया और उसे भी पराजित कर युधिष्ठिर का करदायी बना दिया ।‡ इन विजयों से सन्तुष्ट न हुए नकुल सिंधुनदी के समीप बसे हुए राज्यों और सरस्वती नदी के किनारे-

*—मरुभूमि च कास्मिरेण सर्वे च बहुभाम्यकम् ।

श्लो० २ अ० ३२, सर्मा १० ।

शैरीषक महोत्थ च बसे कर्णे महा युतिः ।

कर्कोर्ष चैव शर्माथ तेन युद्धमभूत्प्रभम् ॥

श्लो० ६ अ० ३२, सर्मा १० ।

†—साम्बराष्ट्रमि जित्वा च प्रतप्त्ये पाण्डुमन्दपः ।

शिर्वी क्षिप्तान्मध्यमासमासाम्यं पंचकर्पटान् ॥

श्लो० ३ अ० ३२, सर्मा १० ।

तत्र मध्यमकेयोरथ बाटधानान्द्रिजाथ च ।

‡—पुनरथ परिक्रुष्याथ पुष्करास्वयवासिनः ।

गङ्गापुस्तकसंकेतान्ममजयपुस्तकध्वजः ॥

श्लो० ८ अ० ३२, सर्मा १० ।

वाले राज्यों को भी युद्ध में पराजित कर अपने अधीन कर लिया और वहीं पर ग्रामणीय, खूब, भाभीर और मत्स्य राज्य थे । नकुल ने इनमें प्रत्येक राज्य से प्रसन्न-मत्स्य युद्ध किया और उन्हें पराजित कर युधिष्ठिर का करदायी बनाया । ग्रामणीय गणराज्य के लोग वीरता और साहस के लिए विषेष्ट प्रसिद्ध थे । गूड, भाभीर और मत्स्य राज्य सम्भवतः पंचाल में बसे हुए थे । इस प्रकार नकुल की विजयी सेनाएँ हिमालय पर्वत की सराई तक पहुँच चुकी थीं । महाभारतकार इस पर्वत को अमर पर्वत के नाम से सम्बोधित करता है ।^१ इस प्रकार नकुल ने सगन्न एक दर्जन गणतन्त्रात्मक राज्यों को युद्ध में पराजित कर इस बात के लिए विवश कर दिया कि वे युधिष्ठिर को अपना सम्राट् मान लें ।

अर्जुन और नकुल के द्वारा की हुई विजयों के ऊपर दिए हुए वर्णन के आधार पर यह कहना व्यायसगत होगा कि महाभारत-काल में भारत के उसरी और पश्चिमी भाग में गणतन्त्रात्मक राज्य पर्याप्त संख्या में थे जिनके विभिन्न जन-समूह अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार प्रजातन्त्र राज्यों का संचालन करते थे । जिसमें प्रत्येक नागरिक को समान शासनाधिकार प्राप्त थे । इसी सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए भीष्म ने महाभारत के क्षांतिपर्व में यह स्पष्ट कहा है कि गणराज्य में जाति और धर्म की दृष्टि से प्रत्येक नागरिक समान अधिकार रखता है और इसी सिद्धान्त पर इन राज्यों के नागरिकों में एक दूसरे की खोटा न समझा जाय ।^२

कण्व के द्वारा पराजित किए हुए गए संघात्मक राज्य—
महाभारत ■ जनपदों में कर्ण की वीरता के संबंध में वर्णन दिया हुआ है । दुर्योधन को भारत का सम्राट् बनाने के उद्देश्य से कर्ण ने

१—सिद्ध कृष्णभिरा ये च ग्रामणीया महाबलवताः ।

श्लो० ६ अ० ३२, समा० प० १

सुप्रभोत्तमवाचसेव ये चाऽऽक्रिय सरस्वतीम् ।

हर्षवन्ति च ये मत्स्येषु च पर्वत वासिनः ॥

श्लो० १ अ० ३२, समा० प० १

२—वाक्या च संख्याः सर्वे कुलेन सारस्वत्या ॥

श्लो० ३० अ० १०७, समा० प० १

विभिन्नजय के लिये प्रस्ताव किया था। इस प्रस्तावकाल में उन्होंने भारत के लगभग समस्त प्रधान राजाओं को पराजित कर बुद्धिबल का करवावी बना दिया था। इस संबंध में उनकी प्रतिभ विजय पश्चिम की दिशा में कुछ गणराज्यों के विरुद्ध वर्णित है। ■ म्लेच्छ, मल्लि, मद्र, रोहितक, भाम्बेन, भालव, सलक, यवन भावि गणराज्यों के नाम से संबोधित किए गए हैं।^१ कर्छे धामे मद्र कर सम्य कई गणराज्यों को पराजित करता है। इनमें से मुख्य मान्यजित नामक व्यक्ति के अधीन था।^२

महाभारत के वनपर्व का यह वर्णन भी हमें इसी दिक्कत पर पहुँचा रहा है कि उत्तरी-पश्चिमी भारत महाभारतकाल में छोट-छोटे स्वतंत्र गणराजात्मक राज्यों में विभक्त था। किन्तु महाभारतकार ने गणराज्यों के नाम से संबोधित किया है। इस व्यापार पर यह कहना उचित ही होगा ■ यह राज्य प्राधुनिक जनतन्त्र राज्य के पूर्ववर्ण थे।

मंग, मराक, मानस तथा भद्रंग गणराजात्मक स्वतंत्र राज्य—महाभारत के भीष्मपर्व में भी कई ऐसे भू-भागों का उल्लेख है जहाँ लोग सब प्रकार मुक्ति थे। उन्हें दक्षित करने के लिये राजा न था। उनके आचरण धर्म पर प्रभावित थे। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के अधिकार भी रक्षा करता था। यह भू-भाग बार में जिनको महाभारतकार मन्ग, मराक, मानस और भद्रंग के नाम से वर्णन करता है।^३ मन्ग मूलवेत्त में बाह्यरा मने हुए थे। मराक में क्षत्रिय तथा मानस और भद्रंग में क्षत्रिय वैश्य और शूद्र वर्णों की जनता थी।

†—स म्लेच्छादिकान् नीरः सपर्वत विवासिनः ।

श्लो० १३ अ० २२३, वन० प० ।

मद्रान् रोहितकर्दमैश्च भाम्बेयाम्भालवापि ।

मल्लान् सर्मन् विनिर्मित्य नीतिहृन् महसजिष ॥

श्लो० २० अ० २२३ वन० प० ।

शरकान् यवनारवैश्च विविधैः सुतनन्दनः ॥

†—नवनित्यमुखादिष्व गणान् शिरसा महान्धान् ॥

श्लो० २१ अ० २२३, वन० प० ।

+—तत्र पुत्रया जयपदारव क्षात्रेण लोक सम्भवाः ।

मंगारव मराकाश्चैव मानस मन्व्यास्तथा ।

इसमें संदेह नहीं है कि ये चार राज्य जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है और जिनमें आदर्श जनतन्त्र राज्य की कल्पना की गई है कल्पित राज्य हैं। परन्तु यह मानना ही होगा कि महाभारतकार के मस्तिष्क में कम से कम यह विचार अवश्य था कि संसार में ऐसे राज्य भी हो सकते हैं जिनमें वही की समस्त जनता स्वयम् शासनाधिकार प्राप्त कर एक दूसरे के सहयोग से शासन चला सकती है। उन्हें अपने राज्य में शासनकार्य संचालन के लिए राजा की कोई आवश्यकता न पड़ेगी। इतना ही नहीं बरन महाभारतकार की दृष्टि में इन राज्यों में राज्यतन्त्रात्मक राज्यों की प्रेरणा प्रजा अधिक सुजी रह सकती है। इन राज्यों में अराजकनिर्भरता, सुख और शान्ति स्थायी रूप से जनता में फैलेगी और सारे राज्य में सुख और शान्ति की वर्षा होगी। महाभारत का ऐसा राज्यों के प्रति भुगम्भ धाम्नुनिक जनतन्त्र राज्यों के लिए एक देन है जो जनतन्त्रात्मक राज्यों के विकास में बहुत बड़े भंडा में हितकर सिद्ध हुई है।

अथर्वक, वृष्णि, यादव, भोज और कुकुर गणतन्त्रात्मक राज्य—महाभारत के शांतिपर्व में भी कई गणतन्त्रात्मक राज्यों के नाम दिए हुए हैं, जिनमें अथर्वक, वृष्णि, यादव, भोज और कुकुर + राज्य प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों राज्यों ने मिलकर एक संघ बनाया था। जो अथर्वक, वृष्णि, यादव, भोज और कुकुर संघ के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसा पता चलता है कि अथर्वक और वृष्णि राज्यों का भी एक अथर्व संघ था जिसके कृष्ण नेता थे। श्रीकृष्ण ने महाभारत में उन्हें

मंगा बाह्यवर्धभूमिः स्वर्गनिर्वाह नृप ।

भरुकेषु तुराधम्माधर्मिकाः सर्वकाजवाः ॥

मानसानन्द महाराज वैश्य धर्मोपजीविनः ।

शूद्रास्त्वनुमन्वा $\times \times \times \times$ ॥

न सत्र राजा राजेन्द्र न द्रव्यो न दासिबकः ।

यो धर्मोर्ध्व धर्मोऽस्ता रक्षति परस्परम् ॥

श्लो० ३५ से ६२ अ० ११, भाष्य० ५० ।

—यादवाः कुकुराः भोजः सर्वेष्वंशक सृज्ययः ।

रक्षसास्तु महाबाहो कोका ओकेन्द्वराश्च ये ॥

श्लो० ३० अ० २६, शान्ति० ५० ।

अंधक-वृष्णिनाम ■ नाम से संबोधित किया है। यह राज्य प्रभात
वेश में वे जो कि गुजरात के अन्तर्गत था। इनकी राजधानी दारका-
पुरी थी जहाँ उनकी सभा बैठती थी जिसका नाम सुधर्मा था।

कुछ अन्य प्रान्तों में महाभारत के गणतंत्रात्मक राज्य—
महाभारत में जिन गणतंत्रात्मक राज्यों का उल्लेख है उनमें से कुछ
ऐसे भी राज्य हैं जिनका और दूसरे प्रान्तों में भी उल्लेख है। पाण्डिनि
इनमें से कुछ राज्यों को जानते थे। इसलिए उन्होंने उनका नाम
प्रपत्ती आधाररत्न की पुस्तक में दिया है। उन्होंने छः गणतंत्रात्मक
राज्यों के संघ के बारे में संकेत किया है। पाण्डिनि इसे त्रिगर्त, चण्ड
■ नाम से संबोधित करते हैं। महाभारतकार भी चिपक राज्य को
गणतंत्रात्मक राज्य ■ अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। अंधक, वृष्णि,
मद्र और ऐसे ■ कुछ गणतंत्रात्मक राज्यों की ओर पाण्डिनि ने संकेत
किया है। ये राज्य महाभारत में भी वर्णित हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी गणतंत्रात्मक राज्यों की एक माना-
वली दी गई है जिसमें महाभारत के मद्रक, कूकूर, काम्बोज प्रादि गण-
तंत्रात्मक राज्य भी सम्मिलित हैं।†

वृत्तानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी कुछ ऐसे गणतंत्रात्मक राज्यों
■ वर्णन दिये हैं जो कि महाभारत के अन्तर्गत वर्णित हैं। इनमें
कुड्रक, छिनि और मालव मुख्य हैं। इस प्रकार देखी और विवेकी
दोनों प्रमाण इस सम्बन्ध में प्राप्त हैं कि महाभारत-काल में भारत में
गणतंत्रात्मक राज्य वर्तमान थे। उत्तरी-पश्चिमी भारत में इन राज्यों
का प्राबल्य था। यह राज्य महाभारत-काल के बहुत पीछे तक
जाने रहे।

महाभारत-काल के गण संघात्मक राज्यों की कार्य-शैली—
गण तंत्रात्मक प्रजातंत्र राज्यों की रूप-रेखा, संगठन और कार्य-शैली

†—अंधक, वृष्णिनाम †

हलो० ३८ अ० २६, भीष्म० ५० :

‡—काम्बोज + + + अश्वमेधजीविनः॥

बाली २ अ० १ अथि० ११, अर्ध शाख।

सहाक मद्र कुकूर × × राज अश्वमेधजीविनः।

बाली ६ अ० १ अथि० ११, अर्धशाख।

के जानने के लिए बहुत कम प्रामाणिक सामग्री महाभारत के दस्तावेज प्राप्त हुई है। रामायण एवं महाभारत में से किसी में भी कहीं भी ऐसी प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं होती जो इस सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दे सके। इसलिए रामायण और महाभारत-काल के गणतंत्रात्मक राज्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वह महाभारत के पन्नों में इधर-उधर बिखरी हुई उसका सामग्री को एकत्र करे, उसका समुत्थान कर उसे उचित व्यवस्था से और इस प्रकार से एकत्र एवं व्यवस्थित की गई जो धरा सामग्री है उनका अधिक से अधिक उपयोग करे। वह इस तरह सामग्री के आधार पर गणतंत्रात्मक, राज्य के प्रभाव का निर्माण करे।

गणतंत्रात्मक राज्य की अभ्यक्षता—गणतंत्रात्मक राज्य की अभ्यक्षता के लिए उसी समय के किसी एक योग्य नागरिक की प्रजा नियुक्त करनी थी। वह बीकानेर एवं सीनिक दोनों प्रकार के कार्य करने में हर प्रकार से समर्थ होता था। महाभारतकार ने लोहित नामक नागरिक को कई गणतंत्रात्मक राज्यों के संघ-राज्य का अध्यक्ष बताना किया है। वह भी गणतंत्रात्मक राज्यों के संघ का अध्यक्ष बतलाया गया है। उसने इन सब राज्यों की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न से युद्ध किया था। परन्तु गर्जुन की बिजली सेना ने उसे परास्त कर दिया था।

उसका नामक नगर-राज्य का अध्यक्ष रोचमान था। उसने भी लोहित की भाँति अपने राज्य की स्वतंत्रता के निमित्त गर्जुन से युद्ध किया था। परन्तु गर्जुन की बीर सेना ने उसे पराजित कर दिया था। सिन्धुपुर नगर-राज्य बिन्नायुध नामक व्यक्ति की अध्यक्षता में था। वह राज्य उसकी देह-देह में मसी-मोति सुरक्षित था (सिन्धुपुर रम्य बिन्नायुध सुरक्षितम्) इस कथन से यह प्रतीत होता है कि बिन्नायुध सिन्धुपुर नगर-राज्य का अध्यक्ष था। उसने भी अपने नगर-राज्य की रक्षा के निमित्त गर्जुन के बीर योद्धाओं से समाधान युद्ध करना पड़ा था। परन्तु वह भी गर्जुन जैसे बीर योद्धाओं के समक्ष टिक न सका। इस प्रकार सिन्धुपुर नगर-राज्य को भी महाराज युधिष्ठिर की मधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी। महाभारतकार ने नग्नजित को भी कई गणतंत्रात्मक राज्यों के

अंग का अध्यास बतसाया है। कर्णों की दिग्विजय के व्यवहार पर उसने कर्णों के मार्ग की रक्षा या धीरे उन्हें कर्ण की धर्मीनता स्वीकार नहीं की। अतः उसका धीरे कर्णों का युद्ध हुआ था। कर्णों ने उसे पराजित कर दिया। फलस्वरूप इस राज्य को दुर्मोचन को अपना संप्रदाय मानना पड़ा था।

महाभारतकार ने उपरीक्त घटनाओं के वर्णन करने में इन गण-संघात्मक राज्यों के अध्यक्ष के लिए किसी विशेष छद्म का प्रयोग नहीं किया है। परन्तु इस बात में संशय भी संदेह नहीं है कि महासंघात्मक राज्यों के अध्यक्ष-पद की नियुक्ति ■ लिए परम्परागत सिद्धांत का अनुसरण नहीं होता था। महाभारत में ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है कि पिता के उपरान्त उसका पुत्र गणसंघात्मक राज्य का अध्यक्ष केवल इस बात से बचाया गया हो कि वह राज्य के अध्यक्ष का पुत्र था। महाभारतकार ने ■ राज्यों के अध्यक्षों के लिए किसी प्रकार की उपाधि का प्रयोग नहीं किया है। वे साधारण नागरिकों की भांति वर्णित हैं। वे अपने विशेष पारंपरिक हथ, बुद्धि एवं सासन सम्बन्धी अनुभव के कारण इस पद पर पासीन हुए थे। और इन्हीं विधेय गुणों के कारण उन्हें इन राज्यों की अनन्तता में अध्यक्षपद पर नियुक्त किया होगा। इतना ■ नहीं बल्कि वह सभी एक इस पद पर रह सके होंगे जब तक उन राज्यों की अनन्तता को इस बात का विचार रहा हावा कि उनकी अध्यक्षता में राज्य सुरक्षित रहेगा और हर प्रकार से उसकी वृद्धि होगी।

महाभारत के आदि पर्व में यह बतलाया गया है कि तमसेन बुधियों का राजा था।* अन्य स्थलों पर इसी पुस्तक में यह भी दिया हुआ है कि आहुक सम्बन्ध-बुधियों का राजा था जिसने राजा श्रीमन्तर द्वारा किए हुए आक्रमण से राजधानी की रक्षा के लिए विशेष मार्ग विचारें।† तमसेन यहाँ पर राजा के पद से सम्बोधित किया गया है।‡

*—उत्तर राजा बुधियोंनामुप्रलेन; प्रतापवाह ४।

स्थो० ॥ अ० २२, अदि० प० १।

†—प्रताप परिचयभिरामसेमोदुवादिभिः ॥

स्थो० १२ अ० १२, अदि० प० १।

‡—आहुकेन सुगता ॥ राजा राभीमलोचन ॥

स्थो० २१ अ० १२ अदि० प० १।

इसी पुस्तक में दूसरे स्थान पर यह दिया हुआ है कि बहुत सीर उपरोक्त दोनों एक ही राज्य की अध्यक्षता के हेतु प्रयत्नशील थे ।^१ राज्य के विभिन्न राजनीतिक वर्गों में अपने-अपने नेता की अध्यक्ष पद दिलाने के लिए इसकी प्रतिद्वन्द्विता इतना उग्र रूप धारण कर रही थी कि श्रीकृष्ण धरमदा विभावस्य थे । वह इन विभिन्न वर्गों में एकता स्थापित करने के उपायों ■ सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए शीर की शरण में जाते हैं ।^२

उपरोक्त वर्गों के साधार पर इस निरूपण पर पहुँचना स्वाभाविक है कि धर्मक-बुद्धि राज्य में अध्यक्षपद वैयक्तिक सिद्धान्त पर प्रयत्नशील था । यह वह राज्य ■ नागरिकों की अनुमति पर निर्भर था । वह अपने-अपने इस के नेता की संगठित राजनीतिक वर्गों ■ साधार पर अध्यक्ष बनाने का प्रयत्न करते थे और अन्त में उस वर्ग की विजय होती थी जिसका राज्य में बहुमत होता था ।

उपरोक्त सीर बाहुक दोनों के लिए महाभारतकार ने राजा सम्य का प्रयोग किया है परन्तु इन प्रसंगों में राजा सम्य का प्रयोग उन्हीं अर्थ में नहीं हुआ है जिस अर्थ में कि राजतन्त्रात्मक राज्यों में प्रयुक्त हुआ है । यहाँ पर राजा सम्य का प्रयोग राज्य के प्रधान प्रयास अध्यक्ष के लिए हुआ है, और जिसकी निपुणता प्रजा द्वारा किसी न किसी प्रकार की निरीक्षण-विधि से होती थी । इसलिए यह राज्य गणतन्त्रात्मक राज्यों के प्रधान प्रयास अध्यक्ष के लिए प्रयुक्त किया गया है । इस बात का निश्चित प्रमाण महाभारत में ही प्राप्त है कि बुद्धिर्मों की भाषा था, इसलिए उनके बहुत राजा नहीं हो सकता था । इन दोनों वर्गों में विरोध है, जो सभी स्पष्ट किया जा सकता है जब कि यह मान लिया जाए कि बुद्धिर्मों का राजा उभका अध्यक्ष था । अध्यक्ष को ही यह राजा कहते थे । इस प्रकार यहाँ पर राजा सम्य गण-संभारमक राज्य ■ अध्यक्ष का पर्यायवाची है । इस सम्बन्ध में हमें महाभारत के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी सहायता मिलती है । साधनों के राज्य में भी इस प्रथा का प्रचलन था । यहाँ भी गणराज्य

१—उपरोक्त दो शब्दों का अर्थ सम्यक है ।

शब्दो १० अ० ८१, का० ५० ।

२—सम्बन्ध ८१, का० ५० ।

के अध्यक्ष को राजा और उपाध्यक्ष को उप राजा कहते थे। निम्नलिखितों में तों शासनाधिकार धारण करनेवाले प्रत्येक नागरिक को राजा के नाम से सम्बोधित करते थे। इसलिये यह कहना उचित ही होगा कि इन प्रसंगों में भी महाभारतकार ने बलवत्प्रत्यक्ष राज्य के अध्यक्ष को राजा की उपाधि दी है।

सुभद्राहरण से सम्बन्धित घटना भी इस बात की सत्यता को सिद्ध करती है। यह घटना इस प्रकार है—सुभद्रा सभा के सामने सुभद्रा-हरण की समस्या ऐसे समय में प्रस्तुत की गई थी जब कि उनके राजा उग्रसेन दैवतक पर्वत पर मेला देखने में व्यस्त था। नागरिकों ने सभा में एकत्र हो इस समस्या पर चर्चा-विवाद किया, उस पर अपना निर्णय दिया और अन्तिम निर्णय के अनुसार उसे कार्य में परिणत किया। राजा उग्रसेन को इन समस्त बातों को लेखमाण भी सूचना नहीं दी गई। उसे इस बात का तनिक भी पता नहीं था कि उसके राज्य में क्या हो रहा था। इस विषय में राजा की अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं समझी गई। राजतन्त्रप्रभुत्व राज्यों में कोई भी महत्वपूर्ण योजना अथवा कार्य राजा की अनुपस्थिति में तब तक न हो पाया प्रस्तुत किया जा सकता है, न उसे किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है और न उस निर्णय को कार्य रूप में परिणत ही किया जा सकता है। जब तक कि इस सम्बन्ध में राजा की पूर्ण अनुमति प्राप्त न कर ली गई हो। परन्तु इस घटनास्थल पर राजा की कबिर्भाव भी अर्जुन के अनुचित व्यवहार का पता ही न था और फिर बिना राजा की आज्ञा के सभा कैसे बुलाई गई? किसे आदेश से सभा में प्रस्ताव रखा गया? और किस प्रकार सभा ने उस पर निर्णय दिया और उस निर्णय को कार्य रूप में परिणत किया गया? उस समय राजा के कार्यचारियों का केवल यही कर्तव्य था कि वे अर्जुन को बन्दी बनाकर कारागार में डाल देते। राजा के लौट जाने पर इस विषय पर निर्णय दिया जाता। परन्तु ऐसा न हुआ। वास्तव में बात यह थी कि शासनाधिकार राज्य की सुभद्रा सभा को प्राप्त था जिसमें राज्य के नागरिक एकत्र हो कर राज्य की समस्याओं पर विचार करते थे, अपना निर्णय देते थे और उस निर्णय ■ अनुसार कार्य किया जाता था। परन्तु जिस गणराज्य में राजा राज्य का अध्यक्ष होता था उसकी राजसभा को पूर्ण अधिकार प्राप्त था कि वह अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष की सहानुता से

राज्य के महत्त्वपूर्ण कार्यों पर विचार करे, एक निश्चित निर्णय पर आकर उसे कार्य रूप में परिणत करे। यही बात यहाँ पर भी हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय उस सभा में कृष्ण उपाध्यक्ष थे, क्योंकि उनकी मौनता पर मतभेद में सभा के सभ्य यह कहते कि कृष्ण मौन क्यों हैं ? उनकी सम्मति से जेमी चाहिए जो बड़े मूल्य की होगी। हमें दूसरे साधनों ॥ इस बात के प्रसार प्राप्त है कि बीड़कास में उपाध्यक्ष को उपराजा कहते थे। यह संभव है कि सुधर्मा सभा की बैठक राज्य के उपाध्यक्ष की देख-रेख में ॥ होगी जो हर प्रकार के राज्य की बड़ी से बड़ी समस्याओं पर निर्णय देने में पूर्ण अधिकारिणी थी।

सभा:—महाभारतकार ने कहीं पर भी ऐसा वर्णन नहीं किया है जिसमें राजतन्त्रात्मक व्यवस्था गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र राज्यों की सभाओं ॥ संगठन व्यवस्था उनकी कार्य-प्रणाली का लक्ष्यबद्ध वर्णन प्राप्त ॥। परन्तु यह बात समझ में है कि महाभारत में यम-राज ऐसे बिकरे हुए कुछ उदाहरण व्यवस्था प्राप्त ॥ जो इस विषय पर कुछ प्रकाश डालते हैं।

संस्कृत में यद्यपि धातु का अर्थ है गिनना जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गणराज्य यह राज्य होंगे जिनमें संख्या पर अधिक बल दिया जाता होगा। अर्थात् जिन राज्यों में अधिक-से-अधिक नागरिक शासन-कार्य में भाग लेते होंगे। इसलिये महाभारत ॥ गण-राज्य के राज्य होंगे जिनमें शासनाधिकार अधिक से अधिक नागरिकों को प्राप्त था। सुविधा के निम्ने प्रत्येक ऐसे राज्य में एक सभा होती थी जिसमें गणराज्य की समस्त प्रजा उपस्थित सम्मिलित होती थी। महाभारत के यादि पर्व में इसी सिद्धान्त की पुष्टि में अश्वक, वृष्णि यादि गणतन्त्रात्मक राज्यों की सभा की ओर संकेत किया गया है। महाभारतकार ने इस सभा को सुधर्मा के नाम से संबोधित किया है। अश्वक, वृष्णि, यादव और कुन्दुर राज्यों ॥ समस्त शासन-विषयों पर यही सभा अपना निर्णय देती थी। सुभद्राहरेण के समय इस घटना का समाचार समाचार के द्वारा सभा तक पहुँचाया गया था। उसने विगुल कहा था। विगुल की ध्वनि सुनते ही अश्वक, वृष्णि, मोच और कुन्दुर-वंशीय जनता ने सभा में दौड़कर इस भाव्य से प्रवेश किया * कि यह

*—ये समाचार संहिता: सुधर्माभिः सभाय्।

इस विषय पर विचार करे कि भविष्य में इस सम्बन्ध में उसे क्या करना चाहिए ? सभा में पहुँचकर वह समस्त जन मासनों पर बैठ गये । अस्तुत विषय पर उन्होंने वाद-विवाद किया और सर्वे सम्मति से एक निर्णय पर पहुँचे जो भाषे चलकर कार्य रूप में परिणत किया गया ।

उपरोक्त विवरण से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि गण-तन्त्रात्मक राज्यों में सभा सर्वोच्च राजनीतिक संस्था थी और वह संस्था अत्येक प्रकार से प्रजातन्त्रात्मक थी । इसका दायित्व जनता पर निर्भर था ।

इसी प्रकार यह बात भी संभव है कि जिन गणतन्त्रात्मक राज्यों को सर्जुन, गकुल और कर्ल ने पराजित किया था वह भी अपने-अपने शासन-कार्यों के संचालन के लिये इसी प्रकार की सभाओं रखते होंगे । महाभारत के भीष्म पर्व में भीष्म ने भृशक, भनग, मानस और मदंग गणतन्त्रात्मक राज्यों का उल्लेख किया है । इस सम्बन्ध में महाभारतकार ने इस प्रकार लिखा है कि इन राज्यों की प्रजा अपने कर्तव्यों का निर्णय स्वयम् करती थी और वह अपने राज्य के समस्त विषयों पर एकत्र होकर आपस में निर्णय कर लिया करती थी । इस प्रकार के निर्णय पर धाने ■ लिये उन्हें किसी न किसी स्थान पर एकत्र प्रवेश होना पड़ता होगा जहाँ पर सार्वजनिक सम्स्थाओं पर अपने-अपने विचार रखे जाते होंगे और उसके अनुसार किसी एक निश्चित निर्णय पर पहुँचते होंगे । इस बात से यह सिद्ध होता है कि इन राज्यों की जनता का अपने-अपने शब्दों में ऐसे शब्दों पर एकत्र होने के लिये कोई न कोई निश्चित स्थान आवश्यक होगा, जहाँ पर वह एकत्र हो शासन-सम्बन्धी व्यवसाय ऐसे ही अन्य विषयों पर अपने-अपन विचार प्रकट करते होंगे । इन्हीं स्थानों को सभा कहा जा सकता है और उनके एकत्र समूह को सभा की बैठक कहेंगे । इन सभाओं में राजा के लिए कोई स्थान न था क्योंकि महाभारतकार ने इस बात को स्पष्ट रूप से लिख दिया है कि वहाँ न राजा था, न दण्ड और न दण्ड देनेवाला । क्योंकि लोग एक दूसरे की रक्षा करने में सर्व की भावना से प्रेरित होते थे ।* इसलिये

*—जसस्य राजा राजेन्द्र न दण्डो न दायित्वकः ।

एतधर्मैरेव धर्मजास्तै रक्षन्ति परस्परम् ॥

स्क० १६ अ० १३, भीष्म पर्व ।

यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि यहाँ भी सभा ही सर्वोच्च संस्था थी जिसका निर्णय प्रत्येक नागरिक को मान्य था ।

महाभारत में जिन गणतन्त्रात्मक राज्यों का उल्लेख है, वे छोटे-छोटे राज्य थे । इनमें से कुछ तो केवल नगर-राज्य ही थे । इसलिए इन राज्यों में अधिक से अधिक नागरिक सभा के रूप में संगठित हो राज्य पर सुगमतापूर्वक शासन कर सकते थे । इन सभाओं का जनता पर बाधित्व होता था । यह बात भी इसी सिद्धान्त का पुष्टपोषण कर रही है कि इन राज्यों में राज्य के सर्वोच्च अधिकारों को भारण करनेवाली सभायें थी जो जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर संगठित की जाती थी ।

सभाभवन शब्दों का विद्याल भवन होगा जिसमें राज्य की जनता अधिक से अधिक संख्या में एकत्र हो सकती होगी । इस प्रकार के सभाभवन में सदस्यों के बैठने के लिए प्रासनों का भी प्रबन्ध था । महाभारतकार ने राजतन्त्रात्मक राज्यों की सभाओं का वर्णन करते ■ यह भी लिखा है कि इन सभाओं में विभिन्न सदस्यों की स्थिति एवम् पदों के अनुसार भिन्न प्रकार के प्रासन भी थे । वे सोने-चाँदी के प्रासनों ■ लेकर बटाई तथा भूमि के प्रासनों तक थे । सभासद अपनी-अपनी स्थिति एवम् पदानुसार सभा में जाकर बैठ कर सकते थे । परन्तु गणतन्त्रात्मक राज्यों की सभाओं के वर्णन से ऐसा पता चलता है कि संभवतः इन सभाओं के प्रासनों में विशेष प्रकार का भन्तर न था । इन सभाओं में यह भाषा की जाती थी कि समस्त जाति समानता के सिद्धान्त पर उपस्थित हो जाती होगी । इस निम्नानुसार इन सभाओं में सदस्यों के प्रासनों में भन्तर नहीं किया जा सकता था । प्रत्येक नागरिक को राज्य में समान अधिकार प्राप्त था । इसलिए उन्हें अपने राज्य की सभा में समान रूप से बैठने का अधिकार मिलता था । महाभारत के आदिपर्व में सुषर्मा सभा का वर्णन दिया हुआ है । इस प्रसंग में महाभारतकार ने ऐसा लिखा है कि इस सभा में सैकड़ों सिंहासन थे † जिन पर सभासद बैठ कर सकते थे । यहाँ पर यह भी दिया हुआ है कि सभापति द्वारा बजाये गये शिंशुन की ध्वनि होते ही

†—सिंहासनानि सवस्ये ।

राज्य के नागरिक सभा में प्रवेश करते हैं और भासनों पर बैठ जाते हैं । इन भासनों में किसी प्रकार का मतभेद या इस बात की ओर महामारतकार ने संशयमात्र की संकेत कहीं नहीं किया है ।

इस वर्णन से भी पाठक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मण्ड-संघात्मक राज्य की सभा प्रजातन्त्र सिद्धान्त के ऊपर निहित थी और इसका वास्तविक वर्णन की जनता पर था । प्रत्येक नागरिक को इस सभा में बैठने का समान अधिकार था और सभा के आव-विवाद में भाग लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी ।

ऊपर के वर्णन से निम्नलिखित सिद्धान्त निर्धारित किये जा सकते हैं—मण्डसंघात्मक राज्यों में एक सभा होती थी जिसमें सभासदों के बैठने के शिथे सौक्यों आसन होते थे । ये आसन एक से होते थे । समस्त प्राति इस सभा की बैठक में उपस्थित समझी जाते थे, यह राज्य की महत्वपूर्ण समस्याओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार रखती थी जिसके अनुसार निर्णय होता था और उस निर्णय के अनुसार कार्य किया जाता था । यह सभा राज्य की सर्वोच्च सार्वधिकार प्राप्य संस्था थी, प्रत्येक नागरिक को सभा में बैठने, अपने विचार प्रकट करने और मत देने का समान अधिकार था । परन्तु अधिकार सब नागरिक नहीं आगेते थे । केवल वह नागरिक जो कि अपने को सार्वजनिक में भाग लेने के योग्य समझते थे और उन्हें कवि रखते थे सभा की बैठक में सम्मिलित होते थे । दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि राज्य के कुशल और क्रियाशील नागरिक इस सभा में सम्मिलित होकर सभा के कार्यों में हाथ बटाते थे ।

सभा में विचार प्रकाशन की स्वतन्त्रता—सभा में प्रस्तुत किए हुए प्रत्येक विषय पर सभासदों को अपने विचार प्रदर्शन की पूर्ण स्वतन्त्रता का अवसर दिया जाता था । विचारों की स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने की प्रथा सी थी । सभा में प्रत्येक योजना अथवा विषय प्रस्ताव रूप में प्रस्तुत किया जाता था । पहले इस पर वाद-विवाद होता था और उसके उपरान्त उसी प्रस्ताव पर सभासदों को मत-प्रदर्शन का अवसर दिया जाता था ।

मुम्ब्राह्मण के अनुसार पर अर्जुन का अनुचित कार्य विषयक प्रस्ताव सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया । इस प्रस्ताव पर सभासदों ने अपने-अपने विचार विवेचनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किए । वाद-

विवाद होने के उपरान्त श्रीकृष्ण के मौन रहने पर समासदों ने इस विषय को विशेष महत्व दिया। बलराम ने कृष्ण से इस विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए अनुरोध किया। बलदेव ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए यह कहा, ■ वह अर्जुन के इस निम्नित्त कार्य से अत्यन्त अपमानित हुए हैं। वह समस्त कौरव जाति को इसका कल चला देंगे और वह कौरव वंश का जड़-मूल से नाश कर देंगे। परन्तु बलराम के कहने और समासदों के अनुरोध करने पर कृष्ण ने अपने सम्योचित विचार प्रकट किए। उन्होंने अर्जुन के कार्य की व्यासंगत वतसाते हुए उसकी सराहना की। उन्होंने अर्जुन के सुभद्राहरण सम्बन्धी धावरण को अपनी युक्तियों और तर्कों द्वारा इस प्रकार व्यासंगत सिद्ध किया कि समस्त समासद उनके विचारों से सहमत हो गए और उन्होंने एक स्वर से कृष्ण के विचारों का समर्थन किया।^१ उन्होंने कहा कि अर्जुन को सम्मान-पूर्वक राजधानी में लाना चाहिए और इस कार्य के लिए पुरोहित को भोजना चाहिए। इस निर्णय के अनुसार पुरोहित अर्जुन ■ सम्मान-पूर्वक वापस लाने के लिए भेजा गया। अर्जुन मगध एक वर्ष वही रहे थे।

यह घटना इस बात की पुष्टि करती है कि महाभारत-काल में मराठवासी राज्य की समा में समासदों को अपने विचार प्रवर्तन की पूर्ण स्वतंत्रता थी।

अमात्यः—मराठवासी राज्य की दूसरी विशेषता यह थी कि इनमें शासन सम्बन्धी विषयों के अनुकूल विभाग प्रणाली के आधार पर कार्य संचालन होता था। प्रत्येक विभाग ■ अध्यक्ष को अमात्य कहते थे। रामायण और महाभारत दोनों में शासन-विभाग और उनके अध्यक्षों का वर्णन उपलब्ध है।

यह समाचार पाकर कि अर्जुन हस्तिनापुर पहुँच गए हैं, श्रीकृष्ण ने भी बलराम तथा धर्म कीर्तियों के साथ उसी मगर की ओर प्रस्थान किया। इनमें अन्धक, द्रुपिष्ठ और भोजवंशीय अमात्य, और एवं मोढा-गया बहुत घन वृक्ष के रूप में लेकर युधिष्ठिर की सेवा में समर्पित

१—अत्यन्त से सर्वे भोजहृष्यवन्त्रकास्थया ॥

करने के हेतु गए थे। जिन समारथों का यहाँ उल्लेख है उनमें अमर और प्रतापुष्ट के नाम दिए हैं। पहले महोदय वाग-विभाग के समारथ (सामपतिः) और दूसरे महोदय दुग्धियों के सेनापति थे।* प्रसिद्ध उडब भी उनके साथ थे। जन्तों कई सम्मानित पात्रों से सम्बोधित किया गया है, जैसे बृहस्पति के शिष्य, अत्यन्त बमुर एवं प्रभावशाली।† ऐसा विहित होता है। उडब भी किसी विभाग के अध्यक्ष थे। सम्भवतः यह विधि (Law) विभाग के अध्यक्ष होंगे। इन समारथों का वास्तविक सम्भवतः सम्राट ही था और इसी सिद्धांत तथा सभा के बहुमत की स्वीकृति के अनुसार वे अपने इन पदों पर नियुक्त होते होंगे और उसी के अनुसार पदों से हटते रहते होंगे। यह भी स्पष्ट सिद्ध किया जा चुका है कि गणतंत्रात्मक राज्यों में अध्यक्ष प्रजा सभा या उसके प्रतिनिधियों के द्वारा चुना जाता था इसलिए ऐसा सोचना कि विभिन्न विभागों के अध्यक्ष भी सभा के सभासदों के द्वारा नियुक्त किए जाते होंगे अनुचित न होगा।

महाभारतकाल के गणतंत्रात्मक राज्यों के भेद—महाभारत में जिन गणतंत्रात्मक राज्यों का उल्लेख है उनकी संख्या बहुत बड़ी है। यह राज्य साकार एवं श्रेणी के अनुसार विभिन्न प्रकार के थे। उनके विभाग भी भिन्न ही थे। परन्तु उन्हें दुग्धधारक दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। उनमें से कुछ उपजातीय राज्य (tribal state) हैं वेब धीपक्षेत्रीय (territorial) राज्य हैं। महाभारत में ओ बरुन दिया है उनके साधारण पर सर्वप्रथम उपजातीय गणतंत्रात्मक राज्यों की विशेषता करनी उचित होगी।

उपजातीय गणतंत्रात्मक राज्य—भारतवर्ष ऐसा देश है कि इस पर बराबर बाहरी आक्रमण होते रहे हैं। भारतवर्ष का इतिहास इन आक्रमणों का एक संग्रह है यदि यह कहा जाय तो अनुचित न

*—सत्र सामपतिर्बीभामाजगाम महा यथाः।

अमरुदो दुग्धधारीशर्मा सेनापतिरिन्द्र्यः॥

रघो० २६ अ० २२६, आदि० ५०।

†—अपासुतिर्महासेना उडबरेच महाधयाः।

साधनबृहस्पतेः शिष्यो मङ्गदुधिमहासना॥

रघो० ६० अ० २२६, आदि० ५०।

होगा। इनकी जाति, धर्म और बंध के लोग भारत के उर्वर मुहानों में आए और वहीं बस गए। कुछ समय के उपरान्त इन्हीं को समष्टि इस देश की जनता में मिल जुल कर एक हो गई। भारत का जल-वायु एवं भूमि लोगों को साम्प्रदायिक जीवन डालने में बहुत सहायक सिद्ध हुई है। इन्हीं घमका इसी प्रकार के प्रवास के कारण भारतवर्ष में विभिन्न साम्प्रदायिक संस्थाओं के निर्माण एवं उनके सफलतापूर्वक संचालन में निरन्तर प्रगति देखने में आती रही है जिसका फल यह हुआ है कि भारत में प्रत्येक उपजाति वा गोत्र ने इस बात का भरसक प्रयत्न किया है कि उनकी परिस्थिति एवं आवश्यकताओं के अनुसार उनकी राजनीतिक संस्थाएं भी बनें। इसीलिए प्रत्येक उपजाति वा गोत्र ने इस प्रकार के शासनविधान के निर्माण एवं विकास के लिए भरसक प्रयत्न किए हैं जिसमें कि राजसत्ता समस्त उपजाति वा गोत्र में विहित होती थी। यद्यपि इस प्रकार के शासन-विधान के विकास में संघर्ष गति का अनुसरण करना होता है परंतु यह प्रणाली विधान के निर्माण एवं विकास में स्वामित्वता का पूर्ण समावेश कर देती है। महाभारत में इस प्रकार के गणतंत्रात्मक राज्यों की एक लंबी सूची दी गई है। बाह्यीक, आभीर, मादघान, अक्षिक, दार्य, सोहृष्ट, मध्यकेय, म्लेच्छ और ऐसे ही अन्य गण-संघात्मक राज्यों का किसी देश विशेष से सम्बन्ध नहीं था। इन राज्यों का इन्हीं नाम की जातियों से दृष्टि सम्बन्ध होने ■ कारण इन्हें भौगोलीय राज्य (territorial republics) की कोटि में नहीं गिना जा सकता। इनकी गणना तो उपजातीय गणतंत्रात्मक राज्यों ■ अन्तर्गत होगी। इन राज्यों का नामकरण इन्हीं मूल जातियों के आधार पर हुआ था जिसके कि वह राज्य थे। इसीलिए वह समस्त गणतंत्रात्मक राज्य प्रथम कोटि में आएंगे और उपजातीय गण-संघात्मक राज्य की श्रेणी में गिने जाएंगे।

इन जातीय गणतंत्रात्मक प्रजातंत्र राज्यों में शासनभार समस्त जाति पर निर्भर था। प्रत्येक महत्वपूर्ण समस्या पर समस्त जाति के द्वारा निर्णय किया जाता था और उस निर्णय के अनुसार कार्य किया जाता था। इन राज्यों की सभा में समस्त जाति से ऐसे व्यवसथों पर उपस्थित होने की भांति की जाती थी। जाति के प्रत्येक सदस्य को प्रस्तुत विषय पर अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी जाती थी। राज्य के मुख्य अधिकारियों की नियुक्ति सभा में उपस्थित जाति के

सारा होती थी । यही सभा म्याम करती थी और जाति के बहुसंख्यकों विषयों के हेतु कार्य-निर्णय करती थी । यह राज्य बहुत छोटे थे भूतः इनमें प्रजातन्त्र राज्य के मुख्य सिद्धान्तों की धारणा की रखा, उनके संगठन और कार्य-संचालन दोनों में भली भाँति हो सकती थी ।

भौपक्षेत्रीय गणतन्त्रात्मक राज्य (territorial republics): महाभारत-काल में उपजातीय गणतन्त्रात्मक राज्यों के साथ ही भौपक्षेत्रीय गणतन्त्रात्मक राज्यों (territorial republics) ने भी पर्याप्त संख्या में जन्म लिया था और समुचित विकास को प्राप्त हुए थे । यह राज्य भू-भाग के नाम से संगठित हुए थे । किसी विशेष जाति वा गोत्र से सम्बन्धित न थे । और गुरुव पर इनका उत्तरदायित्व ही था । इन राज्यों के लोग उन भू-भाग की जिसमें कि वह स्थित थे जाति वा गोत्र की प्रवृत्ति अधिक महत्व देते थे । उनका राजनीतिक जीवन वैयक्तिकता की भावना से अधिक प्रेरित होता था । इन राज्यों के नाम उन भू-भागों के नाम पर थे जहाँ कि वह राज्य स्थित थे । सर्वप्रथम इनमें से उन राज्यों की ओर ध्यान आकर्षित होता है जो ■ नगर गणतन्त्रात्मक स्वतंत्र राज्य की कोटि में गिने जाते थे । ■ नगर-राज्य अभिलारी, उर्गा, और सिद्धपुर थे । यह नगर-राज्य उन्हीं नगरों के नाम से प्रसिद्ध हैं जो ■ उन नगरों के नाम से जहाँ वह राज्य स्थित थे । इन नगर-राज्यों में जातीय संगठन के संकेत किसी भी रूपान्तर नहीं प्राप्त होते हैं । इसलिए यह नगर-राज्य जातीय राज्यों के समतुल्य कहा जा सके नहीं जायेंगे । इन राज्यों के सम्पूर्ण प्रवृत्ति प्रभाव किसी भी जातीय गोत्र विशेष के नेता न थे । उन पर राज्य की समस्त जनता का जो कि विभिन्न जाति, धर्म तथा रंग की थी, विश्वास था । इसलिए यह राज्य के राष्ट्रीय नेता थे । महाभारत में इस प्रकार के गणतन्त्र राज्यों की संख्या भी पर्याप्त है । महाभारतकार ने वसाराण गणतन्त्रात्मक राज्य की ओर संकेत किया है । वसाराण भू-भाग प्राकृतिक गुणवत्ता का एक भाग था । इसलिए वसाराण गणतन्त्रात्मक राज्य स्वयं इस बात की ओर संकेत करता है कि यह राज्य एक विशेष भू-भाग से सम्बन्ध रखने के कारण भौपक्षेत्रीय (territorial republics) गणतन्त्रात्मक राज्य की श्रेणी में गिना जाएगा ।

रोहितक गणतन्त्रात्मक राज्य का सम्बन्ध उसी नाम के भू-भाग से था । रोहितक राज्य संभवतः प्राकृतिक रोहितक एवं हयके

मास-वास की भूमि से सम्बन्ध रखता होगा। अतः, मत्स्य और ऐसे ही अन्य गणतन्त्रात्मक राज्य जिसका महाभारत में वर्णन है इसी कोटि में आएँगे। ■ दीखे लिखा जा चुका है कि कश्मीर भी सम्भवतः गणतन्त्रात्मक राज्य के अधीन था। महाभारतकार ने कश्मीर राज्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि अर्जुन की ओर सेना ने कश्मीर के क्षत्रियों को युद्ध में परास्त किया था। इस प्रकार के वर्णन से महाभारतकार का यह प्राचय कदापि न था कि कश्मीर में एक विशेष क्षत्रिय जाति थी जो गणतन्त्रात्मक राज्य के विधान ■ चला रही थी। वहीं पर क्षत्रि का केवल यहो अर्थ है कि कश्मीर राज्य की अमरता में जो वीर क्षत्रिय थे वह अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए अर्जुन से युद्ध करने गए थे। यह कभी सम्भव नहीं कि किसी देश की बहु जनता जो व्यापार, कृषि तथा विद्याप्रचार आदि कार्यों में जीव्य पर्यन्त संलग्न रहती है युद्ध क्षेत्र में वीरता से युद्ध करने जाएँ। फिर भला यह कैसे सम्भव था कि क्षत्रिय वीर योद्धाओं के होते हुए अन्य वर्ण के लोग अर्जुन से युद्ध करने आते। इसलिए यह कहना कदापि उचित न होगा कि कश्मीर राज्य जातीय गणतन्त्रात्मक राज्य था। इसे तो क्षेत्रीय (territorial) गणतन्त्रात्मक राज्य के अन्तर्गत ही समझा जा सकेगा।

इस प्रकार महाभारतकाल में गणतन्त्रात्मक राज्यों ने विकास की दृष्टि से पर्याप्त मात्रा में उन्नति की थी। जातीय गणतन्त्रात्मक राज्यों का क्षेत्रीय (territorial) गणतन्त्रात्मक राज्यों में परिवर्तित हो जाना गणतन्त्रात्मक राज्यों के इतिहास में नूतन बड़ी महत्व की घटना समझी जायगी। वह जातीय संकीर्ण क्षेत्र से मुक्त हो राष्ट्रीय सोचा धारण कर विचारसंलग्न में प्रवेश करते हैं जिसमें उन्हें बहुहर्कतम्भ और विद्याल उदारवादिश्व का लक्ष्य सामने रखना पड़ता था। उन्हें अब किसी जाति विशेष के कर्तव्यों वा अधिकारों तक सीमित न रहना पड़ता था। उन्हें समस्त जनता के उन नागरीय (civil) एवं राजनीतिक अधिकारों की रक्षा से सम्बन्ध था जिसका संगठन राष्ट्रीय सिद्धान्तों पर हुआ था। उनकी सभा में जाति, धर्म वा बंस का विचार न करके समस्त प्रजा के लोग एकत्र होते थे। इस प्रकार यह समार्य भी राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर संगठित होती थी। उसी सिद्धान्त पर अपना कार्य संचालन करती थी। इस प्रकार इन समाधर्में

का उत्तरदायित्व राज्य की समस्त जनता पर निर्भर था। ऐसा कहा जा सकता था कि उनका उत्तरदायित्व केवल एक विशेष सम्प्रदाय के लोगों का जाति प्रथम या प्रजा के किसी विशेष भाग पर होता। इसलिए वह समाज किसी जाति या वर्ग विशेष के हितकार्यों के लिए ही नहीं बल्कि वह समस्त जनता के हितसाधन एवं सार्वजनिक कल्याण के लिए संगठित हुई थी। इसी राज्य में शासनाधिकारी वस्तु भी अपने-अपने पद पर इसी नियम ■ अनुसार भासीन होते थे।

इस प्रकार महाभारत-काल के भौषण्येवीय गणतन्त्रात्मक राज्य (territorial republics) प्रजातन्त्र सरकार की बड़ी महत्वपूर्ण संस्थाएँ थीं। जिन्होंने प्रजातन्त्रात्मक राज्य ■ मुख्य सिद्धान्तों की विशेष रूप से पुष्टि की है।

गणतन्त्रात्मक राज्यों के अर्थः—महाभारत-काल के गणतन्त्रात्मक राज्यों का एक भीर विशेष लक्षण इनका संघ रूप में संगठित होना था। महाभारत-काल के गणतन्त्रात्मक राज्यों की अधिक संख्या क्षेत्रफल एवं जनगणना की दृष्टि से बहुत छोटी थी। इन राज्यों की सबसे महत्व समस्या जो इनकी जनता ने उस समय अनुभव की होगी (विशेष करके ■ ऐसे भाग में जहाँ निरन्तर बाह्य आक्रमण होते रहते थे और अधिकार प्राप्ति के लिए जहाँ प्रतिजगु प्रास्तिक उत्थात होते रहते थे) इनकी रक्षा का प्रश्न था। संघ-सक्ति के इस सिद्धान्त से वह प्रबल परिचित होंगे। इसलिए ऐसी परिस्थिति में उनके सामने केवल एक मार्ग प्रशस्त था और वह यह था कि पाम-पक्षी के छोटे-छोटे राज्य एक सूत्र में बाँधकर अपनी रक्षा की जटिल समस्या की सुलझाने का प्रयत्न करें। इसी में उन्होंने अपना कल्याण देखा।

इन राज्यों की इस निर्बलता की भीष्म ने महाभारत के शान्तिपर्व में विशेष विवेचना की है। इस प्रकारण में भीष्म इन राज्यों को लपेट करते हुए अोजपूर्ण शब्दों द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि इन राज्यों की एक श्रृंखला में बाँधकर अपनी रक्षा करनी चाहिए। भीष्म महोदय ने राज्यों के इस प्रकार के संगठन की संघ के नाम से सम्बोधित किया है। भीष्म ने इन राज्यों की एक दूसरे से असंग रक्षने के सिद्धान्त का घोर विरोध किया है।*

*—मेदे गवा विमरयेमुनिवास्तु सुगयाः परैः ।

इसलिए वास-मण्डप के कई छोटे गणराज्यत्मक राज्य एकत्र में
 बैठकर एक संगठन का निर्माण करते थे। महाभारतकाल में इस
 संगठन को संघ के नाम से पुकारा है। महाभारत में ऐसे कई संघों का
 विवरण है। अन्धक-बुध्न्य संघ इसी प्रकार का था। प्रत्येक राज्य जो
 संघ के अन्तर्गत था अथवा था इस संघ की एक इकाई हो जाती थी।
 प्रत्येक ऐसे राज्य को आन्तरिक शासन में स्वतन्त्रता थी और इन
 राज्यों की राजसत्ता अपने राजा की प्रजा में निहित मानी जाती
 थी। संघ में सम्मिलित हुए सबल राज्यों से सम्बन्धित सबल विषयों
 का शासन-प्रबन्ध प्रथमिक सुधाररूप से होने के लिए संघ को हस्तक्षेपित
 कर दिया जाता था। इन विषयों में से सब से महत्वपूर्ण विषय
 उनकी रक्षा का प्रथम था।

महाभारतकार ने इस प्रकार के पाँच राज्यों की संगठित संस्था का वर्णन किया है। महाभारत के सभापर्व में अर्जुन की विनिमय का उल्लेख है। इसी सम्बन्ध में महाभारतकार ने लिखा है कि अर्जुन ने उत्तर उसूक देश में ही स्थित पाँच गणराज्यों की जीत लिया। इस वर्णन के आधार पर यह सिद्ध होता है कि यह पाँच गण पाँच सहायक राज्यो [] लिए प्रयुक्त किए गए हैं। यह पाँचों गण-सहायक राज्य भी सम्भवतः एक संघ के अन्तर्गत संगठित हुए थे।

यहाने बड़का कवि ने सत्र गणसंज्ञात्मक राज्यों के संगठित होने के सम्बन्ध में संकेत किया है। यह पाँच राज्य हिमालय पर्वत के समीपवर्ती थे। “सप्तगण”^१ पद इस बात का सूचक है कि यह पाँच गणसंज्ञात्मक राज्य एक संघ के अधीन एकत्र हुए होंगे। इस प्रकार सप्तगण सात गणसंज्ञात्मक स्वतंत्र राज्यों के संघ का नाम था।

वस्मात्संवात्यौगेन प्रपतेरम् गच्छाः सदा ॥

रहस्यो० १५ अ० १०७, मा० प० ।

भाषाऽथ मैत्री कुर्वन्ति तेषु संपातवृत्तिषु ।

‘क्षो० ६५ अ० १०७, ग्रा० पर्व ।

†--किरीटी किल्लाम्बालज्येष्ठाम्बरायास्ततः ॥

इस्रो० १२ अ० २७, सभापथ ।

†—गङ्गाप्रणयनं सञ्चितान्, अथत्सद पश्यन्तः ॥

श्री० १६ अ० २७, समापन ।

इसके उपरान्त महाभारत के उसी अध्याय में इस मण्डल राज्यों के संगठन की ओर संकेत है ।[†] इन समस्त राज्यों के संगठित राज्य का एक अध्यक्ष तथा प्रधान था । जिसका नाम मोहित दिया हुआ है । यदि यह उस राज्य एक सूत्र में न बँधे होते तो ■■■ समस्त राज्यों के हेतु मोहित अपना भीषण संकट में न डालता । वह जिस राज्य का बाकी या उसी राज्य के हेतु धर्म से युद्ध करता, परन्तु यह बात नहीं हुई । सत्य तो यह है कि यह सभी राज्य एक ही मण्डल अपना संघ के अन्तर्गत एक ही सूत्र में बाँधे गए थे अतः उन सब राज्यों का एक सम्मिलित अध्यक्ष या प्रधान था । उस समय मोहित नाम का व्यक्ति इस पर पर वासीन था । अतः उनके लिए इन सभी राज्यों की रक्षा का प्रयत्न समान रूप से था ।

अम्बक-बुधिया संघ का पीछे इलैक किया जा चुका है । साधुस इस संघ का राजा यथास्तु अध्यक्ष था । उपर्युक्त बुधिया राज्य का अध्यक्ष था । इस कारण से यह सिद्ध होता है कि संघ के अन्तर्गत सम्मिलित ■■■ राज्यों के अलग-अलग अपने अध्यक्ष या प्रधान होते थे और साथ ही संघ का एक अलग प्रधान या अध्यक्ष होता था जो सार्वजनिक समस्याओं के निर्यय हेतु समस्त राज्यों का समान रूप से अध्यक्ष या प्रधान होता था । साधुस बहुशय इसी शीर्षक में जाते हैं ।

इसके प्रतिरिक्त एक और बड़ा संघ था जिसे महाभारतकार ने अम्बक-बुधिया-भोज-मावथ और कुन्दर संघ के नाम से सम्बोधित किया है । इस संघ में उपरोक्त पाँच महासाम्राज्यक राज्य सम्मिलित थे । शारकापुरी इस संघ-राज्य की राजधानी थी । महाभारत के सान्नि पूर्व के २२^१ अध्याय में इस संघ की ओर विशेष संकेत है और वहीं पर इस बात का विवरण है कि इस संघ में कई राजनीतिक दल थे जिनमें उग्र संघर्ष था । इस संघर्ष से व्यथित हो श्रीकृष्ण ने नारद के पास जाकर उनसे इस संघर्ष पर विजय प्राप्त करने के उपाय जानने के सम्बन्ध में प्रार्थना की थी । प्रत्येक दल अपने नेता को इस संघ के प्रधान व अध्यक्ष पर पर आसीन कराने का प्रयत्न कर रहा था । इस

†—अम्बकबुधिया संघ मन्वत्तैर्दुग्भिः ६६ ॥

प्रसंग की कथा के विवेचनात्मक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है ■
उस समय कृष्ण इस संघ के प्रधान व सम्मान थे । उन्हें वहाँ पर
ईश्वर कहा है । यशु और उवसेन भी इस पद की प्राप्ति के ■
प्रयत्नशील थे ।

संघ के अध्यक्ष का प्रधान की सहायता के लिए संधराज्य में
स्थापित हुए प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधि उस राज्य की ओर से निवत
किए जाते थे : जिन्हें महाभारतकार गणमुख्य के नाम से सम्बोधित
करता है ।* ऐसा प्रतीत होता है कि संघ के समापति की प्रधान कहते
थे । भीष्म ने इस बात पर बल देकर उपदेश दिया है कि गुप्तचर
विभाग और राज्य की रहस्यपूर्ण योजनाएँ प्रधान के हाथ में होनी
चाहिए । यह आवश्यक नहीं कि संघ के प्रत्येक सदस्य की राज्य की
रहस्यपूर्ण योजनाओं का भेद जात हो ।†

इस प्रकार यह गणतंत्रात्मक राज्य तथा उनके संघ-राज्य
अनर्तनारमक राज्य की उच्चकोटि की राजनीतिक संस्थाएँ थीं । जन-
सोवात्मक राज्य के मुख्य-मुख्य तत्त्व—राज्य का युवा हुआ प्रधान, जन-
राजनीतिक सत्ता, राष्ट्रीय सभाएँ जिसका सम्मिलित जनता पर था,
संविधान जिसका उत्तरदायित्व सभा पर निर्भर था और जनतंत्रात्मक
प्रणाली का इन राज्यों के दैनिक कार्यों में बरता जाना—जनतंत्रात्मक
राज्य के लिए महाभारतकाल की बड़ी देन है ।

*—गण मुखैस्तु सम्भूय कार्यं राक्षसिष्ठं मियाः ।

श्लो० ५२ अ० १०७, पा० १० ।

†—मंत्रशुक्तिप्रधानेषु चास्त्रमित्र-कर्षण ।

न यत्नाः कुत्सह्यी मंत्र श्येतुमर्हन्ति भावत ॥

श्लो० २४ अ० १०४, पा० १० ।

सालों में धात्मा या स्वामी (राजा) पर अधिक महत्व दिया जाता था । यद्यपि इसी के केन्द्रीभूत माने जाते थे ।

राज्य के उत्पत्ति सम्बन्धी कारणों पर चर्चा करने के उपरान्त यह विधित होता है कि हिन्दू राज्य की उत्पत्ति संघर्ष में हुई । चाहे यह संघर्ष मनुष्य की सुर और असुर वृत्तियों के मध्य में हुआ हो धर्म या पाप के विरुद्ध । ऐतरेय और छतपथ ब्राह्मण इस कथन की पुष्टि करते हुए वर्णन करते हैं कि देवों और असुरों में किस प्रकार युद्ध हुआ था और किस प्रकार देव असुरों से परास्त हुए थे । देवों ने अपनी पराजय से यह निष्कर्ष निकाला कि उनकी पराजय का मूल कारण यह है कि उनके यहाँ राजा नहीं है । परन्तु असुरों में राजा था । इसलिए उन्होंने कहा कि हमें राजा का निर्माण करना चाहिए । इसलिए हिन्दू राज्य के मुख्य सत्य की उत्पत्ति असुरों से युद्ध करने एवं उनके दमन करने के में हुई थी ।

इस सम्बन्ध में महाभारत में लगभग इसी विचार को दूसरे शब्दों में बोधायित गया है । मनुष्य में असुर वृत्तियाँ सुवृत्ति अवस्था में पड़ी हुई थीं । कुछ समय के उपरान्त यह जाग्रत हुई और उन्होंने मनुष्य-जीवन को नाशक्रीम बना दिया । भानव-समाज में अत्यन्तम बड़े वेग से प्रचलित हो गया, इसलिए इन असुर वृत्तियों के दमन करने और प्राचीन सुखमय जीवन को पुनः लाने के लिए राजा की परमावश्यकता प्रतीत हुई । इस प्रकार पाप या असुर वृत्ति के दमन के लिए राजा की उत्पत्ति हुई ।

ऐसी परिस्थिति में जिस राज्य का जन्म हुआ होगा उसका निर्माण ऐसे तत्वों के संयोग से होना आवश्यक है जो आततायी को युद्ध में दमन करने में सफल हो सके और वह उसे सर्वथा के लिए दामन करने में सफलता प्राप्त कर सके । यही कारण है कि हिन्दू राज्य का संगठन इन्हीं तत्वों पर हुआ था । प्रारम्भ में हिन्दू राज्य का उद्देश्य केवल इतना था कि वह प्राचीन सुख और शान्ति के युग की पुनः स्थापना कर सके । परन्तु जैसे-जैसे समाज विकास को प्राप्त होता गया राज्य के कर्तव्यों में वृद्धि होती गई । जागे बनकर लोक-कल्याण हिन्दू-राज्य का मुख्य उद्देश्य हो गया ।

भारतीय राजनीति और मानव शरीर की रचना:—हिन्दू राजनीति हिन्दू जाति की अपनी निजी सम्पत्ति है । दूसरी जातियों ने

राजनीति-क्षेत्र में जो अनुभव प्राप्त किए हैं उनके आधार पर इसका निर्माण कदापि नहीं हुआ था। हिन्दू राजनीति का विवेकनात्मक अध्ययन कर लेने के उपरान्त मनुष्य इस परिणाम पर पहुँचता है कि हिन्दू राज्य का संगठन मनुष्य की शरीर-रचना के आधार पर था। आत्मा ही राजा है। शरीर में शरीर की सारी क्रिया आत्मा के ही साधित हैं। इसी प्रकार हिन्दू राज्य में समस्त क्रिया राजा पर ही केन्द्रीभूत होती है। मुक्त ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हैं—**विचार है—स्वाधी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना** यह सात राज्य **संग** माने गए हैं।[†] इनमें सर्वश्रेष्ठ संग मस्तक राजा माना गया है। अमात्य राज्य के जेब, सुहृद् कान, मुक्त कोष, सेना मन, हाथ दुर्ग, और पाद राष्ट्र माने गए हैं। मनुष्य शरीर में सारी क्रिया मस्तिष्क के साधित होती है इसी प्रकार राज्य में सारी क्रिया राजा के साधित होती है। शरीर में मस्तिष्क को ठीक रखने **लिए** अत्येक साधन जुटाना पड़ता है क्योंकि सभी के मनुष्यमस्तिष्क रहने पर शरीर की सारी क्रिया निर्भर है। इसी प्रकार राज्य में राजा को सुरक्षित रखने का अत्येक उपाय किया जाता था। मनुष्य शरीर में मस्तिष्क का महान प्रभाव पड़ता है। यदि मस्तिष्क में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो गया तो शरीर इस क्षीण से झड़ता नहीं रह सकता। इसी प्रकार यदि राजा में किसी प्रकार विकार उत्पन्न हो गया तो उसके समस्त राज्य पर इसका महान प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

इसलिए हिन्दू राज्य का संगठन इसी एक सिद्धान्त पर निर्भर था। हिन्दू राज्य के उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त लगभग पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुके थे जिसका परिणाम यह हुआ है कि यह राज्य कुछ ऐसे लोगों से युक्त हो गए जो कि इसी प्रकार के राज्य देशों के राज्य उनके ज्ञान से बढ़ गए और अपने को उनसे मुक्त न कर सके।

†—इन्द्राग्निनाम सुकृच्छ्रेण राष्ट्रं दुर्गं यजामि च।

सर्वांगसुखमेवात्रैव सत्रसुखीभूतः सखतः॥

श्लोक ३१ अ० १, सुकनीति।

इन्द्रमात्मा सुहृद्भीमं सुकृच्छ्रेणो वसंमनः।

इस्वी पादौ दुर्गं शब्दौ राज्योक्तानि स्युर्नामिहि।

श्लोक ३२ अ० १ सुकनीति।

धर्म और सदाचार का प्रभाव:—हिन्दू राजनीति संसार की अन्य राजनीतियों में एक विशेष स्वाम प्राप्त किए हुए है। इसकी विचार-धारा में कुछ ऐसे विवेक सलए पाए जाते हैं जो संसार की अन्य जातियों के राजनीतिक विचारों से सर्वथा भिन्न हैं।

हिन्दू राजनीति धर्म और सदाचार के प्रभाव से कभी भी वंचित नहीं रही है। हिन्दू राज्य का सर्वत्र यह एक मुख्य उद्देश्य रहा है कि उस राज्य की प्रजा को इस लोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त होना चाहिए। इसलिए हिन्दू राज्य का एकमात्र यही उद्देश्य रहा है कि धर्म-धर्म, धर्म, और काम की समुचित व्यवस्था के द्वारा प्रजा के सर्वप्रधान उद्देश्य, भोज, की प्राप्ति की व्यवस्था करना। इसी व्यवस्था के लिए राज्य का निर्माण हुआ था। इस प्रकार हिन्दू राज्य का संगठन भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति के लिए हुआ था। मनुष्य के इस लोक और परलोक दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति का भार राज्य पर निभने था।

मध्यकालीन योरोप के राज्य भी समानग इन्हीं उद्देश्यों को अपने सामने रखे हुए थे। परन्तु प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य और मध्य-कालीन योरोप के ईसाई राज्यों की समानता करना बड़ी भूल होगी। इस सम्बन्ध में पहली बात यह थी कि मध्यकालीन योरोप के ईसाई राज्यों में राजा के बहुत से अधिकारों पर ईसाई गिरजाघर ने अपना आधिपत्य बना लिया था। जिसका परिणाम यह हुआ था कि इन राज्यों के राजा का वह किसी संघ तक संकुचित हो गया था और उनकी मान-मर्यादा भी उसी प्रकार कुछ न्यून हो गई थी। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन ईसाई राज्यों के राजा सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिकार प्राप्त राजा न रह गए थे क्योंकि उनके अधिकार-क्षेत्र को गिरजाघर ने संकुचित कर दिया था। गिरजाघर ने अपने इन अधिकारों के वैधक्य से मोह करने की बुद्धि के लिए एक नये सिद्धान्त का सहारा लिया था। इन ईसाई राज्यों में राजा गिरजाघर का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी नहीं माना जाता था। इस क्षेत्र में पोप की प्रधानता थी और उसकी प्रधानता वैध नामावर पर सिद्ध की जाती थी जिसके अनुसार राज्य के नादिक लोग में राजा को पोप के अधीन कर दिया गया था। गिरजाघर ने अपने क्षेत्र में अपने राज्य का निर्माण किया था जिसपर राजा का सेसनान भी अधिकार न था। इस राज्य का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी पोप था। राज्य के केवल

मित्र मित्रिका सम्बन्ध बंध से न वा राजा के छात्रने लाए वा सकते थे । मनुष्य के धार्मिक प्रवृत्ति धार्मिक जीवन पर राज्य वा कोई अधिकार न था । ऐसे राज्यों में राजा को यह अधिकार न था कि वह उन विषयों से सम्बन्धित अभियोगों के लिए मित्रिका सम्बन्ध बंध वा संस्कार से वा स्वाय की व्यवस्था देता और जो व्यक्ति इस क्षेत्र में दोषी होते उन्हें दण्ड देता । विरजाष्टर में एक ही वेस में ही प्रकार के जीवन को निर्धारित कर दो राज्यों की स्थापना करने का प्रयत्न किया था और दोनों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा निर्धारित कर दोनों को समान रखने का प्रयत्न किया था । परन्तु दूसरी ओर इन राज्यों के राजाओं ने अपने अधिकारों और अपनी राजसत्ता को बीच के राज्य तक बढ़ाने का भरसक प्रयत्न किया । फलतः इस प्रकार की राजसत्ता की स्थापित के हेतु संघर्ष होता बारम्बार हुआ । इस प्रकार मध्यकालीन पौरव में एक ही भू-भाग के अन्तर्गत दो राज्य साम-साज कार्य करते हुए पाए जाते थे । लोगों को दोनों का राजभवन रहना आवश्यक था । जिन्होंने इसका विरोध किया उन्हें और मारगार्ह लोगनी पड़ी ।

हिन्दू राज्य में भी विभाजित राजसत्ता की कुछ झलक सी बुझ-बोझ होती है । हिन्दू राज्य में राज्याभिषेक के पश्चात् वह इस बात की घोषणा कर दी जाती थी कि इस प्रकार अभिविक्त किया गया राजा ब्राह्मणों का राजा नहीं है क्योंकि उसका राजा हीन है (सीमीश्रमाक ब्राह्मणों का राजा) । परन्तु इस घोषणा का अर्थ यह नहीं माना गया था कि ब्राह्मण लोग राज-वृद्ध से मुक्त थे । उन्हें यह धर्मतः अधिकार न था कि वह राजपद की हटा दें अथवा राजा के अधिकारों को किसी प्रकार भी न्यूनार्थिक कर सकें । जबतक कि राजा वर्तमानसार राज्य करता है, यदि कोई भी ब्राह्मण राज्य के निर्धारित नियमों का उल्लंघन करता तो उसे दण्ड देने का पूर्ण अधिकार राजा को था । राजा को यह अधिकार था कि उसके राज्य में यदि कोई व्यक्ति धार्मिक प्रवृत्ति राजनीतिक वा सामाजिक आदि किसी प्रकार के निरुद्ध को संग करता हुआ पाया जाता, चाहे वह ब्राह्मण होता या अन्य वर्ण का उसे दण्ड देने का पूर्ण अधिकार था । इस व्यवस्था की स्थापना केवल इसलिए की गई थी कि राजा पर कुछ रोक-थाम रहे जिससे स्वेच्छाचारी न हो सके ।

इसके अतिरिक्त एक यह भी बात थी कि प्राचीन काल के हिन्दू

राज्यों में बाह्यगुण बर्णने ने कभी इस बात का स्वप्न में भी प्रयत्न नहीं किया कि वह किसी बाह्यगुण नेता की अध्यक्षता में धार्मिक विषयों के लिए एक भ्रमण सभा का निर्माण करें जैसा कि मध्यकालीन योरोप के ईसाई राज्यों में पोप के द्वारा किया गया था। न उन्होंने कभी इस बात का ही प्रयत्न किया कि वह अपने लिए भ्रमण कार्यकारिणी, स्थाय-सभा एवं धारासभा की स्थापना राजा की राजनीतिक सत्ता से निरन्तर मुक्त होकर करते। पर्याप्त संख्या में ऐसे उदाहरण प्राप्त हैं जहाँ बाह्यगुण, साधु-संन्यासी भी धार्मिक वा सवाचार सम्बन्धी किसी नियम के भंग करने के अपराध के दण्डविधान के लिए राजा के पास स्वतंत्रता-पूर्वक जा सकते थे और राजा द्वारा दण्ड पाकर पाप से मुक्त होते थे। परन्तु मध्यकालीन योरोपीय ईसाई राज्यों में यह बात न थी।

इन राज्यों में पोप धार्मिक एवं सवाचार सम्बन्धी विषयों के लिए अपना भ्रमण राज्य स्थापित करता था जो कि उसी देश के भौतिक राज्य से लेखनाम भी सम्बन्ध न रखता था। इस राज्य का सर्वोपरि अधिकारी पोप था जो प्रजा से इस राज्य के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखने के लिए लोगों को बाधित करता था। पोप ने राज्य के लगभग समस्त प्रमाण विभागों को संगठित कर गिरेजावर के राज्य की स्थापना की थी। वह इस क्षेत्र में राजसत्ता का अधिकार जमाता था। परन्तु हिन्दू राज्य में लोगों का धार्मिक एवं स्वयं उसी राज्य का भंग बन गया था। उन्होंने न तो कभी इस बात का प्रयत्न ही किया और न वह इस प्रयत्न में सफल ही होते कि वह अपने को इस राज्य से भ्रमण कर दूसरे नए राज्य की स्थापना धार्मिक विषयों के लिए करते। लोगों का धार्मिक जीवन भी राजा के ही अधीन कर दिया गया था। ऐसे हिन्दू राज्य को धार्मिक राज्य (theocratic state) को योरोप के धार्मिक राज्यों (theocratic states) के समान मानना एक बड़ी मूल होगी।

दूसरी ओर यह बात भी थी ■ प्राचीन हिन्दू राज्य धार्मिक पारमार्थ्य राज्यों के समान न थे। धार्मिक पारमार्थ्य राज्यों में धार्मिक दृष्टि दृष्टे क्षेत्र से प्रभाव डाल रही है जिसका परिणाम यह हुआ है कि यह राज्य मुख्यतः रोटी के प्रश्न को ही सुलझाने में लगे रहते हैं। निर्वाण की व्यवस्था कर जन्म-मरण के चक्कर से छूटकर मोक्ष को प्राप्त करना जो हिन्दू राज्य का एकमात्र लक्ष्य था, इन

राज्यों से कोठों दूर है। यह निर्विवाद है कि सामुनिक वास्तविक राज्य का निर्माण इस उद्देश्य के लिए कदापि नहीं हुआ है। यह किसी प्रकार भी प्रतिशयोक्ति न होगी यदि ■ राज्यों के विषय में यह कहा जाय कि इन राज्यों के सामने केवल एक लक्ष्य है और वह है समाज की भौतिक उन्नति। वास्तविकताओं की दृष्टि में सामाजिक उन्नति के प्रयत्नों ■ शीघ्र सम्पन्न संकीर्ण कर दिया है।

हिन्दुराज्य में राजा का समेक स्थानः—हिन्दू राज्य का एक विशेष लक्षण इसके अन्तर्गत राजपद का होना था। सामाज्य और महाभारत के अनुसार राजा के विना देश में जीवन असम्भव है। उपनिषद् राजा के विना किसी भी भू-भाग में सामारण जीवन की स्थिति असम्भव होती है। राजा के सहयोग के बिना जीवन के मुख्य उद्देश्य, मोक्ष की प्राप्ति असम्भव मानी गई है। हिन्दू राजा का इतना बड़ा महत्त्व होने पर भी हिन्दू राजनीति-क्षेत्र में ऐसे राजा को स्थान नहीं दिया गया जो कि इतना अधिक शक्तिशाली हो जाए कि वह स्वेच्छाकारी और निरंकुश शासक का स्थान ग्रहण कर ले। इसके साथ ही हिन्दू राजनीति शास्त्र-ग्रन्थों ने निर्बल राजा की भी उन्नति ही निम्ना की है जिसकी ■ निरंकुश शासक की की गई है। हिन्दू राजनीति ऐसे राजा की प्रशंसा करती है जो इन दोनों कीटियों के राजाओं में मध्यवर्ती हो।

पाश्चात्य देश के राजनीति-शास्त्र के विवेचनात्मक अध्ययन के उपरान्त यह विधित होता है ■ इसके अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है जिसका परिणाम यह हुआ है कि पाश्चात्य देश में राजनीतिक समाज का ढाँचा ही नितान्त भ्रष्ट गया है। इस उपेक्षा का परिणाम यह हुआ है कि इन राज्यों में राजपद से समेक भावना नितान्त नुप्त हो गई है और जिसका फल यह हुआ है कि इन राज्यों में राजपद को परकाष्ठ पर सहारा दिया गया। एक ओर हम ऐसा राजा पाते हैं जैसे फ्रांस का लुई पतुरीस, इस का कारण, इंग्लैंड का चार्ल्स प्रथम जो सभी में स्वेच्छाकारी शासक के और जो सर्वत्र प्रजा के अधिकारों का विरोध करते रहे और वही घोषणा करते रहे कि प्रजा के राजा के प्रति कोई अधिकार नहीं है। उसे केवल वही अधिकार मिला सकते हैं जो कि इन राजाओं द्वारा स्वीकृत किए जाते हैं। यह राजागण अपनी ईवी उत्पत्ति मानते

से और इस आधार पर पृथ्वीसल पर किसी के भी उत्तरदायी न थे। किसी प्रकार का भी वैधानिक नियंत्रण उन पर अर्न्तः लगाया नहीं जा सकता था। उनका सब्द ही विधि था जिसका उल्लंघन बहुत बड़ा पाप समझा जाता था।

दूसरी ओर कुछ ऐसे राजा हुए हैं जिन्होंने अपने सारे अधिकार मंत्रिमण्डल वा सभा को समर्पित कर दिए हैं और कह स्वयं उस मंत्रिमंडल वा सभा के हाथ में कठपुतली की भाँति बन गए हैं। वह जनता के कियारमक जीवन में क्रियाशील होकर जाग नहीं खते। वह मंत्रिमंडल वा सभाएँ जो कुछ निर्णय कर देती हैं वह इन राजाओं को मान्य होता है और वह राज्य में विधि का स्थान ले लेता है। राज्य में राजनीतिक, धार्मिक वा सामाजिक जीवन में ऐसे राजाओं के लिए अपने निजी विचारों के प्रकाशन वा अपने उच्चारण द्वारा प्रजा के समक्ष उपाहरण रखने का सेशमात्र भी अवसर नहीं दिया जाता। इन राज्यों में प्रत्येक प्रकार ■ राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन से उसे नाता तोड़ देना पड़ता है। विभिन्न राजनीतिक उद्देश्यों के आधार पर विभिन्न राजनीतिक दलों का निर्माण हो जाने से राजनीतिक अधिकारों में प्रधानता प्राप्त करने के उद्देश्य से इन दलों में संघर्ष घने रहते हैं। इंग्लैंड जैसे देश में राजपद बड़ा ही कोमल हो गया है। इसी कारण राजा स्वभावतः राज्य के राजनीतिक कार्यों से अपने को अलग रखने का प्रयत्न करता रहता है। उस इस बात का भय रहता है कि वह कहीं दसबन्दी में फँसकर अपने पद से अलग न कर दिया जाए।

हिन्दू राजनीतिक विचारधारा इस विचार से प्रितान्त मिश्र है। प्राचीन भारत में हिन्दू राजनीतिक विचारों में मध्यवर्ती सिद्धांत के महत्त्व एवं आवश्यकता की सही भाँति समझ लिया गया था। वह इस बात के पक्ष में थे ■ हिन्दू राज्य के अन्तर्गत राजा का समेश स्थान होना चाहिए। उन्होंने इस बात पर अधिक बल दिया ■ राजा राज्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्व होता चाहिए। उन्होंने इसीलिए अपने सत्तात्मक राज्य में राजा को भी एक तत्व मान लिया। परन्तु उग्र अथवा अत्यन्त निर्दल राजा उनके लिए उचित नहीं समझा गया था। वह ऐसे राजा को अपने राज्य में रखने की कभी भी स्वीकृति न दे सकते थे जो या तो इस राज्य के द्वार की भाँति स्वेच्छाचारी होता अथवा इंग्लैंड देश के

प्राबुतिक राजा की भाँति कोरे कायची अधिकारों को धोनेवाला होता। उन्होंने इस बात पर खदैव महत्व दिया कि हिन्दू राजा बलवान होना चाहिए परन्तु यह इतना शक्तिसासी न होने पाए कि राज्य में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का वाशक बन जाए। यह शक्तिसासी तो रहे परन्तु उसके अधिकार विधि-द्वारा सीमित कर दिए जाएँ और यह विधि-निर्माण का अधिकार उसे कदापि न दिया जाए। इसीलिए उन्होंने राजा के लिए कुछ नियम बनाए जो राज-धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं नियमों के अनुसार उसे शास्त्ररु कर्त्ता करता था। उसे अपने स्वर्णों के अनुसार शास्त्ररु करने का सौभाग्य भी अधिकार न था। युद्ध एवं शान्ति दोनों समयों में राजा प्रजा का नेता समझा जाता था। राजा का उत्तम शास्त्ररु होना चाहिए जिससे वह अपनी प्रजा के लिए आदर्श बन सके। राजनीतिक धार्मिक एवं सामाजिक योजनाओं के दैनिक बाद-विवाद में राजा का उच्च स्थान रहता था। राज्य की नीति का निर्धारित करना उसी का काम था। हिन्दू राजा उदासीन बनकर रहने का अधिकारी न था।

राज्य में राजा के इस उपयुक्त स्थान के पा लेने से उसके मंत्रियों एवं प्रजा में उसका बहुत ऊँचा स्थान रहता था। यह अपनी प्रजा के लिए उत्तम शास्त्ररु के लिए आदर्श बन गया जिसका प्रजा ने देव के समान सत्कार करना प्रारम्भ कर दिया और जिसे प्रजा ने पूरा सहयोग दिया। उन्होंने राजा की पृथ्वीवत् पर मनुष्यरूप में देव समझा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस पद के लिए ईगलेन्ड के चार्ल्स प्रथम जैसे राजा कितने लालायित रहे हैं परन्तु इस पद की यह पा न सके। हिन्दू राजा जिसने कभी भी इस पद की अभिलाषा न की थी प्रजा के हृदय में देव रूप बन कर बैठ गया। हिन्दू राज्य में राजा के इस समस्त पद पर निधुनित के कारण राजतन्त्रात्मक राज्य अपने कठोर ढोचों से मुक्त गया और उसने जनसंवाद के तत्त्वों का समावेश हो गया जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू राज्य में राजतन्त्रात्मक राज्य का स्वरूप ही बदल गया। बाहर से देखने से पता चलता था कि हिन्दू राज्य राजतन्त्रात्मक राज्य है परन्तु इसका सारा ढाँचा जनतन्त्रात्मक राज्य में परिवर्तित हो गया था। ऐसे राज्य में छोटे से लेकर बड़े तक प्रत्येक कर्मचारी के कर्तव्यों और अधिकारों का क्षेत्र नियत कर दिया गया था। हिन्दू राजतन्त्रात्मक राज्य में इन जन-

संसारिक राज्य के सत्तों का समावेश हो जाने से हिन्दू काल में एक विशेष प्रकार के राज्य का निर्माण हुआ। हिन्दू राजा कभी भी निर्दुष्कृत एवं स्वैच्छाकारी नहीं हो सकता था, उसका स्वैच्छाचार कतिपय प्रतिबन्धों के लागू कर देने से अत्यन्त संकीर्ण एवं सीमित कर दिया गया था। जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू राजा ने सम्मानित वैधानिक सर्वोच्च अधिकारी का स्थान ग्रहण कर लिया।

राजा के ऊपर सर्वप्रथम कुछ नियमों के संग्रह का प्रतिबंध था जिनके अनुसार उसे राजपद दिया जाता था। इस सम्बन्ध में कि वैदिक युग में राजा का चुनाव होता था कई विद्वानों ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में अनेकों प्रमाण दिए हैं। उनका मत है कि राजा की नियुक्ति सभा और समिति नाम की संस्थाओं के अधीन थी। ये संस्थाएँ राजा की गद्दी से उतार सकती थीं और पदभ्युक्त राजा की पुनः राजपद से उतार सकती थीं। राजपद प्राप्ति के लिए राजा का अभिवेक होता अनिवार्य था। इस अवसर पर उसे प्रजाभक्त रहने की शपथ मन वचन और कर्म से लेनी पड़ती थी। यदि राजा शपथ को भंग करता था तो उसे अपने पद से हटा जाना पड़ता था।

रामायण और महाभारत-काल में राजपद वंश-परम्परा के नियम पर प्रबलप्रियत था। परन्तु इस नियम के हो जाने से राजा की वास्तविक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। राजपद प्राप्ति के लिए कुछ प्रतिबन्ध थे जो राजपद को निश्चित करते थे। इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में इन प्रतिबन्धों का बली मति निरूपण किया जा चुका है। वीर मराने में जन्म, ज्येष्ठता का अधिकार, पैतृक अधिकार, वारिष्ठाधिकार, आचरण की एक निर्धारित सीमा, प्रजा द्वारा स्वीकृति, राज्याभिवेक और राजकीय शपथ उसके ऊपर ऐसे प्रतिबन्ध लागू थे जिनका वह उल्लंघन नहीं कर सकता था। इस प्रकार राजवंश का अत्यन्त राजकुमार राजा बनने का अधिकारी न था। दूसरी ओर प्रजा की धर्मतः बिना बिनासे मनमाना राजा बना नहीं सकती थी। रामायण और महाभारत इस सम्बन्ध में राजकुमार और प्रजा दोनों पर प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष में हैं।

राज्याभिवेकः—हिन्दू राजनीतिक विचारधारा की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि राजपद प्राप्त करने के पूर्व राजा का राज्याभिवेक होता था। यह संस्कार जगतजनाद के सिद्धान्तों के अनुसार किया

जाता था। रामायण और महाभारत-काल में राज्यपद प्राप्ति के लिए राज्याभिषेक का कृत्य अनिवार्य था। हिन्दुओं के पवित्र ग्रंथों में बख्ति राज्याभिषेक के कृत्यों के बिना किए हुए बीच राजसत्ता किसी भी व्यक्ति में वर्मत्तः स्थापित नहीं की जा सकती थी। राज्याभिषेक रहित राजा पतित सम्मन्य जाता था।

इस संस्कार के प्रधान कृत्यों के अवलोकन करने से पता चलता है कि यह संस्कार अमरतजात्मक था। इस संस्कार के अवसर पर राज्य के प्रत्येक वर्ग एवं हित ■ प्रतिनिधि की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। यहाँ तक कि राज्य की सत्त्व सन्धि के प्रतिनिधियों की भी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। यह सब राजा को राज्यपद देने में अपनी अनुमति देते थे। इस प्रकार राजा का वरण राज्य की प्रजा ■ प्रतिनिधियों द्वारा होता था। ऐसे अवसर पर यह धोखा की जाती थी कि यह भूमि समूह व्यक्ति को कुछ प्रतिबन्धों के साथ दी जा रही है। यद्युक्त मुख्य तीन प्रतिबन्ध समाता है। भूमि उसे कृषिकार्य के लिए (कृष्याय), सार्वजनिक उन्नति के लिए (पौष्पाय) और सार्वजनिक श्रम के लिए (श्रमाय) दी जा रही है। महाभारत में अगमय इन्हीं प्रतिबन्धों को दूसरे शब्दों में कहा गया है। इस प्रकार राज्य राजा के हाथ में एक निधि के रूप में प्रजा के प्रतिनिधियों ■ द्वारा सौंप दिया जाता था। राजा को यह निधि कुछ निर्धारित प्रतिबन्धों के साथ दी जाती थी। यह निधि उसके अधिकार में अभी तक रह सकती थी जब तक कि वह इन प्रतिबन्धों का पालन करता रहता था। परन्तु जैसे ही वह इन प्रतिबन्धों में से एक भी प्रतिबन्ध के नियमों का उल्लंघन करता हुआ पाया जाता था, उसे इस निधि को अपने समीप रखने के अधिकार को नष्ट कर देना पड़ता था और दूसरे अव्यक्त एवं शोच्य व्यक्ति के लिए अपना पद रिक्त कर देना पड़ता था। रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथ इस संस्कार के वेद महत्त्व को स्वीकार करते हैं। क्रियात्मक क्षेत्र में चलने से विहित होता है कि इस युग में छोटे से लेकर बड़े से बड़े राजा तक को राज्यपद पाने के पूर्व इस संस्कार से सम्बन्धित कृत्यों को करना पड़ता था। इन ग्रन्थों में राम और युधिष्ठिर दोनों राजाओं के राज्याभिषेक सम्बन्धी संस्कारों का वर्णन किया गया है। इनमें समस्त कृत्यों का वर्णन प्राप्त है जो कि इन राजाओं को बीच राजा होने के पूर्व करने पड़े थे।

राजकीय शपथः—राज्याभिषेक का एक प्रधान अंग राजकीय शपथ का कृत्य था। राजकीय शपथ की शब्दावली निम्न थी, और अभी तक वैदिक ग्रंथों में ज्यों की त्यों प्राप्त है। यह शपथ प्रजा-संग्रह के माथों से शीतमोत है। इस शपथ के अनुसार राजा समस्त सम्पत्ति जनसमुदाय के समक्ष इस बात की शपथ लेता था कि वह प्रजाद्रोह कभी भी न करेगा। शपथ लेने के लिए भावी राजा को विशेष आभरण करना पड़ता था। उसे कत रज्जना पड़ता था, और कुशासन पर सोना पड़ता था और उस दिन समस्त सांसारिक भोग-विलासों को त्याग देना पड़ता था। यह सब उसे वारधपुष्टि के लिए करना पड़ता था। इसके पश्चात् वह समस्त जनसमूह के समक्ष इस प्रकार शपथ लेता था—जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि में मैं मृत्यु को प्राप्त करूँ इस मध्य में किसे हुए मेरे समस्त पुण्य, मेरी सन्तति और यहाँ तक कि मेरा जीवन नष्ट हो जाए यदि मैं प्रजाद्रोह करूँ। महाभारत में भी लगभग इन्हीं भावों को दूरे सन्तों में शोहराया गया है। भावी राजा को यह शपथ मन, वचन और कर्म से पालन करनी पड़ती थी। इस शपथ के लिए बिना भावी राजा साधारण नागरिक ही रहेगा। वह राजा न माना जायगा। इस प्रकार हिन्दूकाल में राजकीय शपथ राजा के लिए अनिवार्य कृत्य था और यह ऐसा कृत्य था जो भावी राजा को राजपथ का अधिकारी बनाता था।

ब्राह्मणों की स्वतन्त्रताः—राज्याभिषेक के उपरान्त ब्राह्मणों की स्वतन्त्रता की घोषणा भी हिन्दू राजनीतिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना है। इस अवसर पर ब्राह्मण वर्ग यह घोषणा करता था कि इस प्रकार से नियुक्त किया गया राजा उनका राजा नहीं है। उनका राजा सोम है (सोमोऽस्माकंब्राह्मणानाराजा) इस दृष्टि से राजा में एक विशेष पद का निर्माण किया गया था जिसे पुरोहित वा राजगुरु कहते थे। इस प्रकार पुरोहित का एक नया पद निर्माण कर उसका सम्बन्ध सोम से जोड़ दिया गया था। सोम किसे कहते हैं इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। परन्तु इतना अवश्य है कि ब्राह्मण वर्ग अपने को उसी के अधीन समझता था। इस प्रकार राजा तथा राजगुरु के पदों को राज्य में संयुक्त कर दिया गया था। यह प्रणाली इस सिद्धान्त की दृष्टिकोण से रखकर प्रचलित की गई थी कि राज्य में, विद्या और

शक्ति (शास्त्र और ज्ञान) दोनों साथ-साथ समान रूप से चलते रहे । राजगुरु शास्त्र का और राजा ज्ञान का प्रतिनिधि था । वैदिक साहित्य इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि यह दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । समाज के स्थिर रहने, उसके विकास एवं उन्नति के लिए इन दोनों की बड़ी आवश्यकता है । एक दूसरे के सहयोग से राज्यरूपी गाड़ी सुचारु रूप से चलती है और सभी प्रकार का कल्याण होता है । इसीलिए इन दोनों तत्वों की स्वतंत्रता को स्वीकार करते हुए दोनों में सामञ्जस्य स्थापित कर एक ही मूल से बाँध दिया गया था । रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में भी इस सिद्धान्त का इसी प्रकार वासन होता रहा । विद्वामित्र, वसिष्ठ, बुकाचार्य तथा ऐसे ही अन्य ऋषि राजगुरु के आश्रम पर आरुढ़ होकर अपने-अपने राज्य के राजाओं के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर राज्य कपी गाड़ी को बड़ी सुगमता और कुशलतापूर्वक चलाते रहे ।

राज्य में राजगुरु का पद इतना महत्वपूर्ण था कि राज्य के लगभग सारे मुख्य कार्य उसी पर आश्रित रहा करते थे । यह राजा के समीप बैठ कर राजा के कार्यों की ध्यानपूर्वक देखा करता था, उसकी सहायता करता था और उसे नियंत्रण में रखा था । यदि राजा राज्य-धर्म के विरुद्ध आचरण करता हुआ पाया जाता तो वह उसे मुरन्त सभेत करता था और उसे सद्मार्ग पर ले चलने का प्रयत्न करता था । यदि राजा उसकी सम्मति भंगवा चेतनशी को उपेक्षा की दृष्टि से देखता तो वह उसे वैध आचार पर राजपद छोड़ने के लिए भावेष दे सकता था । राजगुरु धर्म का प्रतिनिधि माना जाता था और अपने पवित्र आचरण के लिए जनता में प्रसिद्ध होता था । इसलिए ऐसे भ्रष्टाचारों पर जनता राजगुरु का ही साक्ष देती थी । यदि राज्य में कोई ऐसी दुर्घटना हो जाती थी, जिसे सुधारता राजा की शक्ति के बाहर होता राजगुरु का केवल एक उपदेसात्मक शब्द उसे सुधारने को पर्याप्त था ।

इस सम्बन्ध में पीछे कई घटनाओं का उल्लेख किया जा चुका है तथापि यहाँ पर एक-दो उदाहरण दे देना उचित होगा । रामायण के प्रयोध्याकाण्ड में इस सम्बन्ध में एक घटना इस प्रकार की हुई है—राजा वसराध की प्रधानतक मृत्यु हो जाती है । प्रयोध्या राज्य का कौन राजा ज्ञानार्थ जाय यह एक बड़ी जटिल समस्या लोगों के समक्ष उपस्थित हो जाती है । इस विषय पर राज्य के समस्त अधिकारी, पाद-विचार करते

हैं, परन्तु किसी निर्णय पर नहीं पहुँचते हैं। राजगुरु वसिष्ठ इस समस्या को बड़ी सरलता से सुलझाते हैं। महाभारत में भी राजा ययाति अपने सबसे छोटे पुत्र को राजा बनाना चाहते हैं परन्तु प्रजा उनका विरोध करती है। ऐसे राजसंकट के समय राजगुरु शुक्राचार्य का केवल एक चाक्य राजसंकट के बनमोर बादलों को क्षिप्त-भित्तकर देता है।

परन्तु इस बात को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि राज्य में ऐसे पद का निर्माण केवल बाह्यण वर्ग की अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए ही नहीं किया गया था। राजगुरु भी परम्परागत नियम से जकड़ा हुआ रहता था। यह उन नियमों का संस्मरण भी उत्सर्जन करते का अधिकारी नहीं था। राजगुरु का पद भी निर्वाचन द्वारा निर्धारित किया जाता था और इस पद पर वह ही व्यक्ति नियुक्त किया जाता था जो अपनी विद्या, बुद्धि और पवित्र भावधरण के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका हो। उसे भी इस पद पर आने के पूर्व एक विशेष प्रकार के संस्कार के कृत्यों को करना पड़ता था। यह कृत्य जनार्णवादि के सिद्धान्तों से प्रोत्पन्न होते थे। ऐसे संस्कारों के उत्सवों का विवरण कर्ण वेदिक-साहित्य में इस समय भी प्राप्त है।

कार्यकारिणी:—रामायण और महाभारत-काल में राज्य में कार्य-कारिणी का सबसे बड़ा अधिकारी राजा होता था, जिसकी नियुक्ति का प्रस्ताव उस समय के शासक राजा के द्वारा प्रस्तुत किया जाता था और जिसकी स्वीकृति राज्य की प्रजा पर निर्भर थी। राजा का उत्तरदायित्व राज्य के विधियों (laws of the state) पर था। इसलिए राजा अपने पद पर तभी तक रह सकता था, जबतक कि वह राज्य के विधियों का वास्तविक रूप में पालन करता रहता था। जैसे ही यह विधित हो जाता था कि राजा किसी भी विधि का उत्सर्जन कर रहा है तुरंत उसकी गद्दी से उतारने का प्रश्न उपस्थित हो जाता था। रामायण और महाभारत कालीन विधि ऐसे अभियोगों ■ लिए उसे दोषी निर्धारित करने का अधिकार देता है। ऐसे अवसरों पर राज-पुरोहित या राजगुरु जो कि राज्य के विधियों संबंधी ज्ञान का सबसे बड़ा अधिकारी समझा जाता था राजा के विरुद्ध अभियोग प्रस्तुत करता था। राजा को राजगद्दी से उतारने का प्रस्ताव राजगुरु के द्वारा सभा के समक्ष लाया जाता था, जो अपना निर्णय देती थी। इस सम्बंध में राजा वैन का उदाहरण एक उदात्त प्रमाण है।

इस प्रकार इस विषय में रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की कार्यकारिणी की स्थिति किसी अंश तक संयुक्त राज्य अमरीका के अध्यक्ष (प्रेसीडेंट) की भाँति थी। कार्यकारिणी वास्तविक अधिकारों के भोगते का अधिकार रखती थी और जिसको राज्यधर्म के नियमों के उल्लंघन करने का बोझा डहरा कर निकाला जा सकता था।

रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की कार्यकारिणी के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि इन राज्यों का विधान राजाओं के लिए मंत्रियों की एक समिति का होना अनिवार्य बतलाता है, जो राजा को सहायता और सम्मति देने का काम करती थी। शासन-विधान के अनुसार राजा को निर्धारित नियमों के माध्यम पर मंत्रि-परिषद् को रखना एवं उसके मंत्रियों से सम्मति लेना अनिवार्य था। इसी पुस्तक के तीसरे अध्याय में उन समस्त प्रतिबंधों का घसी भाँति वर्णन किया जा चुका है, जिनके आधार पर मंत्रि-परिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति राजा के द्वारा होती थी। मंत्रियों की नियुक्ति के समय राजा को इन प्रतिबंधों की ओर उपेक्षा की दृष्टि रखने का अधिकार न था। राजा को अपनी मंत्रि-परिषद् के सदस्यों को पदच्युत करने का अधिकार था परन्तु राजा का यह अधिकार भी निर्धारित नियमों की परिधि के बाहर नहीं हो सकता था। उसे आत्म-संतुष्टि के लिए मंत्रि-परिषद् के किसी भी सदस्य को पदच्युत करने का अधिकार न था। मध्यकालीन योरोप और भारत के सम्राटों को इस सम्बन्ध में जो अधिकार प्राप्त थे रामायण एवं महाभारत कालीन राजा उसी रूप में अधिकार प्राप्त न थे।

इस सम्बन्ध में तीसरी बड़े महत्त्व की बात यह थी कि इन राज्यों के विधान ने राजा को यह अधिकार कदापि न दिया था कि वह अपनी मंत्रि-परिषद् द्वारा दी हुई सम्मति को अस्वीकार करता। राजा को राज्य में शासन संबंधी कोई भी नई योजना कार्य रूप में परिणत करने का अधिकार न था, जब तक कि मंत्रि-परिषद् के मंत्रियों द्वारा उसने सम्मति प्राप्त न कर ली हो। राज्य में शासन सम्बन्धी प्रत्येक कार्य में मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की अनुमति अनिवार्य समझी जाती थी। शासन-सम्बन्धी प्रत्येक नवीन विषय की विवेचना मंत्रि-परिषद् में होती भाँति हो जानी अनिवार्य थी। जिससे उसने गुप्त और दोष भली भाँति प्रकट हो जाये। इस प्रकार विवेकमात्रक वाद-विवाद के उपरान्त

मंत्रि-परिषद् के बहुमत द्वारा किए गए निर्णय को राजा के आदेशानुसार कार्य रूप में परिणत किया जाता था। यदि किसी विषय पर मंत्रियों में मतभेद होता और उस मतभेद के कारण किसी एक निर्णय पर पहुँचना कठिन होता, तो राजा को राजपुरुष की शरण लेनी पड़ती थी। ऐसे अवसर पर राजा मंत्रियों के संयुक्त और वियुक्त मतों को एवं अपने स्वयं मत को राजपुरुष के समक्ष प्रस्तुत करता था। इस प्रकार विधान ने राजा को स्वेच्छाचारपूर्ण कार्य करने ॥ लिए उस पर निरान्वय प्रतिबन्ध लगा दिया था। इस दृष्टि से रामायण और महाभारत कालीन राजा की स्थिति इंग्लैंड के आधुनिक राजा के समान थी। इंग्लैंड के राजा को अपनी इच्छानुसार सामान संबंधी कार्यों में भागदरल करने का अधिकार नहीं है। उसके मंत्रि-मण्डल के निर्णय पर हस्ताक्षर करना और उसे कार्य रूप में परिणत करने का आदेश मात्र देना उसका कार्य है। इस स्थल पर रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की कार्य-कारिणी संघनराज्य अमेरिका की कार्य-कारिणी से निरान्वय भिन्न है। संघनराज्य अमेरिका की कार्य-कारिणी के प्रधान अधिकारी को मतदाताओं की एक समिति रखने का विधान में स्थान तो है परन्तु वह इन मतदाताओं की सम्मति ले या न ले इस सम्बन्ध में उसपर किसी प्रकार का बंधानिक प्रतिबन्ध नहीं है।

रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की कार्यकारिणी की एक और विशेषता यह थी कि इसका दैनिक-शासन-कार्य विभाग-प्रणाली के आधार पर व्यवस्थित था। शासन-विषयों के अनुसार राजा को विभिन्न विभाग नियत करने पड़ते थे और वह इन विभागों की मंत्रि-परिषद् के सदस्यों में वितरण कर देता था। मंत्रि-परिषद् के प्रत्येक सदस्य के अधीन कम से कम एक विभाग अवस्थ रहता था जिसका पूर्ण उत्तरदायित्व उसी सदस्य पर रहता था। मंत्रि-परिषद् के सदस्यों के अधीन नरुक्ष से सरकारी कर्मचारी रहा करते थे जो शासन के कार्य-संचालन में उसकी सहायता किया करते थे।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि रामायण और महाभारत कालीन राजतन्त्रात्मक राज्यों में जनतन्त्र-वाद के मुख्य तत्व काम करते थे। इसलिए ॥ राज्यों की कार्य-कारिणी को निरंकुश प्रथम स्वेच्छाचारी कार्यकारिणी कहना बड़ी ग़लत होगी।

रामायण तथा महाभारत कालीन विधि-निर्माण व्यवस्था:—

हिन्दू राजनीति और दूसरी जातियों के विद्वानों में सबसे बड़ा मतभेद इनकी धारासभाओं में था। इन राज्यों में विधि-निर्माण कार्य या तो राज्य के सर्वोच्च अधिकारी या उसके मंत्रियों भववा उसकी धारासभाओं के द्वारा होता है। परन्तु इस दृष्टि से रामायण और महाभारत कालीन राज्य इन राज्यों से निरन्तर भिन्न हैं। हिन्दू राजनीतिक विचारधारा के अनुसार विधि-निर्माण-कार्य सर्वसाधारण अथवा दो-एक व्यक्तियों को सौंप देना उचित नहीं है।

हिन्दू राज्यों में विधि-निर्माण-कार्य एक विशेष कार्य माना गया है, जिसमें राजा, उसके मंत्रियों या उसकी सभा के सदस्यों में जेष्ठ-माघ भी अधिकार नहीं है। विधि-निर्माण के मामलों का विशेष विवरण इस पुस्तक के पाँचवें अध्याय में दिया जा चुका है। रामायण और महाभारत के अनुसार विधि एक बड़ी कोमल वस्तु है। एक साधारण मनुष्य उसके दूरदूरी परिणामों को समझने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए विधि-निर्माण-कार्य सर्वसाधारण के अधिकार के बाहर होना चाहिए। विधि-निर्माण के लिए विशेष प्रकार की योग्यता एवं आचरण की आवश्यकता पड़ती है। मानव जीवन की समस्याएँ बड़ी जटिल होती हैं। इसलिए विधि-निर्माण का कार्य ऐसे लोगों को सौंपना चाहिए जो साधारण मनुष्य की श्रेणी से ऊपर उठ चुके हों और जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य लोक-कल्याण हो। इसी-लिए प्राचीन भारत में विधि-निर्माण का कार्य या तो ब्रह्म द्वारा किया हुआ माना जाता है अथवा यह कार्य उन ऋषि-मुनियों द्वारा सम्पादित किया गया था जो कि दीवराय वे, जिन पर सांसारिक विकारों का प्रभाव न था और जिनके मस्तिष्क स्पष्ट स्थिर और विकाररहित थे। इसीलिए हिन्दू-काल के विधि का अधिक भ्रंश ब्रह्म द्वारा स्वयं निर्माण किया गया था। वेद का अधिक भाग दीवराय ऋषि-मुनियों द्वारा सम्पादित हुआ था और दसवेस भाग में प्राचीन पंडितों, प्रार्थी और रुढ़ियों प्रशंसित रहें। धीरे-धीरे राज्य की कार्यकारिणी को उन्हें मान्यता देनी पड़ी। प्रकार यह विधि के रूप में परिणत हो गई। इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में विधि स्वतंत्र और स्वयं पूर्ण था।

रामायण और महाभारत कालीन विधि की यह स्वतंत्रता हिन्दू

राजनीति-शास्त्र में एक विशेष स्थान रखती है जो राजतन्त्रात्मक राज्य के अन्तर्गत जनतन्त्रात्मक राज्य का एक विशेष लक्षण है और जिसे दुनिया की किसी भी अन्य जाति के राजनीति-शास्त्र में पाना असम्भव है ।

रामायण और महाभारतकालीन न्याय-व्यवस्था:—रामायण और महाभारत-काल में विधि और विधान के स्पष्ट करने का सबसे बड़ा अधिकारी राजगुरु अथवा पुरोहित माना जाता था । इस क्षेत्र में राजगुरु अथवा पुरोहित द्वारा किये हुए स्पष्टीकरण सर्वमान्य समझे जाते थे । यद्यपि राजगुरु किसी भी न्याय-सभा में न्यायाधीश का वासन ग्रहण नहीं करता था परन्तु प्रत्येक ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर विधि वा विधान के स्पष्टीकरण में कुछ भी मतभेद होता तो इस सम्बन्ध में उसकी सम्मति ली जाती थी और उसके द्वारा दिया हुआ स्पष्टीकरण अंतिम निरुद्ध समझा जाता था । इस दृष्टि से राजगुरु रामायण और महाभारत कालीन राज्य में सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) के अन्वय भी पूर्ति करता था ।

राजगुरु के पश्चात् दूसरा सबसे बड़ा न्यायालय सभा थी । सभा के समस्त सदस्य न्यायकार्य में निपुण नहीं होते थे, इसलिए केवल वह सदस्य जो कि न्याय-कार्य करने की योग्यता रखते थे, न्याय-वितरण करने के लिए सभा में बैठा करते थे और उस समय वह सभा राज्य के न्यायालय के रूप में कार्य करती थी ।

इसके प्रतिष्ठित स्वामीय संस्थाएँ थीं जैसे—कुटुम्ब, नैगम, गण, श्रेणी, संघ आदि । न्याय-कार्य के लिए वह स्वामीय संस्थाएँ अपने-अलग न्यायालयों का संगठन करती थीं । इन न्यायालयों में न्याय-कार्य बड़ी कुशलता एवं सुगमतापूर्वक हुआ करता था । प्रत्येक ग्राम में एक ग्रामसभा होती थी, जिसमें ग्राम-बृद्ध अथवा ग्राम-महत्तर न्याय-कार्य करते थे ।

कार्यकारिणी का मुख्य अधिकारी अर्थात् राजा भी न्यायाधीश के रूप में कार्य करता था । पौज्यदारी के महत्वपूर्ण अभियोग निर्णायक उसके समक्ष प्रस्तुत किए जाते थे ।

इस प्रकार यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में न्याय-व्यवस्था का संगठन भसी प्रकार किया गया था । गाँव या कुटुम्ब के छोटे-छोटे न्यायालयों से लेकर बड़े से बड़े न्यायालयों का निर्माण किया गया था ।

इस विषय में दूसरी बात ग्यायासियों के ग्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में है। आधुनिक युग के कुछ राज्यों में ग्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यकारिणी के द्वारा होती है और दूसरे राज्यों में उनकी नियुक्ति के लिए निर्वाचन-प्रथा से काम लिया जाता है। ऐसा विदित होता है कि रामायण और महाभारत कालीन ग्यायाधीश अधिकतर दूसरी कोटि के थे। स्वामीय संस्थाओं के ग्यायासियों में ग्यायाधीश निर्वाचन द्वारा नियुक्त होते थे। ग्राम-पंचायतों में भी यही प्रथा प्रचलित थी। केन्द्रीय-सभा में भी प्रजा के प्रतिनिधि समावेद होते थे और इस नाते से सभा के ग्यायाधीश इसी कोटि में परिगणित किए जायेंगे। राजगुरु की नियुक्ति में भी कार्यकारिणी का विशेष अधिकार न था क्योंकि उसकी नियुक्ति ब्राह्मणवर्ग के प्रधानों की और यह अपना राजा सोम की मानता था।

इस प्रकार यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में ग्यायासियों का संगठन अनतंत्रवाद के सिद्धान्तों ■ अनुसार किया गया था और यह हिन्दू राजनीति-शास्त्र की एक विशेषता मानी जायगी।

प्रथक शक्तिकरणः—(separation of powers) हिन्दू राजनीति शास्त्र की एक और विशेषता यह थी कि राज्य का संगठन प्रथक शक्तिकरण (separation of powers) के सिद्धान्त पर किया गया था। प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारकों ने प्रथक शक्तिकरण के सिद्धान्त की महिमा एवं उसकी उपयोगिता को भलीभाँति समझ लिया था। उन्होंने अपने राज्य-संचालन में इस सिद्धान्त को इस भावना से प्रयुक्त था कि इस प्रणाली से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा भली-भाँति हो सकेगी। विदेश के विभिन्न राज्यों में इस सिद्धान्त के प्रवर्तित रूप के निवेचनात्मक अध्ययन से यह विदित होता है कि राज्य की विभिन्न शक्तियों का पूर्ण रूप से प्रथक करना बाह्य सम्भव हो परन्तु रचनात्मक कार्य करनेवालों ■ किए आदर्श मात्र ही सम्भव जायगा। संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वतंत्रतात्मक राज्य के संस्थापक प्रथक शक्तिकरण सिद्धान्त के प्रयत्न पोक में; परन्तु वह भी अपने राज्य की इन शक्तियों को पूर्ण रूप से प्रथक करने में सफल न हुए। इस सिद्धान्त की भाँसा को जीवित रखने के लिए उन्हें प्रतिग्रन्थ और संतुलन (checks and balances) के सिद्धान्त को प्रयुक्त करना पड़ा।

इसलिए रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में इस धोर कोष करना कि इन राज्यों में प्रथम सशक्तकरण सिद्धान्त का पूर्ण रूप से पालन किया गया होगा बड़ी भूल होगी। इन राज्यों के संस्थापकों ने भी अपने राज्य के संगठन और संतुलन के सिद्धान्त को रखकर प्रथम शक्तिकरण सिद्धान्त की धारणा को प्रीवित रखने का प्रयत्न किया था। परन्तु इस सम्बन्ध में यह कहना अत्यन्त धामप्यक है कि इन हिन्दू राज्यों में विधिनिर्माण विभाग में प्रथम शक्तिकरण के सिद्धान्त का अन्तर्गत पालन किया गया है और राज्य के इस क्षेत्र में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इन्होंने विधिनिर्माण को राज्य के अन्य विभागों से भिन्न रखने की निराली योजना रखी जिसके आधार पर राज्य की विधिनिर्माण शक्ति नितान्त प्रथम हो गई। जिसका सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि हिन्दू राज्य के प्रत्येक विभाग में विधि की प्रभावशाली स्थिति हो गई। राज्य ■ एक साधारण नागरिक से लेकर उच्चतम नागरिकों तक के अस्तित्व में विधि की प्रधानता की स्थायी स्थापना हुई थी और जिसने राज्य के सर्वोच्च अधिकारी को भी विधि के नियंत्रण में अकड़ दिया था। इस प्रकार लोगों की यह धारणा बन गई थी कि उनके ऊपर एक मनुष्य या कुछ वस्तुओं के दाय का शासन नहीं था। वह विधि द्वारा शासित थे और जो राज्य के प्रत्येक नागरिक के लिए समान रूप से लागू किए जाते थे। इस विधि के सामने ऊँच, नीच, धनी, निर्धनी आदि का भेद-भाव न था।

विधि-निर्माण के साधनों की विवेचना इसी पुस्तक के पंचम अध्याय में मन्त्रो मति की जा चुकी है। इसलिए उनका यहाँ पुनः वर्णन केवल समय का नष्ट करना होगा। इतना लिख देना पर्याप्त होगा कि रामायण और महाभारत कालीन विधि का निर्माण एवं उनका विकास स्वतंत्र रूप से हुआ था। विधि निर्माण एवं उसके विकास की दृष्टि में कार्यकारिणी एवं स्वायत्तता से उसका संचालन भी सम्भव न था। रामायण और महाभारत कालीन विधि का राज्य की कार्यकारिणी एवं स्वायत्तता से केवल इतना सम्भव था कि वह भी कमजोर विधि के लागू करने तथा स्पष्ट करने का कार्य करती थी। राज्य में एक विधि का भी निर्माण करना उनके अधिकार-क्षेत्र से सर्वथा बाहर था। राज्य के विधि ■ अधिक शक्ति की उत्पत्ति देवी थी। कुछ विधि नीतयन ऋषि-मुनियों द्वारा निर्माण किए गए थे और सबसे अधिक शक्ति का निर्माण

उस काल के लोगों में प्रचलित रीतियों, पद्धतियों, रुढ़ियों आदि के आधार पर हुआ था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रामायण एवं महाभारत-काल के हिन्दू राज्यों में विधि कार्यकारिणी एवं न्यायसत्ता से निराला प्रचलित था। उन्हें विभिन्नविध-कार्य में हस्तक्षेप करने का श्रेष्ठ-मात्र भी वैध अधिकार प्राप्त न था। विधान की धीरे से प्रदान की हुई विधि की इस स्वतंत्रता ने राज्य में प्रजा की स्वतंत्रता की रक्षा में बड़ी सहायता दी है और उसने प्रजा के अधिकारों को व्यर्थ के लिए हस्तक्षेप लेने से सम्बन्धित राज्य की भावना पर पूर्ण रूप से प्रतिबन्ध लगाया है।

इस सिद्धान्त के अनुसार कार्यकारिणी की जो स्थिति थी उसपर भी विचार कर लेना आवश्यक है। रामायण और महाभारत कालीन राजतन्त्रप्रणाली राज्यों की मुख्य कार्यकारिणी राजा या जिसकी नियुक्ति का प्रस्ताव कार्यकारिणी भर्षित शासक राजा के द्वारा जो कि अपने पक्ष से भ्रष्ट होनेवाला हुआ करता था, किया जाता था। माफी राजा की नियुक्त सम्बन्धी ऐसे प्रस्ताव की स्वीकृति प्रजा द्वारा भवता उनके प्रतिनिधियों द्वारा होनी अनिवार्य समझी जाती थी। इस प्रकार कुछ प्रतिबन्धों के साथ प्रजा को अपने राज्य की मुख्य कार्यकारिणी की नियुक्ति का अधिकार था। इस प्रकार रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों की कार्यकारिणी की नियुक्ति न तो राज्य की विधि शास्त्र और न न्यायशास्त्र के द्वारा होती थी। इसकी नियुक्ति प्रजा स्वयं भवता अपने प्रतिनिधियों के द्वारा करती थी। इस दृष्टि से रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों की कार्यकारिणी राज्य की विधिशाला और न्यायशास्त्र के अधिकार से मुक्त थी।

परन्तु यहाँ पर यह निश्च देना आवश्यक है ■ प्रजा प्रथम उनके प्रतिनिधि अपने राज्य की कार्यकारिणी की नियुक्ति की स्वीकृति प्रदान करने में पूर्ण स्वतंत्र न थे। उन्हें अपनी स्वीकृति देते समय उनके समस्त वैध प्रतिबन्धों को ध्यान में रखना पड़ता था। जिनके अनुसार उसकी नियुक्ति होनी अनिवार्य थी और जिन प्रतिबन्धों का निर्माण उनके द्वारा नहीं हुआ था। विधि-निर्माणकर्त्ताओं का यह एकमात्र अधिकार था कि वह इन प्रतिबन्धों का निर्माण करें। यह प्रतिबन्ध परम्परागत थे। कार्यकारिणी की नियुक्ति, उसके अधिकारों की सीमा एवं

कार्य-प्रणाली आदि विषय से सम्बन्धित नियम राज्य के विधियों के द्वारा नियत थे । कार्यकारिणी को इन्हीं नियमों द्वारा सीमित एवं परिमित क्षेत्र में कार्य करना पड़ता था । इस प्रणाली से कार्यकारिणी के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा की गई थी ।

इस दृष्टि से रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्य की कार्यकारिणी पर राज्य की विधिशास्त्र का बड़ा प्रभाव एवं नियंत्रण रहता था । परन्तु कार्यकारिणी को पदभ्यूत करना विधिशास्त्र के अधिकार-क्षेत्र बाहर था । उसके पदभ्यूत करने से सम्बन्धित प्रस्ताव को न्यायविभाग के सर्वोच्च अधिकारी अर्थात् राजगुरु के द्वारा सभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था । इस प्रस्ताव पर सभा विचार करती और अपना निर्णय देती थी । परन्तु सभा की विधिनिर्माण शास्त्र से सम्बन्ध न था । वह प्राधुनिक आरा-सभाओं से भिन्न होती थी । सभा में प्रजा के विभिन्न हितों वा वर्गों के प्रतिनिधि बैठते थे । दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि कार्यकारिणी के पदभ्यूत करने के प्रस्ताव पर प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा निर्णय दिया जाता था । इस नाते से रामायण और महाभारत कालीन कार्यकारिणी राज्य की विधि-शास्त्रा एवं न्यायशास्त्र से नितान्त स्वतंत्र थी । ऐसे प्रसंगों पर न्याय-विभाग का केवल इतना कर्तव्य होता है कि वह कार्यकारिणी के पदभ्यूत करने का प्रस्ताव सभा के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करे; परन्तु उसके पदभ्यूत करने वा न करने का पूर्ण अधिकार स्वयं प्रजा वा उसके प्रतिनिधियों को था ।

कार्यकारिणी का स्थिति सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन यह सिद्ध करता है कि कार्यकारिणी पर राज्य की विधिशास्त्रा एवं न्यायशास्त्र का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ता था परन्तु उसकी नियुक्ति एवं विमुक्ति का अधिकार उन्हें प्राप्त न था । यह अधिकार एकमात्र राज्य की प्रजा को प्राप्त था ।

राज्य की न्याय सम्बन्धिनीशास्त्रा का मुख्य कर्तव्य यह है कि वह उन विधियों को स्पष्ट करे जो कि राज्य की विधिनिर्माण करने-वाले व्यक्तियों वा संस्थाओं के द्वारा समय-समय पर निर्माण किए जाते हैं । रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों में न्यायशास्त्रा के संगठन, उसके अधिकारों एवं कार्यप्रणाली आदि से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्ति के हेतु इन दोनों ग्रंथों में प्रामाणिक सावरी का प्रायः प्रभाव सा है ।

परन्तु इस सम्बन्ध में जो कुछ धर्म प्रामाणिक सामग्री प्राप्त है उसके आधार पर इतना यथरथ कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में न्यायाधीशों की नियुक्ति, अधिकारों मात्र में स्वयं प्रजा के द्वारा प्रजा प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा तथा स्थानीय संस्थाओं के द्वारा की जाती थी। न्याय-कार्य का अधिकार स्थानीय संस्थाओं जैसे कुटुम्ब, ग्राम, सभा, नैषम, पौर, जालपद, गण, सभादि के द्वारा होता था जिनमें स्थानीय प्रजा के प्रतिनिधि उन्हीं के द्वारा नियुक्त किए हुए होते थे और न्याय वितरण करते थे।

स्थानीय संस्थाओं के ऊपर प्रांतीय एवं केन्द्रीय समार्य भी थीं। यह समार्य भी न्यायालय के रूप में काम करती थीं। परन्तु इनमें भी प्रजा के ही प्रतिनिधि समासुव होते थे और इस दृष्टि से यह समार्य भी अनन्तवात्मक होती थीं। इसके उपरान्त विभिन्न स्पष्टीकरण का सब से बड़ा अधिकारी राजगुरु या राजपुरोहित होता था। वह भी राज्य के विश्वसनीय का प्रतिनिधि होता था और वेध-अधिकार की दृष्टि से वह भी कार्यकारिणी के आधिकार्य से मुक्त होता था। इस दृष्टि से राज्य की न्यायशाखा राज्य की कार्यकारिणी एवं विधिसभा के आधिकार्य से सर्वथा मुक्त थी। परन्तु दूसरी ओर यह बात भी थी कि राज्य में न्याय-वितरण-कार्य का अधिकार्य कार्यकारिणी के सदस्यों द्वारा किया जाता था। राजा जो कार्यकारिणी का मुख्य अधिकारी होता था, राज्य में शोक-दारी के महत्वपूर्ण अभियोगों को सुनता और उन पर अपना निर्णय देता था। स्थानीय संस्थाओं के सदस्य भी न्याय-वितरण-सम्बन्धी कार्य करते थे। ग्राम-समार्यों के सदस्य भी इस कार्य का सम्पादन अपने क्षेत्र में करते थे। परन्तु इन स्थानीय संस्थाओं के सदस्य आसन-कार्य में भी भाग लेते थे। अपने क्षेत्र में स्वच्छता का सम्भाल करना, आने-जाने के मार्गों की व्यवस्था करना, शान्ति स्थापित करना आदि शासन-सम्बन्धी कार्य इन्हीं सदस्यों द्वारा सम्पादित होते थे। इस नाते से यह अपने क्षेत्र की स्थानीय सरकार की कार्यकारिणी के भी सदस्य होते थे। इस प्रकार इन स्थानीय संस्थाओं के ये सदस्य न्याय और कार्यकारिणी दो विभागों के अधिकारी होते थे। वह अपने-अपने क्षेत्र के न्यायालयों में अभियोगों के सुनने, उन पर निर्णय देने के लिए बैठते थे और दूसरे समय में कार्यकारिणी के सदस्य के रूप में शासन-कार्य में भाग लेते थे।

इस प्रकार यह विवक्षित होता है कि रामायण और महाभारत कालीन राजतन्त्रात्मक राज्यों में उनकी सरकार के मुख्य धर्मों (कार्यकारिणी विधि, एवं न्यायशास्त्र) का संगठन प्रथम शक्तिकरण सिद्धान्त के आधार पर हुआ था। परन्तु इस सिद्धान्त को रचनात्मक रूप देने में केवल विधि-शास्त्र को प्रयत्न करने में ही पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी। राज्य की साम्य-संस्थाओं में इस नियम का अक्षरतः पालन न हो सका। एक ही व्यक्ति-न्याय-सभा में बैठकर विधि-स्वीकृत्य कार्य और कार्यकारिणी के रूप में काम करता हुआ पाया जाता था। कार्यकारिणी और न्याय-विभाग के अधिकारियों के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना असम्भव है।

परन्तु सरकार की विधि-निर्माण शक्ति का अपनी सहचरी कार्य-कारिणी एवं न्याय-समितियों से पूर्णतया प्रथम हो जाना हिन्दू राजनीति की एक बड़ी विशेषता रही है। इस व्यवस्था के सफलतापूर्वक चलने से कार्यकारिणी और न्यायविभाग अनेक विकारों से मुक्त हो गए और विधि की प्रधानता स्थिर होने के लिए उन्होंने बड़ा अवसर दिया जिसका यह परिणाम हुआ है कि रामायण और महाभारत कालीन राजतन्त्रात्मक हिन्दू राज्यों के संगठन एवं संचालन में जनतन्त्रवाद के तत्त्वों ने अपना घर कर लिया और इन राजतन्त्रात्मक राज्यों की सरकारों ने आन्तरिक रूप से प्रजातन्त्रात्मक राज्य की सरकार का बोला पहल दिया।

विकेन्द्रीकरण (Decentralisation):—हिन्दू राजनीति शास्त्र का एक और विशेष लक्षण यह था कि इस शास्त्र में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि राज्य के समस्त शासनाधिकार केन्द्रीय-सरकार तक ही सीमित नहीं रहने चाहिए। जनता की स्थानीय आवश्यकताओं एवं सुविधा की दृष्टिकोण से रसकर उत्पन्न होने वाली समस्याओं का अन्व होता है। राज्य के शासनाधिकारी का यह धर्म जिसका सम्बन्ध स्थानीय विषयों से होता है इस समस्याओं को प्राप्त होना चाहिए। रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में जनता की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय संघठित जन-समुदायों एवं संस्थाओं द्वारा होती थी और जिनका निर्माण उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्राज्ञ ने स्वयं किया था। यह संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र में शासन-कार्य स्वतंत्र रूप से करती थीं। शासन के क्रियात्मक क्षेत्र में इन संस्थाओं पर केन्द्रीय सरकार का आधि-पत्य नहीं के बराबर था। इन संस्थाओं के अपने निजी विधि से जो जनता की स्थानीय प्रवृत्तियों, प्रवृत्तियों और रुढ़ियों के रूप में परम्परागत

पक्षों पर रहे थे । न्याय विवरण के लिए इनके अपने न्यायालय में जो पंचायतों एवं सभाओं के रूप में थे और जिनके न्यायाधीशों की नियुक्ति सन्हीं के द्वारा सन्हीं में से की जाती थी । उनके ही प्रतिनिधि सामान के भण्ड्य कार्य करते हुए कार्यकारिणी के अधिकारों को भोगते थे । यह स्थानीय संस्थाएँ माने क्षेत्र में शासन-कार्य इस हद तक एवं कुशलतापूर्वक करती थीं कि केन्द्रीय सरकार को इन पर अपना अधिकार बिलाने का कभी अवसर ही न मिलता था । यह स्थानीय संस्थाएँ इतनी लोक-प्रिय थीं कि सामान्य जनता को केन्द्रीय सरकार द्वारा किए जानेवाले कार्यों का बोध ही न होने पाता था । यह संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र की जनता द्वारा संगठित की जाती थीं । अतः जनता अपनी इन स्थानीय संस्थाओं से ऐसे जुक्त-मिलकर रहती थी जैसे कुटुम्ब के सदस्य अपने घर में संकोचरहित स्वतन्त्रतापूर्वक अपना जीवन भानन्दमय बिताते हैं । केन्द्रीय सरकार का इन संस्थाओं के प्रति केवल इतना कर्तव्य था कि वह हम की मान्यता स्वीकार कर लें । इस प्रकार केन्द्रीय सरकार की ओर से इन क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने के कोई अवसर न थे । केवल दो ऐसे अवसर होते थे जबकि केन्द्रीय सरकार इन संस्थाओं के द्वारा अपना कुछ अधिकार जनाने की चेष्टा करती थी । जब कभी देश पर बाह्य आक्रमण होनेवाला होता या यथा आन्तरिक आन्तरिक करनेवाला कोई विप्लव राज्य में छाड़ा होता, तो ऐसे अवसर पर केन्द्रीय सरकार इन स्थानीय संस्थाओं के द्वारा इन क्षेत्रों की प्रजा पर पूर्ण रूप से अपने आधिपत्य की चेष्टा करती थी ।

भिकेन्द्रीकरण के इस सिद्धान्त का यह कम हुआ कि हिन्दू राज्य में स्थानीय संस्थाएँ वास्तविक वास्तविक बन गईं और संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्रों के दीर्घ शासन-कार्य में केन्द्रीय शासन के आधिपत्य से निरन्तर स्वतन्त्र हो गईं । ऊपर मतलामा का चुका है कि इन क्षेत्रों में बसनेवाली जनता की सीतियाँ, पट्टियाँ और कड़ियाँ ही इनके लिए विधि थे । केन्द्रीय सरकार उन्हें प्रमाण मानकर मान्यता देती थी, फिर केन्द्रीय विधि का रूप धारण कर लेते थे । इस प्रकार इन स्थानीय संस्थाओं के विधि केन्द्रीय सरकार के विधि-निर्माण का मुख्य उद्गम स्थान थे । स्थानीय सभाओं एवं पंचायतों यादिके द्वारा दिए गए निर्णयों का केन्द्रीय सरकार सभीभरित बाबर एवं सरकार करती थी ।

इस प्रकार भिकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को अपनाकर महाभारत और

रामायण कालीन राजतन्त्रात्मक राज्यों ने जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों को यदि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से अपने संगठन, एवं शासन-प्रणाली में उचित स्थान दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि रामायण एवं महाभारत कालीन राजतन्त्रात्मक राज्य में जनतन्त्रात्मक सरकार के मुख्य तत्वों का समावेश हो गया जिन्होंने राजतन्त्रात्मक राज्य की रूप-रेखा ही बरत ली ।

रामायण और महाभारत कालीन राजतन्त्रात्मक राज्य—
रामायण और महाभारत के अन्तर्गत वर्णित राज्यों को मुख्य दो वर्गों में विभाषापूर्वक विभक्त किया जा सकता है । पहले वर्ग में वह समस्त राज्य परिणित होंगे जिनमें राजतन्त्रात्मक विधान की रचनात्मक रूप दिया गया था । दूसरे वर्ग में वह राज्य सम्मिलित थे जिनका संगठन मनुतन्त्रात्मक राज्यों के सिद्धान्तों पर हुआ था । यहाँ पर सबसे पहले इस घोर ध्यान दिया जायगा कि रामायण और महाभारत के अन्तर्गत जिन राजतन्त्रात्मक हिन्दू राज्यों का उल्लेख है उनका स्वयं किस प्रकार का था ?

इस बात का अभीष्टाति वर्णन किया जा चुका है कि रामायण और महाभारत कालीन राजा उस रूप में निरंकुश शासक न था जैसे कि मध्यकालीन यूरोप के निरंकुश सम्राट् यूरोप और भारत देश में हुए हैं । हिन्दू राजा के स्वेच्छाचारी बनने के मार्ग में बड़ी रुकावटें थीं । राज्य में ब्राह्मण, मंत्रिपरिवर्ग, स्थानीय संस्थाएँ, जनमत और विधि की प्रधानता ने राजा के स्वेच्छाचार पर पूर्णरूप से प्रतिबंध लगा रखे थे और इन प्रतिबन्धों ने राजा के अधिकार को सीमित एवं निर्दिष्ट कर दिया था । इसका फल यह हुआ कि रामायण और महाभारत कालीन राजतन्त्रात्मक राज्य सीमित अधिकारवाले अपने नाम के राज्य (Limited monarchy) में परिणत हो गये और जो जनतन्त्रवादी सिद्धान्तों से कोत-प्रोत ■ गया ।

इस प्रकार के हिन्दू राज्य की एक और विशेषता यह थी कि राज्य में कोई भी ऐसा न तो शासक-सैन्य ही व्यवस्थित रहा और न शासकवर्ग ही जिसे राज्य के विधियों द्वारा नियमित एवं निर्दिष्ट न कर दिया गया होता । इसलिए रामायण और महाभारत कालीन राजतन्त्रात्मक राज्य के शासन के प्रत्येक विभाग में विधि की प्रधानता स्पष्टरूप से स्थिर हो गई थी । इन राज्यों के संस्थापकों ने इन नियमों का निर्माण कर यह निर्धारित कर दिया था कि राजपद-वाप्ति

के हेतु कुछ विशेष नियमों का पालन करना होगा और यह भी निर्धारित कर दिया गया था कि राजा को शासन-कार्य-संचालन भी निर्धारित नियमों के अनुसार ही करना होगा। इसलिए राजा का उत्तरदायित्व इन्हीं नियमों पर था अथवा यों कहना चाहिए कि राजा का उत्तरदायित्व राज्य ■ शासन-विधान पर निहित हो गया।

राज्य के शासन-विधान में ही राजा के अधिकारों तथा राज्य के अधिकारियों एवं अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति, उनके अधिकारों तथा कर्तव्यों एवं कार्य करने की सीसी आदि का आयोजन प्रतीति कर दिया गया था। राज्य के प्रत्येक अधिकारी तथा कर्मचारी को अपने पद पर नियुक्त होने के लिए निर्धारित योग्यताओं को प्राप्त करना पड़ती थी और यह निर्धारित योग्यताएँ उक्त पद पाने के लिए अनिवार्य मानी जाती थीं। इसलिए राज्य में प्रत्येक प्रकार के अधिकारी या कर्मचारी की नियुक्ति या नियुक्ति-कार्य में राजा स्वतंत्र न था। शासन के प्रत्येक विभाग के संगठन, कार्य-संचालन एवं कार्य-प्रणाली इसी प्रकार ■ नियमों द्वारा निर्धारित कर ■ गई थी और इसके अनुसार राज्य के अधिकारों द्वारा उस पर पूर्ण नियंत्रण कर दिया गया था। इस प्रकार राज्य में कोई भी ऐसा शासन-क्षेत्र अस्ति न रह गया था जिस पर विधि-विधान का नियंत्रण न होता, जिस पर राजा अपने अधिकार के प्रयोग करने का प्रसर पाता।

इसलिए यह परिणाम निकलता है कि राज्य के प्रत्येक अधिकारी या कर्मचारी का उत्तरदायित्व राज्य ■ विधि-विधान पर था और इस विधि-विधान का निर्माण राज्य ■ किसी भी अधिकारी द्वारा न हुआ था। हिन्दू राजनीति-शास्त्र ग्रन्थों ने विधि या विधान के निर्माण का अधिकार राज्य के किसी भी अधिकारी या कर्मचारी को नहीं दिया था। विधि-विधान की इस प्रधानता और राज्य के प्रत्येक क्षेत्र के ■ अधिकारी तथा कर्मचारी के कर्तव्यों एवं अधिकारों की सीमा की दृढ़ स्थिरता ने हिन्दू राजतन्त्रात्मक राज्य को अपने नाम के वैधानिक राज्य में परिवर्तित कर दिया था, जहाँ प्रत्येक कार्य राज्य के विधान अथवा विधियों पर निर्भर था।

इसी पुस्तक के दूसरे अध्याय में राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन दिया जा चुका है। रामायण और महाभारत काल में अथवा राजपद वैतुक अधिकार पर अवलम्बित था, तथापि राजपद प्राप्ति

के लिए कुछ परम्परागत प्रतिबन्ध एवं नियम प्रचलित थे जिनके अनुसार राजा की नियुक्ति होती थी। यह प्रतिबन्ध या नियम इस प्रकार थे—वीरवंश में जन्म, अथेष्टता का अधिकार, सार्वभौमिक क्षमता, शास्त्र की एक निर्धारित भाषा, प्रजा की अनुमति, राज्याभिषेक एवं राजकीय शपथ, ऐसे नियम थे जिनका उल्लंघन राजपद देते समय नहीं किया जा सकता था। इन प्रतिबन्धों का पालन राजाओं द्वारा परम्परागत होता आया था। इसलिए यह प्रतिबन्ध उस काल के राज-संज्ञात्मक राज्यों के शासन-विधान के विशेष अंग बन गए थे। यद्यपि इस शासन-विधान का अधिक अंश प्रलिखित था क्योंकि यह परम्परागत प्रथाओं, पद्धतियों एवं कदियों प्रादि पर आश्रित था, तथापि यह शासन-विधान प्रजा की दृष्टि में सर्वमान्य बनका जाता था।

रामायण तथा महाभारत कालीन हिन्दू राजसंज्ञात्मक राज्यों में मंत्रिपरिषद् एवं सभाओं के सभासदों पर भी इसी प्रकार के नियम लागू थे। अपने-अपने पदों पर उनकी नियुक्ति कुछ निर्धारित नियमों एवं प्रतिबन्धों के आधार पर होती थी। उदाहरणार्थ मंत्रियों को अपने ही राज्य का नागरिक होना अनिवार्य था। उन्हें बहुभुत और विद्या एवं भाव दोनों में वृद्ध होना चाहिए था। उन्हें प्रजा का विश्वासपात्र होने की भी आवश्यकता थी। यह एवं इसी प्रकार के अन्य नियम भी जिनके अनुसार मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों या सभा के सभासदों की नियुक्ति की जाती थी या जिनके अनुसार उन्हें उनके पदों से विरुक्त किया जाता था शासन-विधान के अंग बन गए थे। यही विद्वान्त राज्य के अन्य अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर भी लागू होता था।

इसलिए यह निश्चित है कि रामायण एवं महाभारत कालीन राज-संज्ञात्मक हिन्दू राज्य अपने नाम के वैधानिक राज्य थे।

रामायण और महाभारतकालीन गणसंज्ञात्मक राज्यः—
रामायण और महाभारत कालीन गणसंज्ञात्मक राज्यों की रूपरेखा से परिचय प्राप्त करने के लिए हमें महाभारत में वर्णित इस सम्बन्ध की सामग्री पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। क्योंकि रामायण में तत्सम्बन्धी सामग्री का सर्वथा अभाव है। महाभारत में गणसंज्ञात्मक राज्यों का वर्णन मिलता है। महाभारतकार ने इन्हें गण नाम से सम्बोधित किया है। भारत का उत्तरीपश्चिमी भाग उस काल में इस प्रकार के राज्यों से परिपूर्ण था। परन्तु महाभारत में भी उनकी रूपरेखा एवं शासन-

प्रणाली के सम्बन्ध में कहीं भी स्पष्ट वर्णन नहीं मिलते । जहाँ-उहाँ इस और कुछ संकेत मात्र हैं जिनके आधार पर इन राज्यों के संगठन एवं कार्य-संचालन के सम्बन्ध में कुछ परिचय प्राप्त होता है । इस संकीर्ण एवं अकुचित संमिति का विवेचनात्मक अनुसंधान कर सने के बरबाद ऐसा विदित होता है कि यह गणराज्य अपने वास्तविक रूप में विद्यमान थे । महाभारत के शान्ति पर्व में नारद और कृष्ण का संवाद मत्स्यराज्यों के सम्बन्ध में दिया हुआ है जिसके अध्ययन कर सने के उपरान्त यह विदित होता है कि गणराज्यों में राजा नहीं होता था और यदि होता था तो वह उस रूप में न होता था जिस रूप में कि राजतन्त्रात्मक राज्यों में होता था । इस सम्वाद में इस प्रकार का वर्णन प्राप्त है कि अन्धक-वृष्णि मत्स्यराज्य के अध्यक्ष-पद की प्राप्ति के हेतु संघ अग्रसर हो रहा था । इस गणराज्य में कई राजनीतिक दल (Parties) थे । जिनमें प्रत्येक दल अपने नेता को राज्य का अध्यक्ष बनाने के लिए प्रयत्नशील था । इस प्रकार इस वर्णन के आधार पर यह विदित होता है कि इन मत्स्यराज्यों में अध्यक्ष पद वैयक्तिक अधिकार पर अवलम्बित न था । अध्यक्ष पद के लिए निर्वाचन होता था । जो राजनीतिक दल-बन्दी के आधार पर होता था ।

इसी राज्य में सुषर्मा नाम की सभा का भी उल्लेख है । यह सभा सार्वजनिक संस्था थी जिसमें जनतन्त्रात्मक राज्य के सिद्धान्तों के अनु-सार कार्य-संचालन होता था । सुमहादुरण के अवसर पर अंधक-वृष्णि राज्य के नागरिक जिसमें एकत्र होकर इस विषय पर वाद-विवाद करते हैं और फिर बहुमत द्वारा एक निर्णय पर पहुँचते हैं और जो निर्णय कार्य रूप में परिणत किया जाता है । इस सभा में समस्त विषय प्रस्ताव-रूप में लाए जाते थे जिस पर स्वतंत्र वाद-विवाद होता था । इस वाद-विवाद में इतनी स्वतंत्रता थी जाती थी कि कभी-कभी यह उग्र-रूप धारण कर लेता था । इसी प्रकार के वाद-विवाद के उपरान्त भी और कृष्ण ने नारद से संकेत किया था ।

उपरोक्त वर्णन से यह विदित होता है कि रामायण एवं महा-भारतकालीन गणराज्य अपने नाम के वास्तविक जनतन्त्रात्मक राज्य थे जिनमें प्राबुलिक जनतन्त्रवाद के सगमय समस्त तत्त्व विद्यमान थे ।

दशम अध्याय

रामायण एवं महाभारतकालीन हिन्दू राज्यों में जनतंत्रवाद के तत्त्वों का स्वरूप

रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में जनतंत्रवाद ■ तत्त्वों ■ विवेचनात्मक अध्ययन ■ लिए उनके विशेष लक्षणों ■ अनुसार उनकी वर्गीकरण करना आवश्यक है। इस दृष्टि से जनतंत्रवाद के इन तत्त्वों का विभाजन चार मुख्य वर्गों में सुविधापूर्वक किया जा सकता है। इस भाँति इन तत्त्वों को वैध, वैधानिक, संस्था और शासन सम्बन्धी इन चार तत्त्वों के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है।

जनतंत्रवाद के वैध तत्त्व

(क) सार्वभौमिक राजसत्ता—जनतंत्रात्मक राज्य का सबसे प्रधान लक्षण यह है कि उस राज्य की राजसत्ता उसी राज्य की प्रजा में निहित हो। राजतंत्रात्मक राज्य का यह प्रधान तत्व रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में भी पाया जाता था।

रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक हिन्दू राज्यों की सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना राजा के राज्याभिषेक का संस्कार था। उस युग में भावी राजा को इस संस्कार ■ समस्त कृत्यों को जनता के समक्ष निमनानुसार करना पड़ता था। जब तक वह इस संस्कार को कर न लेता तब तक वह जनता की दृष्टि में सामारण नागरिक ही बना रहता था। राजा को इस संस्कार के कृत्यों को राज्य की समस्त प्रजा

वा उसके विभिन्न वर्गों एवं हितों के प्रतिविधियों के समस्त करना पड़ता था। इस संस्कार का प्रत्येक कृत्य अवतंत्रवाद के सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता था। इसी अवसर पर प्रजा राजसत्ता को उसे हस्तान्तरित करती थी। इसके अन्तर्गत में राजा जिस प्रजा से राजसत्ता प्राप्त करता था उसके प्रति राजबन्धन रखने की शपथ लेता था और तब वह उस राज्य का वैध राजा माना जाता था। प्रजा की दृष्टि में इस कृत्य के पूर्व वह उसका राजा न था, अपितु एक साधारण नागरिक था। इस समारोह का प्रावधान इस उद्देश्य से किया जाता था कि सर्व साधारण प्रजा अपने मूलन राजा का साक्षात्कार करने का अवसर पा सकती। इस प्रकार भावी राजा को महत्वपूर्ण प्रतिबन्धों से अलग कर प्रजा वा उसके विभिन्न वर्गों एवं हितों के प्रतिविधियों के द्वारा उसे राजसत्ता हस्तान्तरित की जाती थी। इस अवसर पर समस्त जन समूह के सामने भावी राजा को घोषणा के द्वारा इस बात की चेतावनी दे दी जाती थी कि प्रजा अपनी राजसत्ता सार्वजनिक कल्याण के निमित्त उसे हस्तान्तरित कर रही है। इस प्रकार प्राप्त की गई राजसत्ता का उपयोग करने का वैध रूप से राजा तभी तक अधिकारी था जब तक कि वह उन प्रतिबन्धों को भली भाँति मान्य करता रहता, जो राजसत्ता के हस्तान्तरित करते समय उस पर लागू किए गए थे। इस घटना से यह स्पष्ट होता है कि रामायण और महाभारतकालीन राजवंशान्तिक हिन्दू राज्यों में राजसत्ता प्रजा में निहित मानी जाती थी। प्रजा राजसत्ता को राम के निमित्त इस प्रतिबन्ध के साथ हस्तान्तरित करती थी कि वह उसका उचित प्रयोग करेगा और यदि वह अपनी मूर्खतावश उसका अनुचित प्रयोग करने की चेष्टा करता हुआ पाया जायगा तो वह राजसत्ता उससे तुरन्त वापस कर ली जाएगी। यदि राजा राजसत्ता को वापस करने में सौमार्थ्य भी संकोच करता हुआ पाया जायगा तो उससे वह राजसत्ता अनपूर्वक अपरहण कर ली जाएगी। इस प्रकार राजसत्ता होने वह राजा पुनः अपनी पूर्व स्थिति, साधारण नागरिक की स्थिति, को प्राप्त हो जाएगा।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में राजसत्ता प्रजा में स्थित थी। प्रजा अपने राज्य के एक नागरिक को राजसत्ता हस्तान्तरित करती थी। वह नागरिक इस राजसत्ता को पाकर उनका राजा बन जाता था। राजकीय शपथ अद्वैत रखण करना भावी

राजा के लिए अनिवार्य कृत्य था और जिसके द्वारा वह प्रजामन्त्र रहने का वचनबद्ध हो जाता था इस सिद्धान्त की भली-भाँति पुष्टि कर देती है कि रामायण और महाभारत कालीन राजतन्त्रात्मक हिन्दू राज्यों में राजसत्ता उसी राज्य की प्रजा में निहित होती थी ।

(ख) राजकीय शपथ का जनतन्त्रात्मक स्वरूप—आधुनिक युग के लगभग प्रत्येक सभ्य राज्य में उसके प्रधान अधिकारी को अपना पद ग्रहण करते समय एक निर्धारित शपथ ग्रहण करनी पड़ती है और उसे यह शपथ लोगों के समक्ष लेनी पड़ती है । परन्तु इस शपथ की सम्भावनी भिन्न होती है ; क्योंकि प्रत्येक राज्य में राजकीय शपथ के प्रस्ताव का स्वरूप निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखना अनिवार्य है कि उस राज्य का संगठन किन भाषारों पर किया गया है । यदि राज्य का संगठन राजतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर हुआ है तो ऐसे राज्य की राजकीय शपथ के प्रस्ताव का निर्माण उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर होना और यदि राज्य का संगठन जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है तो उस राज्य की राजकीय शपथ के प्रस्ताव में भी उन्हीं सिद्धान्तों का समावेश किया जाएगा । इस प्रकार किसी राज्य के स्वरूप को समझने के लिए उस राज्य के सर्वोच्च अधिकारी के निमित्त शपथ का जो प्रस्ताव होता है उसका विश्लेषण करने से बड़ी सहायता मिलती है ।

जब हम इस दृष्टिकोण ■ रामायण एवं महाभारत कालीन-हिन्दू राज्यों की प्रारम्भ को पहचानने का प्रयास करते हैं तो हमें ऐसा चिन्तित होता है कि यह राजतन्त्रात्मक राज्य वास्तव में जनतन्त्रात्मक राज्य के स्तरों से भोत-भोत थे । राजकीय शपथ का प्रस्ताव (text) जोकि इन राज्यों में प्रचलित था और जिसका मन, बचन और कर्म से स्वीकार करना नागरिक को राजपद का अधिकारी बनाना जनतन्त्रात्मक था । इस शपथ के ग्रहण करते समय राजा को प्रजामन्त्र रहने के लिए वचनबद्ध होना पड़ता था और उसे समस्त उपस्थित जनसमुदाय के समक्ष इस बात की घोषणा करनी पड़ती थी ■ वह प्रजाद्रोह कदापि न करेगा । राजकीय शपथ सम्बन्धी यह कृत्य निस्संदेह जनतन्त्र का द्योतक है । इस शपथ का प्रस्ताव साहस्रगुण ग्रंथों में इस युग में भी ज्यों का त्यों प्राप्त है जिसका अनुवाद इस प्रकार है—जिस राजा में मैंने जन्म लिया है और जिस राजा में मैं मृत्यु को प्राप्त होऊँ इस मध्य में

मैंने जो पुण्य कमाए हों वह, मेरी शक्ति, मेरा जीवन और मेरा सर्वस्व नष्ट हो जाए यदि मैं तेरा (प्रजा का) दोहू कर्त्तूँ। इस प्रकार इस समयपर परभाषी राजा अपने समस्त पुण्यकर्म, अपनी शक्ति, अपना जीवन और यहाँ तक कि अपना सर्वस्व दान पर रक्ता हुआ भाषी राजा प्रजामणित की शपथ ग्रहण करता था। इसलिये उसके लिए प्रजादोहू सर्वथा मजिब था।

महामारत में भी राजकीय शपथ का प्रचलन इन्हीं विचारों से परिपूर्ण दूसरे शब्दों में दिया हुआ नीतिमय रूप में प्राम्थ है। उसका हिन्दी अनुबाव इस प्रकार है—मैं मन, कर्म, और बाणी (मनसा, भर्माणा, गिरा) से यह प्रतिज्ञा करता हूँ ■ मैं जगत की ब्रह्म का स्वकय मानकर उसकी सर्वथा रक्षा करता रहूँगा तथा जो दण्डनीति ■ अनुकूल निरप्य दमै (निःशोक्तो दण्डनीति व्याप्राभयः) महर्षियों ने कहा है मैं उसका सर्वदा निःशंक होकर पालन करूँगा (तमसःकृत् करिष्यामि) और कभी स्वेच्छा-चारी न होऊँगा (स्वयमो न कदाचन)। इस शपथ के अनुसार राजा की जगत ■ ब्रह्म का स्वकय मानकर उसकी रक्षा करने, दण्डनीति के अनुकूल महर्षियों द्वारा प्रतिपादित निरप्यदम के पालन करने और कभी भी स्वेच्छाचारी न बनने की प्रतिज्ञा मन, कर्म और बाणी से करनी पड़ती थी।

इसलिये रामायण और महामारत कालीन राजसंभारमय हिन्दुराज्यों में प्रजातन्त्रवाद का दूसरा बीध तब इन राज्यों में प्रचलित राजकीय शपथ का प्रस्ताव (text) था।

(ग) प्रथम शक्तिकरण (separation of powers)—राजनीति शास्त्र के जगमग समस्त पंडित इस सिद्धान्त पर दो मत नहीं रखते ■ राज्य की सरकार को उसकी मुख्य शक्तियों ■ प्रथम रखने के आधार पर संगठित कर देने से उस राज्य के नागरिकों की अविश्वस्त स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। यही सिद्धान्त जनतन्त्रात्मक राज्यों का एक महत्त्वपूर्ण अङ्गण माना जाता है। इसी प्रकार यह सिद्धान्त जनतन्त्रवाद का एक विशेष तत्त्व समझा जाता है।

इस पुस्तक के पिछले अध्याय में इस विषय पर विशेष बर्णन दिया जा चुका है कि रामायण एवं महामारत कालीन राज्यों की सरकार का संगठन इस सिद्धान्त के आधार पर किया गया था। इन राज्यों की सरकार ■ मुख्य भागों की संस्थाओं एवं उनके अधिकारी गणों तथा

कर्मचारियों की प्रत्येक व्यवस्था करके इन विभिन्न अंगों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखाएँ खींचकर इन अंगों को एक दूसरे से प्रत्येक रखने का पूर्ण उद्योग किया गया था। इन अंगों के संगठन एवं कार्य-संचालन में यह व्यवस्था देने का भरसक प्रयत्न किया गया था कि सरकार का एक अंग दूसरे अंग पर अनुचित भाविपरम न बसा सके। इन राज्यों में विधि-निर्माण हेतु, उनके स्पष्ट करने और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए प्रत्येक-प्रत्येक संस्थाएँ थीं। सरकार के एक अंग ■ भन्तगत्त कार्य-संचालन ■ हेतु अधिकारियों एवं कर्मचारियों के लिए विशेष प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता पड़ती थी। सरकार के कर्मचारियों-विभाग में पद-पामे के लिए तत्सम्बन्धी विशेष योग्यताओं की, पद ग्रहण करने के पूर्व, प्राप्त करना अनिवार्य समझा जाता था और सरकार के अन्य विभागों में सेवा करने के अधिकारी बनने के लिए भी इसी नियम का अनिवार्य-रूप से पालन करना पड़ता था।

इसी प्रकार इन राज्यों की सरकार के एक विभाग से सम्बन्धित संस्थाओं एवं उनसे सम्बन्धित पदों का संगठन भी सरकार के दूसरे विभाग से सम्बन्धित संस्थाओं एवं उनसे सम्बन्धित पदों के संगठन से प्रत्येक ही रखने का प्रयास किया गया था। न्याय-विभाग का संगठन प्रत्येक किया गया था। इन राज्यों में एक और यह देखने में आता है कि ग्राम की छोटी-से-छोटी न्याय-सभा से लेकर राज्य के उच्चतम न्यायालयों तक एक मूलसा बनी हुई थी जो न्यायविभाग के अन्तर्गत स्वरूपापूर्वक लगी हुई थी और दूसरी ओर ऐसी संस्थाओं की एक श्रेणीबद्ध पंक्ति दृष्टिगोचर होती है जिसका कार्यकारिणी से ही सम्बन्ध था। ग्राम के छोटे-से-छोटे अधिकारी से लेकर राज्य की कार्यकारिणी के उच्चतम अधिकारी अर्थात् राजा तक अनेकों अधिकारी-गण तथा कर्मचारी एवं उनसे सम्बन्धित संस्थाएँ थीं, जो कार्यकारिणी के अन्तर्गत स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य-संचालन में संलग्न थीं। इसमें संदेह नहीं कि राज्य में न्याय-विभाग और कार्यकारिणी-विभाग के कुछ ऐसे अधिकारीगण भी थे जो न्याय और कार्यकारिणी दोनों विभागों के कुछ कार्य करते थे परन्तु वह मानना ही पड़ेगा कि इन विभागों में प्रत्येक व्यक्तिकरण सिद्धान्त के पालन करने का भरसक प्रयत्न किया गया था। राज्य का विधि-निर्माण-विभाग तो राज्य ■ अन्य विभागों से विलम्ब प्रत्येक था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में उनकी सरकारों का संगठन प्रथम स्थापितकरण ■ सिद्धान्त के आधार पर किया गया था । इन राज्यों का यह सिद्धान्त जनतन्त्रवाद का एक महत्वपूर्ण वैयक्तिक माना जाता है ।

(घ) सर्वोच्च न्याय-सत्ता:—जनतन्त्रवादी राज्य में शासन-विभाग की स्थापना करने एवं सरकार की विभिन्न शाखाओं के क्षेत्र को निर्धारित करने और राज्य के नागरिक और नागरिकता ■ बीच में उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक सर्वोच्च न्याय-सत्ता की स्थापना करने की परम्परा व्यवस्था पड़ती है । प्राकृतिक युग ■ लगभग प्रत्येक जनतन्त्रवादी राज्य के शासन-विभाग में ■ इस प्रकार की सत्ता के निर्माण का प्रादोषण कर दिया जाता है ।

रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों के शासन-विभाग में भी इसी प्रकार की सर्वोच्च न्याय-सत्ता के निर्माण करने का प्रादोषण था । राजगुरु यमबा दुरीहित के रूप में इस सत्ता का निर्माण किया गया था । हिन्दू राजा यम बाबा से राज्य की कार्यकारिणी का सर्वोच्च अधिकारी था । राजगुरु राजा के अधिकारी न था । राजगुरु विधि के क्षेत्र में सर्वोच्च अधिकारी माना जाता था । विधि-विभाग का न्याय-विभाग की सर्वोच्च सत्ता हिन्दू राजा में निहित न थी । राजगुरु विधि का साक्षात् रूप समझा जाता था और विधि के स्थापित करने के लिए सर्वोच्च सत्ता उसी में निहित मानी जाती थी । स्वाम के क्षेत्र में उसके द्वारा दिया गया निर्णय अन्तिम निर्णय माना जाता था । राज्य में किसी दूसरी सत्ता को इस क्षेत्र में उसके द्वारा दिए गए निर्णय की उलट देने का अधिकार न था ।

राजगुरु सोम ■ अधिकारी माना जाता था । इससे वह उसकी अन्तर्-भूत सोम में थी । राजा ■ राज्याभिषेक के अवसर पर राजगुरु की स्थापना की घोषणा अवसर के समकालीन होती थी । राजगुरु स्वयं राजा की उपस्थिति में यह घोषणा करता था—इस प्रकार प्रतिष्ठित किया गया राजा हम आकाशियों का राजा नहीं है; हमारा राजा सोम है (सोमोऽस्त्यर्कनाह्वयानाम् राजा) इस प्रकार विधि एवं विधान ■ स्थापितकरण सम्बन्धी सर्वोच्च सत्ता राजगुरु में निहित मानी जाती थी ।

इसलिए रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में प्राकृतिक जनतन्त्रवादी राज्यों की भाँति सर्वोच्च न्यायालय (supreme

(CO-ORD) के रूप में राजबंश की स्थापना कर जनतन्त्रवाद के सर्वोच्च न्यायसत्ता के बंधन तत्त्व का समावेश किया गया था ।

(क) विधि की प्रधानता:—प्रत्येक राज्य में प्रजा के अधिकारों एवं स्वतंत्रता की रक्षा के निमित्त यह अनिवार्य समझ जाता है कि शासक और शासित दोनों वर्गों के कर्तव्यों और अधिकारों के क्षेत्र को विधियों के द्वारा स्पष्ट कर उनके मध्य भाग में एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींच देनी चाहिए, जिससे एक नागरिक दूसरे नागरिक के अधिकारों का अपहरण न कर सके । इस सिद्धान्त ■ दृष्टिकोण में रखकर प्रत्येक प्रजातन्त्रात्मक राज्य में विधि-निर्माण-कार्य किया जाता है । ऐसे राज्यों में शासक और शासितवर्ग स्वच्छाकारी नहीं होने पाते । दोनों को राज्य के विधियों के अनुसार अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र की सीमा निर्धारित करनी पड़ती है । जिन राज्यों में शासित और शासक-वर्ग दोनों के द्वारा इस सिद्धान्त का पालन होता है उनमें अधिक से अधिक मात्रा में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा होती है ।

इसलिए प्रत्येक राज्य में मानव जाति ■ अधिकारों और स्वतंत्रता की सबसे अधिक रक्षा का सामन विधि की प्रधानता है और इस प्रकार यह मानव जीवन में जनतन्त्रवाद का वास्तविक बंधन तत्त्व होता है ।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन विधियों का निर्माण निष्पक्ष एवं स्थिर बुद्धिवाले नीतराम व्यक्तियों के द्वारा सम्पादित होना चाहिए; जिनके जीवन का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण करना होता है । विधि-निर्माणकर्त्ताओं की न्याय-विभाग और कार्यकारिणी-विभाग के सिकारों से संवर्ण प्रकृता रहना चाहिए । उन्हें लोभ मोहादि विकारों के प्रभाव से दूर रहना चाहिए । विधि-निर्माण करते समय उनके मस्तिष्क स्पष्ट, पवित्र और स्थिर होने चाहिए ।

इस पुस्तक में इस बात का उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि प्राचीन भारत में विधि-निर्माण-कार्य नितान्त पुरुष और स्मृत्यन्त था । विधि-निर्माण-कार्य पर कार्यकारिणी व्यवस्था न्याय-विभाग का संचालन की प्रभाव न था और न इनमें से किसी एक का यह कर्तव्य प्रमत्त अधिकार ही था कि वह विधि-निर्माण-कार्य में हस्तक्षेप करता । रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों के विधि का अधिक प्रोच

बहुधा ने स्वयं उत्पन्न किया था। इसलिए विधियों का यह संग्रह स्व-
व्यवस्थाओं के दोषों से सर्वथा मुक्त था और वैधरूप से इस विषय में स्वयं
पूर्ण था। विधि के अन्वयेय संसद के कुछ भाग का निर्माण ऐसे व्यक्ति-
मुनियों द्वारा हुआ था जो नीतिराग थे। उनके जीवन का एकमात्र
लक्ष्य मानवसमाज को उस पवित्र पथ का प्रदर्शन करना था जिस पर
असंकर उन्हें विश्र्वतः सुख और धार्मिकता की प्राप्ति हो सकती थी।
विधि के सब से अधिक भाग का निर्माण राज्य के विभिन्न वर्गों की जनता
में प्रचलित प्रथाओं, पद्धतियों एवं कथियों के आधार पर स्वभावतः
हुआ था। मानवसमाज ■ विकास के साथ-साथ उदय भी विकास
हुआ था। इसलिए रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू विधि
स्वभावतः पवित्र, दोषरहित, और जनश्रुति के विकारों से सर्वथा मुक्त
था। इस विधि का निर्माण इस उद्देश्य से किया गया था कि इनके
द्वारा मनुष्य अपने जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति
कर सके।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी कि यह विधि पूर्ण था। मानव
जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र के नियंत्रण ■ विधि यह विधि प्रभावित
था। इस विधि के अन्तर्गत व्यक्तिगत अधिकारों और कर्तव्यों के वर्णन
■ साथ-साथ नागरिक और शासित के अधिकारों और कर्तव्यों का भी
भीति निरूपण किया गया था। इसलिए राज्य का कर्तव्य केवल इतना
रह गया था कि वह इन विधियों को स्पष्ट करे और उन्हें वास्तविक
रूप में कार्यान्वित करे। इसीलिए रामायण और महाभारत कालीन
राजा को विधि ■ नियंत्रण में कर दिया गया था और राज्य में उसका
स्वयं विधि से निम्न कर दिया गया था। ऐसी स्थिति में राजा ■
कर्तव्य केवल इतना था कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे उसके राज्य
की राजा राज्य ■ विधि के अनुकूल चलकर मोक्ष प्राप्त कर सके। यदि
कोई व्यक्ति इस कार्य में बाधक सिद्ध होता तो राजा का यह कर्तव्य
था कि वह उसे दण्डित करता। यदि राज्य के विधि पालन करने के
मार्ग में प्रजा के समक्ष कोई कठिनाई आजाती तो उसे दूर करना
राजा का कर्तव्य था।

रामायण और महाभारत कालीन राज्य में विधि की यह प्रमाणता
मनुष्य के प्रत्येक कार्यक्षेत्र में पथ-प्रदर्शन एवं धार्मिकता निर्णय देने का
कार्य करती थी। इसका परिणाम यह हुआ था कि इन राज्यों की

प्रजा सर्वैव यह अनुमति करती रही कि उसके ऊपर विधि का शासन है, किसी व्यक्ति विरोध का नहीं। इस युग के राजस-राज्यों में भी विधि की प्रधानता को मान्यता दी जाती थी। संका राज में प्रवेश कर हनुमान ने घोर उत्पत्ति लिए थे। राजा की प्यारी बेटिका को उन्होंने जलाड़ दिया, अनेक राज्यों का वध किया, यहाँ तक कि राजा के पुत्र को भी उन्होंने मृत्यु के घाट उतार दिया, जिसके कारण राजा रावण हनुमान पर अत्यन्त क्रुपित था। यह सब होते हुए भी राजा को विधि की प्रधानता को मान्यता देनी पड़ी और हनुमान पर क्रुत सम्मन्धो विधि लागू किया गया था।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्य में विधि की प्रधानता में प्रजातन्त्रवाद का एक महान् वैध तत्व विद्यमान था।

जनतन्त्रवाद के वैधानिक तत्त्व—प्रभी तक हमने जनतन्त्रवाद के उन तत्त्वों की विवेचना की है जिनका सम्बन्ध रामायण और महाभारत कालीन राज्य के विधि से था। अब हमें उनके वैधानिक स्वरूप का विवेचन करना है। इस विषय की विवेचना करने के पूर्व यह बात अभीर्भाति समझ लेनी चाहिये कि रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्य का विधान प्राचीन पद्धतियों, प्रथाओं और कृषियों आदि पर निर्भर था। इस नाते से यह शासन-विधान असिद्धित शासन-विधान की कोटि में परिगणित किया जायगा।

(क) निर्धारित योग्यताओं तथा प्रतिबन्धों के आधार पर राज्य के प्रत्येक अधिकारी तथा कर्मचारी की नियुक्ति एवं विमुक्ति—रामायण और महाभारतकालीन हिन्दू राज्यों के प्रत्येक महत्वपूर्ण पद पर नियुक्ति के लिए निर्धारित योग्यताओं एवं प्रतिबन्धों के नियम का पालन करना अनिवार्य था। इस नियम का उल्लंघन करना ही राज्य के अधिकारी या कर्मचारी को उसके पद से विमुक्ति का पात्र बना देता था।

रामायण और महाभारत कालीन राजतन्त्रात्मक राज्यों में सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी राजा समझा जाता था। राजा की नियुक्ति के लिए जिन योग्यताओं एवं प्रतिबन्धों की आवश्यकता थी उनका आधो-अन्त मंत्रिपरिषद् की सदस्यता प्राप्त करने के लिए भी कुछ विशेष योग्यताओं और प्रतिबन्धों को निर्धारित कर राज्य के शासन-विधान का एक अंग बना दिया गया था। उदाहरणार्थ मंत्रिपरिषद् के लिए गुह

एवं पवित्र बंध में जन्म, उष्ण कोटि का भाषारण, शासन सम्बन्धी वृद्धि अनुभव, उसी राज्य का ही नागरिक होना, प्रजा का इसमें विश्वास होना आदि ऐसी अनिवार्य योग्यताएँ थीं जिनकी ऐसे अवसर पर उपेक्षा नहीं की जा सकती थी ।

इसी प्रकार सभा की सदस्यता एवं राज्य के विभिन्न पदों की प्राप्ति के लिए भी पूर्व-निर्धारित कतिपय प्रतिबन्धों एवं योग्यताओं की निरन्तर आवश्यकता थी ।

राज्य के प्रत्येक अधिकारी एवं कर्मचारी को इसके पद से विमुक्त करने के लिए कुछ विशेष प्रतिबन्धों का आशय केन्द्र प्रवृत्त या और इन प्रतिबन्धों की भी शक्ति ■ सासन-विभाग में उचित स्थान प्राप्त था ।

रामायण और महाभारत दोनों में इस बात के प्रमाण हैं ■ उस युग में इन नियमों का कठोरतापूर्वक पालन होता था । राज्य के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को विमुक्त या विद्युक्त करनेवाली शक्ति पर सासन-विभाग की ओर से ■ प्रकार के प्रतिबन्धों का होना जन-तंत्रवाद का एक महत्वपूर्ण लक्षण है और यह लक्षण जनतंत्रवाद के वैधानिक तारों में से एक महत्वपूर्ण तत्व समझा जायगा ।

(ख) रामायण और महाभारत कालीन राजा की नियुक्ति में प्रजा की अनुमति—रामायण और महाभारत कालीन हिंदू राज्यों में राजा की नियुक्ति कतिपय निर्धारित योग्यताओं एवं प्रतिबन्धों के आधार पर होती थी और इन योग्यताओं और प्रतिबन्धों का आशोधन राज्य के सासन-विभाग में ही रहता था । परन्तु सासन-विभाग की ओर से राज्य की प्रजा को यह अधिकार प्राप्त था कि वह माफी राजा के नियुक्ति सम्बन्धी प्रस्ताव पर अपना निर्णय दे । राज्य की प्रजा की स्वीकृति लिए बिना राज्यपद पर किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति यहाँ की जा सकती थी । रामायण और महाभारत कालीन राजाओं की नियुक्ति के प्रसंग पर इसी प्रणाली को अपनाया जाता था ।

उस युग में यह नियम स्थिर हो चुका था कि माफी राजा की नियुक्ति का प्रस्ताव राज्य के उसी राजा के द्वारा जो कि अपना पद त्यागने जा रहा है प्रस्तुत किया जाता था और यह राजा अधिकतर राजघराने के किसी ऐसे राजकुमार का नाम राज्यपद ■ लिए प्रस्तुत करता था जिसने वह समस्त योग्यताएँ पूरी कीं और वह उन समस्त प्रति-

कर्मों का पालन करने को प्रस्तुत होता जिनका आयोजन शासन-विधान में था। इसके उपरान्त वह प्रस्ताव राज्य की प्रजा समक्ष उसके प्रतिनिधियों के समक्ष अनुमति के हेतु प्रस्तुत किया जाता था। यदि प्रजा अपना उसके प्रतिनिधियों ने उस प्रस्ताव के पक्ष में अपनी अनुमति दे दी, तो वह व्यक्ति जिसके लिए राजपद देने के हेतु प्रस्ताव किया गया था, उस राज्य के राजपद पर भास्कर हो जाता था। परन्तु यदि प्रजा या उसके प्रतिनिधियों ने उक्त प्रस्ताव के पक्ष में अपनी अनुमति न देकर उसे अस्वीकार कर दिया तो उस प्रस्ताव को अस्वीकृत मान कर दूसरे व्यक्ति को राजपद के लिए खोजना अनिवार्य था। राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी व्यवस्था पर इसी प्रणाली को अपनाया गया था। राजा दशरथ ने अपने मंत्रियों की सम्मति से इस बात का प्रस्ताव अपनी प्रजा के विभिन्न वर्गों एवं हितों के प्रतिनिधियों के समक्ष रखा था कि उसके ज्येष्ठ पुत्र राम को सुवराज-पद दिया जाय। प्रजा के इन प्रतिनिधियों ने राजा के इस प्रस्ताव ■ पक्ष में अपनी अनुमति दे दी थी। इसके उपरान्त राजा को भादेशानुसार इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने का आयोजन किया गया था। राजा प्रतीप ने अपने ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र देवापि को राजपद देने का प्रस्ताव किया था, परन्तु जिस समय प्रजा के प्रतिनिधियों की स्वीकृति के हेतु उनके समक्ष प्रस्तुत किया गया उन्होंने इस प्रस्ताव के पक्ष में अपनी अनुमति न दी, अतः देवापि राजा न बन सका। यथापि प्रजा के इस निर्णय से राजा प्रतीप को बड़ी वेदना हुई थी परन्तु यह उसके अधिकार से बाहर था। इसी प्रकार राजा यवापि के पुत्र पुष को राजपद देने के लिए राजा यवापि ने प्रजा के समक्ष उसकी स्वीकृति के ■ प्रस्ताव रखा, परन्तु प्रजा ने उसका विरोध किया। लुकाचार्य के हेतुयुक्त वर्णनों ने प्रजा को सन्तुष्ट किया और तब प्रजा ने पुष को राजपद देने में अपनी अनुमति दी थी। इस प्रकार पुष राजा बनाया गया।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन राजा की नियुक्ति के लिए प्रजा की अनुमति सेवा अनिवार्य थी। उस काल का यह सिद्धान्त जनतन्त्रवाद का महान वैधानिक स्तर माना जाएगा।

(ग) राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर प्रजा द्वारा निर्देष्टव्यः—राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर प्रजा के नियंत्रण रखने के लिए उस काल में सब से महत्वपूर्ण साधन इन

अधिकारियों एवं कर्मचारियों के द्वारा किए गए कार्यों की निवेचना करना और उसे स्पष्टीकरण माँगने का प्रयत्न था। प्रजा के प्रति-निधि सभाओं तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं में आकर साउन सम्बन्धी विषयों पर विवेकमय वाद-विवाद करके राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों द्वारा किए गए प्रत्येक अधिकार में किए जानेवाले कार्यों की निवेचना करते थे और दोष-पूर्ण कार्यों के लिए उनके कर्तव्यों की प्रतीति स्वरूप उनसे स्पष्टीकरण माँगते थे। इस प्रणाली के प्रयत्न से राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर इन सार्वजनिक सभाओं के द्वारा प्रजा का नियंत्रण रहता । शिक्षा परिषद यह होता था कि राज्य के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को स्वेच्छापूर्वक कार्य करने के समर्थ नही मिलने वाले थे। यहाँ तक कि राजा भी प्रजा की इन समीक्षाओं से मुक्त न था। उसे प्रत्येक कार्य करते समय बतवन्त सचेत एवं सचेष्ट रहना पड़ता था।

पहले सभा के प्रभाव में दर्शन किया जा चुका है । राज्य की यह समारोह जनतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर संघटित की जा रही थी। संका के राजा रावण की सभा का संगठन ह्युटुम्ब के प्रतिनिधित्व के आधार पर होता था। राजा दशरथ की सभा में राज्य की प्रजा के विभिन्न वर्गों एवं हिंदुओं के प्रतिनिधि सदस्यों का अधिकार प्राप्त किए हुए थे। महाभारत में जिस सभा का वर्णन है वह भी इन्हीं सिद्धान्तों पर संघटित की गई थी।

इस प्रकार प्रजा अपने प्रतिनिधियों को भेजकर इन सभाओं द्वारा राज्य के प्रत्येक अधिकारी या कर्मचारी पर अपना नियंत्रण रखती थी। प्रजा का राज्य के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को अपने नियंत्रण में रखने की यह प्रथा जनतन्त्रवाद का एक महत्वपूर्ण वैधानिक स्वरूप था।

(घ) निर्वाचन-प्रथा:—राज्य में निर्वाचन प्रथा का प्रचलित होना जनतन्त्रात्मक राज्य का एक सबल संकेत माना जाता है। रामायण और महाभारत के पन्द्रहवाँ कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जो इस सिद्धान्त के पक्षक हैं कि उस काल के हिन्दू राज्यों में निर्वाचन-प्रणाली प्रचलित थी। यह सम्भव है कि रामायण और महाभारत कालीन निर्वाचन प्रणाली और वास्तविक जनतन्त्रात्मक राज्यों को निर्वाचन-प्रणाली में समानता न हो; परन्तु ऐसा मानना उचित ही होगा कि उस युग

में निर्वाचन-प्रणाली का प्रभाव लिया जाता था। उस काल के गण-राज्यों में राज्य के अध्यक्ष की नियुक्ति राजनीतिक दलसंघी के आधार पर निर्वाचन द्वारा होती थी। महाभारत के शान्तिपर्व में इस सम्बन्ध में कुछ संकेत प्राप्त हुए हैं। गणराज्यों के संवासान संबंधी विषय पर नारद और कृष्ण का जो सम्वाद महाभारत के शान्ति पर्व में उपलब्ध है उसके आधार पर विदित होता है कि अन्धक-वृष्णि संघ राज्य के विभिन्न राजनीतिक दलों में राज्य के अध्यक्ष पद के लिए सदा संघर्ष होता था। यह संघर्ष अपनी गरम सीमा तक पहुँच चुका था। इस संघर्ष के दोषों का परिचय कृष्ण ने नारद की श्रोते हुए उनसे इन दोषों से बचने का उपाय पूछा था।

रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की सभाओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है जिसके ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से विदित होता है कि यह सभाएँ प्रजा के प्रतिनिधियों की सभाएँ थीं, जिनमें प्रजा के प्रतिनिधियों को तत्त्वस्था का अधिकार प्राप्त था। रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथ इस बात की पुष्टि करते हैं कि इन सभाओं में प्रजा के विभिन्न वर्गों एवं श्रुतों के प्रतिनिधि सदस्यता का अधिकार प्राप्त किए हुए थे। ऐसा विचार करना कि इन सभाओं में राज्य की समस्त जनता भाकर बैठती होगी नितास्त पागलपन की बात होगी। इसलिए प्रजा को अपने प्रतिनिधियों को इन सभाओं में लेजने के निमत करने के हेतु किसी न किसी प्रणाली को अपनाना ही पड़ता होगा। इस प्रणाली को निर्वाचन-प्रणाली कहना ही उचित होगा।

इसलिए रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में किसी न किसी रूप में निर्वाचन-प्रणाली का प्रचलित होना उस काल में जनतन्त्रवाद का एक सफल वैधानिक तत्व मानना ही उचित होगा।

(क) जनमतः—किसी राज्य की सरकार को इस बात के लिए दिवश करने के हेतु कि वह प्रजा की इच्छाओं के अनुसार उन पर शासन करे प्रजा में सबल जनमत-निर्माण की आवश्यकता पड़ती है। राज्य में कोई भी दूसरी ऐसी राजनीतिक शक्ति नहीं होती जो ऐसे जनमत के विरोध करने का साहस कर सके। इसलिए राज्य में सबल जनमत का होना जनतन्त्रवाद का एक सफल तत्व समझा जाता है।

रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में जनतन्त्रवाद का यह तत्व किमान वा और उस युग में यह तत्व इतना सबल था कि इसके

द्वारा राजाओं की निरंकुश एवं स्वेच्छाचार सम्बन्धी योजनाओं पर पूर्ण नियंत्रण कर दिया गया था। रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में इस प्रकार के घुस प्रयास प्राप्त हैं जो इस बात की सिद्ध करते हैं कि उस युग के कुछ राजाओं ने कतिपय योजनाओं को कार्यक्रम में परिणत करने का प्रयास किया, परन्तु उनका सारा प्रयास इसीलिए विफल हुआ कि उस काल का जनमत हम योजनाओं का विरोधी था। राम जैसे लोकप्रिय राजा भी जनमत की उपेक्षा करने का साहस न कर सके। पाण्डवों की हानि पहुँचाने की कामना करता हुआ दुराष्ट्र जैसा प्रभावशाली व्यक्ति जनमत से मजबूत होकर अपनी इस योजना के रहस्य को अपने तक ही सीमित रखने की इच्छा प्रकट करता है। उसे इस बात का भय था कि इस रहस्य के प्रकट हो जाने से जनता उसका सर्वस्व नाश कर देगी। दुर्वोधन जैसा निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी राजा मन्वर्षराज चित्रसेन से पराजित होकर बन्दी बनाया गया था, जिसे अर्जुन ने चित्रसेन के बन्धन से मुक्त किया था। वह जनमत के भय से अपनी राजधानी को जाना नहीं चाहता था और उसी स्थल पर घनेघन द्वारा अपने प्राण गँवा देने पर तुल्य हुआ था।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में प्रजासत्तवात्मक जनमत विषयक तत्त्व विद्यमान था।

जनतन्त्रवाद के संस्था सम्बन्धी स्वरूप

जनतन्त्रात्मक राज्य की वास्तविक परीक्षा उसकी संस्थाओं और उसके जनतन्त्रात्मक सिद्धांतों के आधार पर संभावित होने में होती है। रामायण और महाभारत काल में अनेकों ऐसी संस्थाएँ थीं जो क्रियात्मक रूप से कार्य-संवादन करती हुई राज्य में प्रजासत्तवात्मक के हितों की रक्षा करने में सतत संलग्न थीं।

(क) राजगुरुः—रामायण एवं महाभारत काशीन हिन्दू राज्यों में राजगुरु एक संस्था का रूप धारण किये हुए था। वह संस्था जनतन्त्रात्मक सिद्धांतों के आधार पर निर्मित की गई थी और राजा पर उसका पूर्ण नियंत्रण रहता था। राजगुरु प्रमदा राजपुरुहित राज्य के विद्वत् वर्ग का प्रतिनिधि होता था जो अपने दृष्टिकोण एवं क्षुधावरण ■ लिए स्थापित प्राप्त किये हुए होता था। उसके ■ की राजपद से सम्बन्धित कर दिया गया था। वह क्षान्तिपूर्वक राजा के दैनिक कार्यों को ध्यानपूर्वक देखा करता था। वह राजा की उचित

सम्मति देता था और उसे सम्मार्ग पर से चलने का प्रयत्न करता था । यदि राजा उसकी सम्मति की व्यवस्था करके स्वेच्छाचारी बनना चाहता ■ राजगुरु को यह वैधानिक अधिकार था कि वह उसे राजपथ से उद्धृत करने का प्रस्ताव प्रजा के समक्ष रखे । प्रजा राजगुरु में पूर्ण विश्वास रखती थी । महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि राजा ययाति अपनी प्रजा के विरोध को दख न सका । परन्तु उसके राजगुरु शुक्राचार्य के केवल उपदेशात्मक एक वाक्य ने प्रजा को संतुष्ट करके उनका विरोध शांत कर दिया था । शुकनीति तो इस सम्बन्ध में यहाँ तक स्पष्टता देती है कि यदि कोई राजा अन्यायपूर्ण शासन करता हुआ पाया जाए तो राजगुरु को वैध रूप से यह अधिकार प्राप्त है कि वह उस अन्यायी राजा को कान पकड़ कर राजपथ से उसी प्रकार हटाकर ले जाये कि शुक अपने उद्धृत शिष्य को कान पकड़ कर कला से बाहर कर देता है । ऐसे सबल पुरोहित या राजगुरु के सर्वेसम्भीप रहने के कारण राजा को अपने कर्तव्यों के पालन करने के लिए प्रति पक्ष अत्यन्त सचेष्ट एवं सचेत रहना पड़ता था । सासन-विधान में इस बात का भी प्रायोजन कर दिया गया था कि राज्य के प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय की जिस पर कि मंत्रि-परिषद् में विचार हो चुका है, रचनात्मक रूप देने के पूर्व राजगुरु के समक्ष उसकी सम्मति के लिए प्रस्तुत होना अनिवार्य था । इन अवसरों पर मंत्रि-परिषद् के मंत्रियों की संयुक्त एवं विद्युत् सम्मितियों को अपनी सम्मति के साथ राजा के लिए राजगुरु के समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक था । राजगुरु की अनुमति प्राप्त कर लेने के उपरान्त उक्त विषय या विषयों को राजा रत्नारमक रूप देने का आदेश देता था ।

इस प्रकार राजपुरोहित या राजगुरु जिसका पद परम्परागत या राजा की सम्मति देता था, सम्मार्ग पर से जाने का प्रयत्न करता था और उसे विधि के नियंत्रण में रखता था । इसीलिए राजपुरोहित का दृष्ट पक्ष जनसंगतवाद का एक विशेष तत्व था, जिसकी मर्यादा जन-संगतवाद के संस्था सम्बन्धी तत्वों में की जायेगी ।

(ख) मंत्रिपरिषद्—रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों में दूसरी महत्वपूर्ण संस्था मंत्रिपरिषद् थी । इस संस्था के संगठन, कर्तव्यों और कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में इस पुस्तक में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है । इस सम्बन्ध में और कुछ लिखना व्यर्थ होगा ।

रामायण और महाभारत कालीन राज्यों के शासन-विधान के अनु-सार राजा को बिना मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की पूर्ण सन्मति लिए हुए शासन-सम्बन्धी किसी भी योजना को कार्यान्वित करने का अधिकार प्राप्त न था। शासन सम्बन्धी किसी भी नए कार्य को रचनात्मक रूप देने की भांजा वेने ॥ पूर्ण उसके सिधे मंत्रियों का परामर्श संगत अनिवार्य था। दूसरी ओर यह प्रणाली भी प्रचलित थी कि राजा की सभाओं में इन मंत्रियों की (उनके द्वारा राजा को दिए गये परामर्श ॥ लिए) निरन्तर विवेचना हुआ करता थी। इसलिये उन्हें हर समय राजा को उचित परामर्श देने के लिए जिससे कि प्रजा का अधिक से अधिक हित हो सके समेत एवं सचेत रहना पड़ता था। उनकी नियुक्ति के लिए यह एक आवश्यक प्रतिबन्ध था कि उनमें प्रजा का विद्वान् भाव रहे। इसलिये एक ओर तो उन्हें प्रजा के विद्वान् भाव रहने का प्रयत्न करना पड़ता था और दूसरी ओर उनके द्वारा दी हुई सल्लाह का मानना राजा के लिए अनिवार्य था। उनके द्वारा शासन सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर पूर्ण विवेचन किया जाता था और इस प्रकार उन विषयों के गुण-दोषों का प्रती भर्ति प्रदर्शन कर दिया जाता था। इस प्रकार राजा अपने मंत्रियों द्वारा दी गई सल्लाह को ग्रहण करने और उसके अनुसार कार्य करने ॥ लिए विवश था। मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति भी जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर होती थी।

इसलिये यह कहना उचित होगा ॥ रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों में शासन-कार्य राजा द्वारा न होकर मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों द्वारा होता था और इस मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर होती थी।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में मंत्रि-परिषद् एक ऐसी संस्था थी जिसकी गणना जनतन्त्रवाद के संस्था सम्बन्धी तत्वों में की जाएगी।

(ग) सभा—रामायण और महाभारत कालीन सभा मंत्रिपरिषद् की अपेक्षा कहीं बड़ी संस्था थी। सभा का संगठन जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर होता था, यतः सभा ॥ जनतन्त्रवाद के सभा सम्बन्धी तत्वों की श्रेणी में रखता उचित होगा। यह संस्था राजा और मंत्रिपरिषद् दोनों पर अपना महान् प्रभाव रखती हुई दोनों को अपने नियंत्रण में रखती थी। प्रजा के कल्याण के लिए विवि-

निर्माण करता इस सभा के अधिकार-क्षेत्र से सर्वथा बाहर था । इसलिए इस सभा की तुलना धातुनिक मारा-सभाओं से इस रूप में नहीं की जा सकती क्योंकि धातुनिक मारा-सभाओं का मुख्य कर्तव्य प्रजा के कल्याण के लिए विधि निर्माण करना है । परन्तु रामायण एवं महाभारत कालीन सभा का निर्माण न्याय वितरण करने एवं शासन सम्बन्धी विषयों पर बाद-विवाद के द्वारा निर्णय देने के हेतु किया गया था । इस क्षेत्र में राजा और मंत्रिपरिषद् के कार्यों की विवेचना करने का पूर्ण व्यवसर मिलता था । उन्हें प्रजा की विस्वासपात्र रहने के लिए सभा के सभासदों का आश्रय लेना पड़ता था जिससे राजा एवं मंत्रिपरिषद् के मंत्रिगण अपने पद त्यागने के लिए विवश होते थे । रामायण की सभा का वर्णन पढ़ने से इस बात का बोध होता है कि इस सभा में राजा और मंत्रियों ■ कार्यों की विवेचना स्वतंत्र रूप से होती थी । कुछ सभा में भी इसी सिद्धांत ■ पासन किए जाने का प्रमाण मिलता है । धृतराष्ट्र की सभा के सभासद राजा और उसके मंत्रियों के कार्यों की विवेचना करते हुए बणित हैं । सभा में राजा और मंत्रि-परिषद् के मंत्रियों ■ प्रति ही ऐसा व्यवहार न किया जाता था परन्तु सभा के सभासदों पर भी यही नियम लागू था ।

इसलिए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस जनतन्त्रात्मक संस्था ने राजा, मंत्रिपरिषद् ■ सदस्यों और सभा के सभासदों के स्वेच्छाचारपूर्ण कार्यों ■ प्रतिबन्ध लगाने एवं उन्हें नियंत्रण में रखने के कार्य में बड़ा सहयोग दिया है । इस प्रकार यह संस्था जनतन्त्र-वाद के संस्था सम्बन्धी तत्त्वों में से एक सफल तत्व मानी जायगी ।

(घ) **प्राज्ञाण परिषद्**—उपरोक्त संस्थाओं के प्रतिरिक्त राज्य में विद्वान् ब्राह्मणों की परिषद् भी थी । इस परिषद् ■ सदस्यों का राजा से स्वच्छन्दतापूर्वक सम्पर्क रहता था । वह राज्य की राजधानी में स्थायीरूप से निवास करते थे । वह अपने पवित्र धातुरण एवं विद्या के द्वारा राजा की सहायता करते थे, उसे अपनी सम्मति देते थे और इस प्रकार उसको नियंत्रण में रखते थे । वह साक्षर और ज्ञातित्व के क्षेत्र में सम्पूर्ण स्थिर करते थे । राज्य में जनमत का निर्माण करने में वह सहायक सिद्ध होते थे । वह समाज के नेता होते थे और सरकार के सम्मतिदाता थे । जब कभी राज्य में प्रजा के विषय

कोई कार्य सरकार द्वारा होता था यह ब्राह्मण वर्ग प्रजा का नेता बनकर उसका विरोध करता था और सरकार को उस कार्य वा योजना को सदा के लिए स्थगित कर देने ■ लिए विवश कर देता था । रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथ ऐसी ब्राह्मण संस्था की स्थिति के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाण देते हैं ।

इसलिए यह ब्राह्मण परिवर्द्ध भी जनतन्त्रवाद के संस्था सम्बन्धी तत्वों में से एक प्रभावशाली तत्व था ।

(क) स्थानीय संस्थाएँ—रामायण और महाभारत प्राचीन राज्य में नैगम, गण, श्रेणी सच, और, ज्ञानपथ आदि कतिपय ऐसी स्थानीय संस्थाएँ थीं जिनके द्वारा राज्य में जनतन्त्रवाद की भावना की बर्ती-भौति रक्षा होती थी । इन संस्थाओं का संघठन जनतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के आधार पर हुआ था । इन संस्थाओं में राजा के द्वारा चुने हुए उन्हीं में से प्रतिनिधि होते थे । एक और तो वह अपने-अपने क्षेत्र की जनता की अनुज्ञासन में रहते थे और दूसरी ओर उनके सदस्यों की केन्द्रीय सभा एवं मंत्रिपरिषद् में स्थान पाते थे । इस प्रकार वह राज्य की सभा और मंत्रिपरिषद् के सदस्यों पर पूर्ण अनुज्ञासन रखते थे ।

राजा की नियुक्ति के समय यह संस्थाएँ बड़े बहुत्व की संस्थाएँ सम्झी जाती थीं । राज्य की प्रत्येक बहुत्वपूर्ण घटना के अवसर पर इन संस्थाओं के मुख्य सदस्य एवं अध्यक्ष राजा के समीप व्यवस्था सभा में बैठे हुए राज्य के सासन-कार्यों में भाग लेते हुए पाए जाते थे । राजा वसुदेव की मृत्यु के उपरान्त श्रेणीभुक्त्व, गणवत्सम, पौरभुक्त्व आदि राजसभा में अयोध्या में भावी राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध ■ प्रस्ताव पर वाद-विवाद करते हुए दिखाए गए हैं । ■ फिर विष्णुकूट में उपस्थित हैं जहाँ यह राम की अयोध्या पुनः ले जाने के लिए वाद-विवाद करते हुए दिखाए गए हैं । वह उस समय भी रंगमंच पर आ जाते हैं, जब राम चौदह वर्ष के वनवास की अवधि समाप्त करके अयोध्या आते हैं । वह इस अवसर पर राम के राज्याभिषेक के कृत्यों में वल-चित्त होकर भाग लेते हुए दिखाए गए हैं । इन संस्थाओं के सम्बन्ध में ऐसा ही बहुत महाभारत में मिलता है ।

जैसा कि ग्रामश्री शब्द स्वयं प्रकट करता है कि वह गाँव का प्रतिनिधि था । राम के राज्याभिषेक के अवसर पर वह भी उपस्थित

दिखाया गया है। राक्षस की मृत्यु के अवसर पर वेनों ने राम की प्रशंसा करते हुए उनको रामायणी की समानता दी है। इस घटना से विक्षिप्त होता है कि रामायणी धांध का महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था।

इस प्रकार यह विदित होता है कि यह स्थानीय संस्थाएँ सभा और मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की जननी होने के नाते राज्य की शासन संबंधी समस्याओं पर अपना पूर्ण प्रभाव रखती थीं और अपने भेजे हुए प्रतिनिधियों के द्वारा सभा, मंत्रिपरिषद् और राजा पर अपना कुछ न कुछ अधिकार प्रकट रखती थीं।

इसलिए यह निर्विवाद है कि राजगुरु, मंत्रिपरिषद्, सभा, ब्राह्मण परिषद् और स्थानीय संस्थाएँ रामायणी और महाभारत कालीन राज्यों में जनतंत्रवाद के संस्था सम्बन्धी मुख्य तत्त्व थे। जिनके द्वारा उस युग में अनर्तशासनक राज्य के निर्माण और उसके विकास में बड़ी सहायता मिली है।

जनतंत्रवाद के शासन सम्बन्धी तत्व

रामायणी और महाभारत कालीन सरकारों की शासन-प्रणालि का विवेचनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त पाठक इस सिद्धान्त पर पहुँचता है कि इन राज्यों के क्रियात्मक शासन-क्षेत्र में कतिपय ऐसे जनतंत्रवाद के तत्वों को अपनाया गया था जिनकी गणना जनतंत्रवाद के शासन सम्बन्धी तत्वों में की जायगी। यह तत्व परिपाटियों वा प्रथाओं के रूप में प्रचलित थे, परन्तु उन राज्यों की सरकारों के घंग बन गए थे। इन तत्वों में से एक तत्व शासन-क्षेत्र में विभजन-प्रथा की योजना थी।

(क) विभाग-प्रथा:—रामायणी और महाभारत कालीन राज्यों की शासन-प्रणालि की एक मुख्य प्रणालि यह थी कि इन राज्यों में शासन सम्बन्धी विषयों ■ अनुसार विभिन्न विभागों की योजना की गई थी। रामायणी और महाभारत दोनों में इन विभागों के वर्णन को प्रभाव्य कहते हैं। रामायणी में इस बात का उल्लेख है कि रावण शासि और दशरथ ने अपने-अपने राज्य के शासन की शासन संबंधी विषयों के अनुसार विभिन्न विभागों में विभक्त किया था। प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष अपने विभाग का पूर्ण उत्तरदायी समझा जाता था। उसके अधीन उस विभाग ■ अन्य कर्मचारी रहते थे।

शासन-विषयों के अनुसार समस्त शासन को विभागों में विभक्त करने की प्रथा अनर्तशासनक राज्य की स्थापना और उसके विकास में

बड़ी सहायक सिद्ध हुई है। इस प्रथा ने शासनाधिकार एक व्यक्ति में न रखकर विभिन्न व्यक्तियों में वितरण कर देने के प्रचसन की स्थापना कर के शासनसत्ता एक व्यक्ति के पास रखने के स्थान में कई व्यक्तियों में वितरित कर दी। इसका फल यह हुआ कि जो शासनाधिकार एक राजा में ही निहित था उसका वितरण कई व्यक्तियों में हो गया और इन व्यक्तियों को प्रजा प्रत्यक्ष व. अप्रत्यक्ष विधि से अपने विवेरण में रखती थी।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में विभाग प्रथा जनतन्त्रवाद का शासन सम्बन्धी एक महान् तरंग था।

(ख) शासन क्षेत्र में जनतन्त्रात्मक प्रणाली:—इस बात का पीछे जस्तैज किया जा चुका है कि रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की समस्त संस्थाओं के कार्य-क्षेत्र में जनतन्त्रात्मक प्रणाली का अनुसरण किया जाता था। मंत्रिपरिषद् में प्रत्येक विषय पर स्वतन्त्र वाद-विवाद किया जाता था। सर्वप्रथम राजा और उस मंत्री के बीच उक्त विषय पर वाद-विवाद होता था जिस विषय से सम्बन्ध था। यदि उक्त वाद-विवाद के द्वारा उक्त प्रस्ताव सफल योजना को विचारणीय समझ गया तो समस्त मंत्रिपरिषद् के समस्त प्रस्तुत किया जाता था। यदि बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया तो राजा के हस्ताक्षर के लिए प्रस्तुत किया जाता था जो उस पर हस्ताक्षर कर देता था और तब वह कार्यान्वित किया जाता था।

यदि उस प्रस्ताव की योजना पर मतभेद होता तो महाभारत के अनुसार राजगुरु की कारण सेनी पड़ती थी।

सभा में भी शासन सम्बन्धी विषय प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत किए जाते थे जिनका नियमानुसार अनुमोदन होता था। सभा के प्रत्येक सदस्य को उक्त प्रस्ताव पर अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने का पूर्ण अधिकार था। अन्त में प्रस्ताव सभा के समस्त स्वीकृति के लिए रखा जाता था। यदि सभा का बहुमत प्रस्ताव के पक्ष में होता तो वह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ समझा जाता था।

इस प्रकार रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों के शासन-क्षेत्र में जनतन्त्रात्मक प्रणाली से काम लिया जाता था। शासन सम्बन्धी विषयों का प्रस्ताव के रूप में सभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता, उसका अनुमोदन होता, उस पर स्वतन्त्र वाद-विवाद होता और

सहमत से उसको स्वीकार व अस्वीकार करना आदि ऐसी प्रणाली थी जिसमें जनतन्त्रात्मक राज्य के प्रधान तत्वों विद्यमान थे। अतः शासन-क्षेत्र में इस प्रकार की जनतन्त्रात्मक प्रणाली का होना जन-संनय का एक प्रधान तत्व था।

(ग) शासन सम्बन्धी संस्थाओं के भंग करने का निषेध—ऊपर वर्णित जनतन्त्रवाद के तत्वों के अतिरिक्त अभी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व की विवेचना करनी अवश्य रह गयी है। शासनाधिकार करने की दृष्टि से राजतन्त्रात्मक राज्यों में राजा की स्थिति ठीक कछुए की भाँति होती है। जिस प्रकार कछुआ जब कभी अपने अंगों को भन्दर सिझोड़ता चाहता है अथवा उन्हें बाहर निकालता चाहता है अपनी इच्छानुसार बिना किसी विरोध प्रयास के कर लेता है। वही सिद्धान्त राजतन्त्रात्मक राज्यों में सम्राटों पर चरितार्थ होता है। ऐसे राज्यों में राज्य की सम्पूर्ण सत्ता राजा में ही मानी जाती है। उसके राज्य की समस्त संस्थाएँ उसकी निर्माण की हुई समझी जाती हैं। वह उन्हें भीति रखने एवं कार्य संचालन करने का अधिकार दे सकता है। परन्तु अब वह यह अनुभव करने लगता है कि उसके राज्य की प्रभु संस्था का भंग हो जाना चाहिए तो उसकी इस इच्छा को संतुष्ट करने के लिए उसका एक शब्द ही पर्याप्त होगा। ऐसी प्रवृत्ति में वह स्वयं उस संस्था के शासनाधिकार को धारण कर लेगा और उसका शब्द विधि का कार्य करेगा। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को भी यह बतकर इस नियम का पालन करना पड़ेगा। मध्यकालीन भारत और योरोप दोनों देशों में ऐसे उदाहरणों का प्रभाव नहीं है।

प्राचीन भारत के रामायण और महाभारत कालीन राजतन्त्रात्मक राज्य के संस्थापकों के लिए ऐसा सिद्धान्त सर्वथा परतन्त्रीय था। हिंदू राजा की कभी भी ऐसा अधिकार नहीं प्राप्त था। उसे अपने राज्य में मंत्रिपरिषद्, सभा, नैगम, पौर, जनेपथ आदि संस्थाओं को भंग करने का लेखमात्र ही अधिकार न था। उसका यह एक मुख्य कर्तव्य था कि वह इस बात की समुचित व्यवस्था दे कि इस राज्य में केन्द्रीय प्रांतीय एवं स्थानीय संस्थाओं के संगठन एवं उनका कार्य-संचालन विधिवत हो रहा रहे। राजा को विधिवत संगठित मंत्रिपरिषद् रखनी पड़ती थी, जिसके मंत्रियों से संचालन लेना और उस मंत्रणा के अनुसार कार्य करना उसके लिए अनिवार्य था। रामायण और महा-

भारत दोनों बंध इस विद्वान्त पर एकमत होकर इस बात पर बड़ा महत्व देते हैं ■ राजा को अपने भविष्य की संरक्षा अवश्य लेनी चाहिए और अपनी निजी सम्पत्ति के आधार पर ही राज्य में शासन सम्बन्धी किसी प्रकार का भी कार्य नहीं करना चाहिए । राजा के लिए सभा भी इतनी ही महत्वपूर्ण संस्था थी । उसे मंग करना राजा की शक्ति के बाहर था । यह नियम राज्य की अन्ध शासन सम्बन्धी संस्थाओं के सम्बंध में भी राजा पर लागू था ।

इसलिए रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्य में राजा को शासन सम्बन्धी संस्थाओं जैसे मन्त्रि-परिवर्त, सभा, नैयम, और, ज्ञानपद आदि ■ मंग करने के अधिकार से संबंधित कर दिया गया था । इस विधि से रामायण और महाभारत कालीन राजतन्त्रात्मक राज्यों में राजा से राज्य की शासन सम्बन्धी संस्थाओं के मंग करने के अधिकार को छीन कर जनतन्त्रवाद के एक बड़े महत्वपूर्ण शासन सम्बन्धी तत्त्व की स्थापना की गई थी ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में जनतन्त्रवाद के सबसे उत्तम विकसित थे और यह जनतन्त्रवाद के मुख्य तत्त्व थे जिनको वैध, वैधानिक, संस्था सम्बन्धी और शासन सम्बन्धी जनतन्त्रवाद के तत्त्वों में परिगणित किया गया है । रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्य के ■ तत्त्वों ने राज्य-शासन के लगभग श्रेष्ठ क्षेत्रों को प्राप्ताधिकार कर लिया था । इसलिए इन्होंने उस युग में जनतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना और उसके विकास में बड़ा सहयोग दिया है । मनुष्य ■ राजनीतिक जीवन के इतिहास में वास्तविक और व्यास की यह एक बड़ी देन समझी जायेगी ।

पुस्तक-सूची

(क) वैदिक साहित्य

१ ऋग्वेद संहिता मूल—सातवलेकर श्रीधर कार्यालय, सतारा ।

२ ऋग्वेद संहिता मूल—सायणाचार्य भाष्य एक. योसमूजर द्वारा संपादित त्रिविध संस्करण ।

३ ऋग्वेद संहिता मूल—अंग्रेजी अनुवाद आर. टी. एक. प्रिफिब, बनारस ।

४ ऋग्वेद संहिता मूल—हिन्दी अनुवाद जयदेव शर्मा विद्यालंकार अजमेर ।

५ यजुर्वेद संहिता सुक्ल मूल—सातवलेकर श्रीधर कार्यालय, सतारा ।

६ यजुर्वेद संहिता सुक्ल मूल—महीधर भाष्य मेजर महोदय द्वारा संपादित, लंदन ।

७ यजुर्वेद संहिता सुक्ल मूल—अंग्रेजी अनुवाद आर० टी० एक० प्रिफिब, बनारस ।

८ यजुर्वेद संहिता सुक्ल मूल—हिन्दी अनुवाद जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर ।

९ सामवेद संहिता मूल—सातवलेकर श्रीधर कार्यालय, सतारा ।

१० सामवेद संहिता मूल—अंग्रेजी अनुवाद आर० टी० एक० प्रिफिब, बनारस ।

११ सामवेद संहिता मूल—हिन्दी अनुवाद जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर ।

१२ अथर्ववेद संहिता—सातवलेकर श्रीधर कार्यालय, सतारा ।

१३ अथर्ववेद संहिता—सायणाचार्य भाष्य, बम्बई ।

१४ अथर्ववेद संहिता—हिन्दी अनुवाद जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर ।

११ ऐतरेय ब्राह्मण—सायणाचार्ये माध्य शानन्दाधम मुद्रणालय, पूना ।

१६ तैत्तिरीय अरण्यक—सायणाचार्ये भाष्य शानन्दाधम मुद्रणालय, पूना ।

१७ छतपत्र ब्राह्मण—सायणाचार्ये माध्य रामस ऐश्वर्यादिक सोसाइटी, कलकत्ता ।

१८ बृहदारण्यक उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर ।

१९ छान्दोग्य उपनिषद्—नित्यार्जव (मिताक्षरी टीका सहित) शानन्दाधम मुद्रणालय, पूना ।

२० कठोपनिषद्—शानन्दाधम मुद्रणालय, पूना ।

{ ख } सूत्र ग्रंथ (श्रीत सूत्र)

२१ सांख्यायन श्रीत सूत्र—रामस ऐश्वर्यादिक सोसाइटी, कलकत्ता ।

२२ बौद्धायन श्रीत सूत्र—रामस ऐश्वर्यादिक सोसाइटी, कलकत्ता ।

२३ व्यासस्मृत्यौ श्रीत सूत्र—

गृह-सूत्र

२४ मानव गृह-सूत्र—गायकवाड, ओरियन्टल सिरीज, बंगौर ।

२५ पारसकर गृह-सूत्र—वैकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई ।

२६ शास्त्रालयन गृह-सूत्र—ट्रिबेन्टरम् संस्कृत सिरीज, ट्रिबेन्टरम् ।

२७ बोधिल गृह-सूत्र—बौद्धभा संस्कृत सिरीज, बनारस ।

धर्मसूत्र

२८ गौतम धर्मशास्त्र—शानन्दाधम मुद्रणालय, पूना ।

२९ बौद्धायन धर्मशास्त्र—ई. हुसल, लिपजिक ।

३० व्यासस्मृत्यौ धर्मसूत्र—बौद्धभा संस्कृत सिरीज, बनारस ।

{ ग } रामायण और महाभारत

३१ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—(गोविन्दराज माध्य सहित) टी. आर. कृष्णाचार्य तथा टी. आर. व्यासाचार्ये ।

३२ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—(गोविन्दराज टीका सहित) श्रीनिवास सास्त्री ।

३३ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—(हिन्दी टीका सहित)

साहित्याचार्य पं० बन्धुलाल शस्त्री, सस्ती साहित्य पुस्तकपाला कार्यालय, बनारस ।

३४ एन. अपरीच टु दि रामायण—एच. सी. गूह, बनारस ।

३५ रामायण पालिटी—पी. सी. धर्मा, बनारस ।

३६ महाभारत—पी. पी. एस. शास्त्री, बनारस ।

३७ श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीमन् (मीलकण्ड भाष्य सहित) बिन्हास मठालय, पूना ।

३८ श्रीमद्भगवद्गीता—अंग्रेजी अनुवाद पी. सी. रे., कलकत्ता ।

३९ श्रीमद्भगवद्गीता—हिन्दी अनुवाद सहित (यादि पूर्व से शालि पूर्व तक) गंगाप्रसाद शास्त्री, महाभारत प्रकाशक बंगल, दिल्ली ।

४० इषिक माइवाजी—हाफकिन्स, बम्बई ।

४१ रिजेशन आफ इन्डियन इषिक टु बाइबल लिटरेचर—वी. सी. दीक्षित ।

४२ इषिक माइवाजी एन्ड बीजन्स आफ इन्डिया—पी० बी० लाल, लन्दन ।

४३ इषिक इन्डिया—सी. बी. रैय ।

४४ रिजेशन आफ दी रामायण—सी. पी. रैय ।

४५ दि इस्टोरी आफ दि रामायण रि टोल्ड इन ए सिम्पल स्टोरी फॉर्म—माधवाचार्य ।

४६ बृहद वेववाबाद—ए. ए. मेकडाल्ड १९०४ ।

(ध) धर्मशास्त्र

४७ कौटलीय धर्मशास्त्र—धाम शास्त्री द्वारा संपादित अंग्रेजी अनुवाद सहित द्वितीय संस्करण ।

४८ कौटलीय धर्मशास्त्र—हिन्दी अनुवाद सहित पं० गंगाप्रसाद शास्त्री महाभारत कार्यालय, दिल्ली ।

(ञ) धर्मशास्त्र

४९ अनुस्मृति—अन्वर्थ मुस्ताबली सहित, कुम्भूक भट्ट संस्कृत सिटीज आफिस, बनारस ।

५० याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र—वेसर द्वारा संपादित, बर्लिन ।

५१ मिताक्षरा—एच. सी. बिद्यारथ्य द्वारा अनुवादित, इलाहाबाद ।

५२ धर्मशास्त्र संग्रह—पं० जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता ।

(ख) पुराण

५३ श्रीमद्भागवतपुराण—गीता प्रेस, गोरखपुर ।

५४ विष्णुपुराण—गीता प्रेस, गोरखपुर ।

अग्निपुराण—संभारज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, मम्बई ।

५५ वायुपुराण—राजेश्वरदास मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता ।

(छ) नीतिशास्त्र

५७ कामन्दकीय नीति शास्त्र—गणपति शास्त्री, टिबेन्द्रराम ।

५८ राजनीति—हिन्दी अनुवाद सहित पं० गंगाप्रसाद शास्त्री हिन्दू जगत कार्यालय शामली, मुजफ्फरनगर ।

५९ बीरविजोदय राजनीति प्रकाश—मिश्र मिश्र, बनारस ।

(ज) अन्य ग्रन्थ

६० वी केम्पिज हिस्ट्री भाव इन्डिया प्रथम भाग—ए. जे. रेवसन ।

६१ हिस्ट्री आफ सिबीसिजेंशन इन एन्डो इन्डिया—प्रो० सी. एच. सन्दन ।

६२ वि भरसी हिस्ट्री आफ इन्डिया—बकुर्न संस्करण सी. ए. स्मिथ ।

६३ सन मस्वेक्ट्स आफ इन्डियन ऐन्सिक्लपेडिया—के. बी. रमंगप्तामी भयंगर ।

६४ हिन्दू पोलिटिकल मियोरीज—बंदोपाध्याय ।

६५ पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन इन्डिया—बी. बनर्जी ।

६६ अर्थवेदिक क्लब—ए. सी. दास ।

६७ आर्थवेदिक इन्डिया—ए. सी. दास ।

६८ सेवर्त्स फान ऐन्सिक्लपेडिया हिस्ट्री आफ इन्डिया—डी. प्रो० भंडारकर ।

६९ इन्डोस्टरन आफ दि इन्डियन पब्लिटी—नाथ शास्त्री ।

७० पुरेनिक इन्डोस्टरन आफ काली ऐज—एफ. पारकिटन ।

७१ ऐन्सिक्लपेडिया इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन—एफ. पारकिटन ।

७२ हिन्दू एडमिनिस्ट्रेशन इन्स्टीट्यूट्स इन एन्शियन्ट इन्डिया—
दीक्षितार ।

७३ मौर्यन पालिटी—दीक्षितार ।

७४ पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शियन्ट इन्डिया—पी. एन.
बनर्जी ।

७५ एन हिस्ट्री आफ हिन्दू पोलिटिकल बियोररीज—मू. गोवाल ।

७६ हिन्दू पोलिटी—के. पी. जयसवाल ।

७७ ऐ स्पेक्ट्रल आफ इन्डियन पोलिटी—एन. एन. सा ।

७८ स्टडीज इन इन्डियन पालिटी—एन. एन. सा ।

७९ द्राइव्स इन एन्शियन्ट इन्डिया—बी. सी. सा ।

८० ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—ए. ए. मेकडानल्ड ।

८१ इन्डियाज पास्त—ए. ए. मेकडानल्ड ।

८२ ए हिस्ट्री आफ ऐन्शियन्ट लिटरेचर—गोखमूलर ।

८३ पोलिटिकल इन्स्टीट्यूट्स एन्ड बियरीज आफ दि हिन्दूज—
बी. के. सरकार ।

८४ कारबोरेट साइफ इन ऐन्शियन्ट इन्डिया—गार. सी. मजूमदार ।

८५ दि हिन्दू पालिटी—ए. के. मजूमदार ।

८६ ए हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर इलीय संस्करण—वेवर ।

८७ बियरीज आफ बर्नमेन्ट इन ऐन्शियन्ट इन्डिया—बेनीप्रसाद ।

८८ वी स्टेट इन ऐन्शियन्ट इन्डिया—बेनीप्रसाद ।

८९ सोशल बर्नमेन्ट इन ऐन्शियन्ट इन्डिया—गार. के. मुखर्जी ।

९० हिन्दू सिविलीजेशन—गार. के. मुखर्जी ।

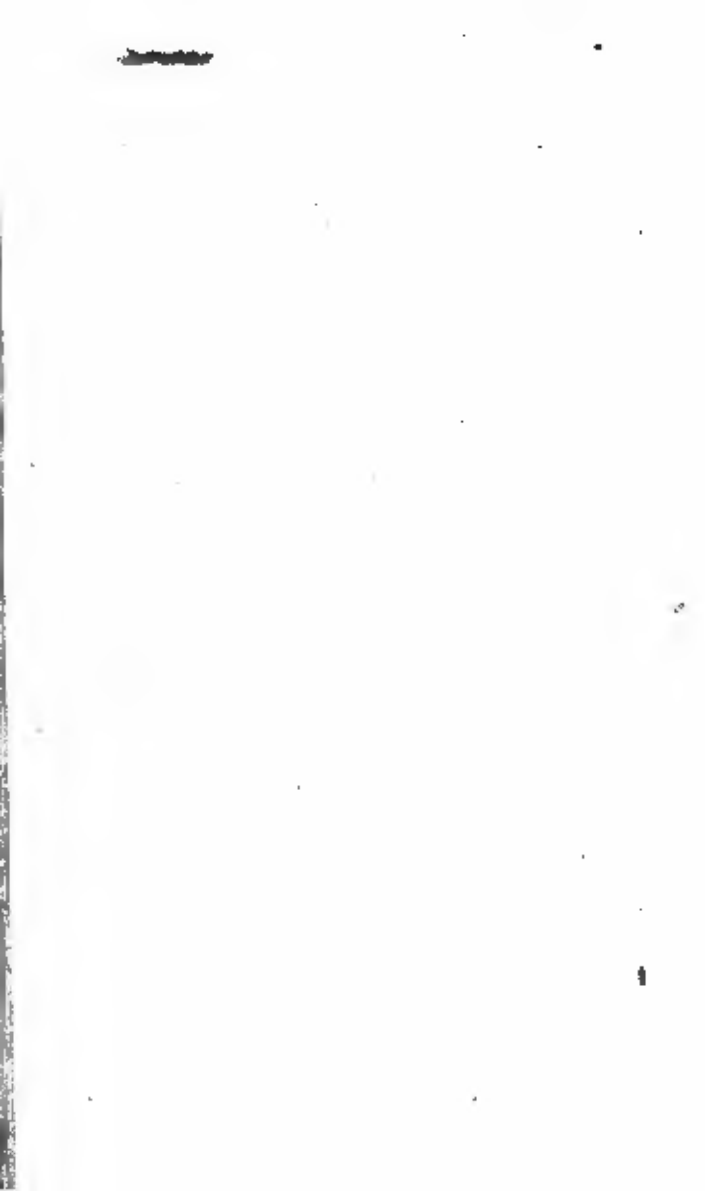
९१ अशोक—गार. के. मुखर्जी ।

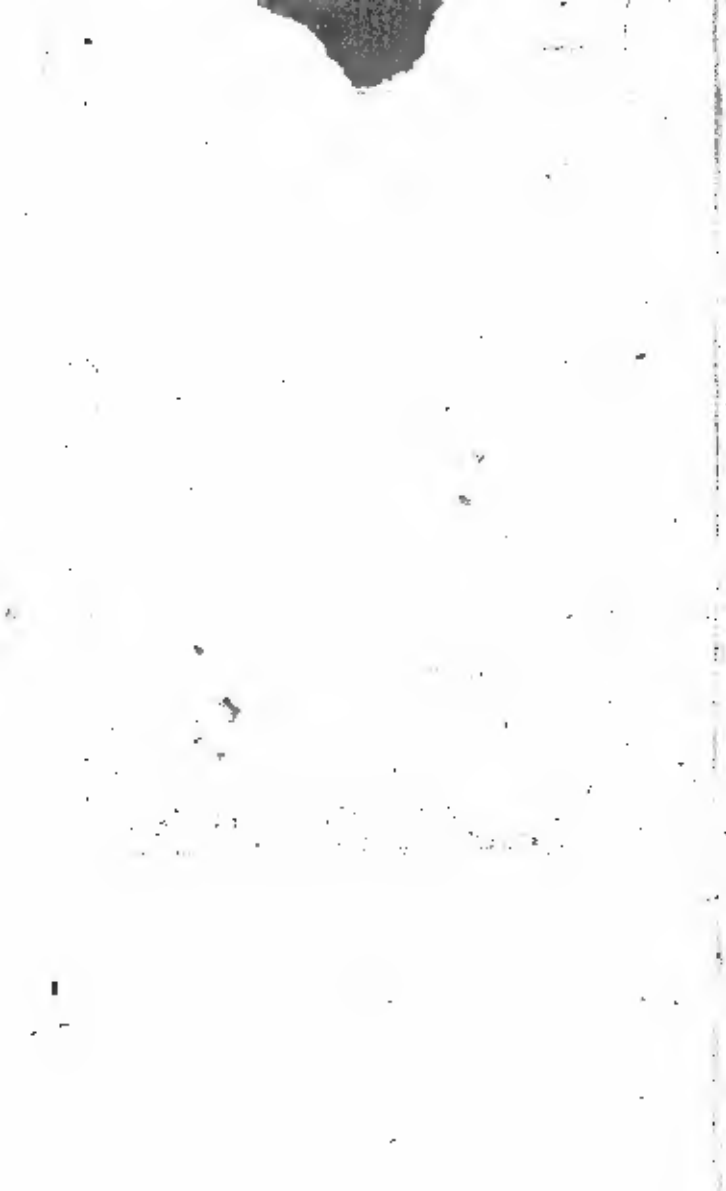
९२ अशोक के बर्म-सेल—बनार्दन भट्ट ।

~~९३ अशोक के बर्म-सेल—बनार्दन भट्ट ।~~

~~९४ अशोक के बर्म-सेल—बनार्दन भट्ट ।~~

~~९५ अशोक के बर्म-सेल—बनार्दन भट्ट ।~~





Central Archaeological Library,
NEW DELHI.

Call No. 320.10934/Pan - 7601.

Author— Pandeya, Shyamlal.

Title— Jnanatantravada.
(Ramayana aur Mahabharata
ka line). (Hindi).

Borrower No.	Date of Issue	Date of Return

"A book that is alive is not a book"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI

Please help us to keep the book
clean and moving.